सूत्र संवेदना-४

संवेदनात्मक भाववाही अर्थ सहित

वंदित्तु सूत्र

वंदित्तु सूत्र

श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र

संवेदनात्मक भाववाही अर्थ सहित

(सूत्र संवेदना-४ की संस्कारित हिन्दी आवृत्ति)

: संशोधन-संकलन एवं सविस्तार संपादन :

प्रशांतमूर्ती परम पूज्य साध्वीजी श्री **चरणश्रीजी** महाराज की सुशिष्या
परम पूज्य विदुषी साध्वीजी श्री **चन्द्राननाश्रीजी** महाराज की सुशिष्या
साध्वीजी श्री **प्रशमिताश्रीजी**

: अनुवाद :

डॉ. ज्ञान जैन

: प्रकाशक :

सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,
अहमदाबाद-३८०००१. फोन : २५३५२०७२ फेकस : २५३९२७८९

वंदित्तु सूत्र

: प्रकाशक :

सन्मार्ग प्रकाशन

जैन आराधना भवन, पाछीया की पोल, रीलिफ रोड,

अहमदाबाद-३८०००१. फोन : २५३५२०७२ फेकस : २५३९२७८९

साहित्यसेवा : ७५-०० - नकल : ३०००

प्रथम आवृत्ति : वि.सं. २०६५, ई. सन-२००९

पूणे

संपर्क स्थान - प्राप्ति स्थान

✦ **अहमदाबाद :**

- सन्मार्ग प्रकाशन कार्यालय

★ **सरलाबेन किरणभाई**
"ऋषिकिरण"
१२, प्रकृतिकुंज सोसायटी,
आंबावाडी, अहमदाबाद-१५.
फोन : (ओ) २२१६४५२१
(नि.) २६६२०९२०
(मो.) ९८२५००७२२६

★ **वाघजीभाई भूदरभाई**
स्वामिनारायण मंदिर रोड,
कालुपुर, अहमदाबाद-१
फोन : (ओ.) २२१६५३४६
(मो.) ९३२७००४३५३

★ **हिमांशुभाई राजा**
६/६५, गीतांजली बिल्डींग,
७३/७५, वालकेश्वर रोड, मुंबई-६.
(मो.) ९८२००४४८८२

★ **वाडीलाल संघवी**
५०४, धरम पेलेस, पारले पोईन्ट,
अठवालाईन्स, सुरत-३९५००७.
फोन :(ओ.) २२११०५३, (नि.) २४२५८८३
मो. ९८२५१४०२१२, ९३७६८११७०२

✦ **मुंबई :**

★ **साकेरचंदभाई मोतीचंदभाई झवेरी**
सी.व्यू एपार्टमेन्ट, ७मे माळ,
डुंगरसी रोड, वाल्केश्वर, मुंबई-६.
फोन : (नि.) २३६७६३७९
(मो.) ९८२००८११२४

★ **डॉ. ज्ञान जैन**
३७, पेरुमाल मुदली लेन,
चेन्नाई-६०० ०७९.

★ **श्री अजितभाइ रामलालजी संघवी**
टीम्बर मार्केट, पूणे.

★ **श्री खेमचन्द दयालजी**
रथाकार मंदीर, मणीलाल,
२. केस्टेलीनो रोड, पूणे.

★ **श्री प्रवीणभाइ हंसराजजी संघवी**
इशा एमरल्ड पूणे.

★ **Shri Vimalchandji**
C/o. J. Nemkunar & Co.
Kundan Manket,
D.S.Lane,
Chikpet Cross,
Bangalore-53.

जिन्होने दिया उन्ही के करकमलों में...

....आभार...

सन्मार्ग प्रकाशन द्वारा आयोजित

वंदित्तु॰ सूत्र

पुस्तक प्रकाशन का लाभ लेनेवाला परिवार

परमोपकारी सा. प्रशमिताश्रीजी म. की शिष्या

हमारी कुलदीपिका

सा. ऋजुप्रज्ञाश्रीजी के संयम जीवन

की अनुमोदनार्थे

शेठ श्री तीलोकचन्द रमेशकुमार परिवार

जोधपुर – बीजापुर (कर्नाटक)

शोलापुर

आपकी की हुई श्रुत भक्ति की हम हार्दिक अनुमोदना करते हैं।
भविष्य में भी आप ऐसी उच्चस्तर की श्रुत भक्ति कर स्व-पर के
ज्ञानावरणीय कर्मो की निर्जरा करें !
ऐसी शुभेच्छा।

सन्मार्ग प्रकाशन

अनुवादक की अनुभूति

'वंदित्तु सूत्र' या 'सूत्र संवेदना-४' ग्रंथ का अनुवाद करना मेरा सौभाग्य रहा है। **प. पू. गुरुवर्या हेमप्रभाश्रीजी** एवं उनकी अन्तेवासी शिष्या **पू. साध्वी विनीतप्रज्ञाश्रीजी** दोनों ही आज इस संसार में नहीं हैं। लेकिन ना रहते हुए भी उनकी दिव्यात्मा आज भी विद्यमान है।

गुरुवर्या हेमप्रभाश्रीजी की छत्र-छाया में पल्लवित पू. विनीतप्रज्ञाश्रीजी सौम्यता, शांत स्वभाव, प्रज्ञा संपन्नता एवं गुरु-समर्पण की अद्वितीय प्रतीक थीं। अपनी आत्मीयता से उन्होंने बहुतों को प्रभावित, परिणमित किया।

उनकी ये हार्दिक इच्छा थी कि सूत्र संवेदना ग्रंथ का हिन्दी अनुवाद किया जाए, ताकि पाठक वंदित्तु सूत्र का अर्थ, भावार्थ सही रूप से समझकर, प्रतिक्रमण की महत्ता को जीवनोपयोगी बना सकें ।

प्रशांत, गांभीर्य-युक्त **प. पू. गुरुवर्या प्रशमिताश्रीजी** का वात्सल्यपूर्ण, स्नेहयुक्त आशीर्वाद एवं प्रबुद्ध सहयोग इस अनुवाद को आगे बढ़ाने में सहायक बना। पदार्थ के सम्यग्ज्ञानपूर्वक अनुवाद करने का ये प्रयास उनके उपकार के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन का द्योतक है।

प्रत्येक शब्द, पद के यथार्थ उपयोग, विषय के व्यापक विवेचन, संतुलित प्रस्तुति में उनका अमूल्य सहयोग रहा है। आपश्री सदैव कहती रहीं कि हम सतत जागृत बने रहें ताकि यह प्रस्तुति किसी भी तरह के गुमराह का आधार न बन जाए। इस प्रयास में चेन्नई के श्री शैलेष भाई मेहता एवं मेरे लघु भ्राता श्री अशोक जैन का अमूल्य योगदान रहा है। वे धन्यवाद के पात्र हैं।

इस अनुवाद के कारण मुझे जो व्यक्तिगत लाभ हुआ वह वचनातीत है। 'वंदित्तु-सूत्र' से संबंधित अन्य पुस्तकों को पढ़ने के बाद ऐसा लगा कि यह प्रयास पाठकों को वंदित्तु-सूत्र की गहराइयों, बारीकियों से परिचय करवा सकेगा जैसे कि प्रशस्त, अप्रशस्त कषाय, स्वरूप हिंसा, हेतु हिंसा और अनुबंध हिंसा का सराहनीय विवेचन एवं श्रमण तथा श्रावक के बीच हिंसा के परिणामों में धरती-आसमान का अंतर है, कहाँ २० वसा अहिंसा, कहाँ १.२५ वसा अहिंसा। इसके अतिरिक्त संरंभ, समारंभ, आरंभ का अन्तर एवं अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार का सुन्दर वर्णन। नमन की अभिव्यक्ति एवं प्रतिक्रमण में विभाव से स्वभाव में लौट आने की प्रवृत्ति, सम्यग्दृष्टि जीव की महिमा, आलोचना, निंदा, गर्हा, दुगंछा का महात्म्य एवं हर गाथा के बाद उसका सारांश, श्रावक को संवेदनशील बना देता है।

प्रतिक्रमण के हर पहलू का विशुद्ध वर्णन करती हुई यह शिक्षाप्रद पुस्तक सब पाठकों के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगी एवं ऐसे कार्यों के सुअवसर पुनः पुनः मिलते रहें, ऐसी मनोकामना सहित, प. पू. गुरुवर्या प्रशमिताश्रीजी के चरण-कमलों में कोटि-कोटि वंदन।

- डॉ. ज्ञान जैन

बी.टेक., एम.ए., पी.एचडी.

सूत्र संवेदना संबंधी

स्वर्गस्थ गच्छाधिपति

आचार्यदेव श्रीमद् विजय हेमभूषणसूरीश्वरजी म. सा. का अभिप्राय

नारायणधाम, वि. सं. २०५६, पो. व. ४

विनयादिगुणयुक्त सा. श्री प्रशमिताश्रीजी योग

जिज्ञा से प्रत्यक्ष में पहले बात हुई, उसके बाद उसने 'सूत्र संवेदना' का प्रुफ पढ़ने के लिए भेजा। उसे विहार में पूरा पढ़ लिया। सच कहता हूँ - पढ़ने से मेरी आत्मा को तो अवश्य खूब आनंद हुआ। ऐसा आनंद एवं उस वक्त हुई संवेदनाएँ अगर स्थिर बनें, क्रिया के समय सतत उपस्थित रहें तो क्रिया-अनुष्ठान भावानुष्ठान बने बिना न रहे। निश्चित रूप से बहुत सुंदर पुरुषार्थ किया है। ऐसी संवेदना पाँचों प्रतिक्रमणों में उपयोगी सभी ही सूत्रों की तैयार हो तो योग्य जीवों के लिए ज़रूर खूब लाभदायक बनेगी। मैंने जिज्ञा को प्रेरणा दी है लेकिन इसके मूल में आप हो इसलिए आपको भी बताता हूँ। मेरी दृष्टि में यह सूत्र-संवेदना प्रत्येक साधु, साध्विओं - खास करके नए साधु-साध्वियों को विशेष पढ़नी चाहिए।

रत्नत्रयी की आराधना में अविरत रहो, यही शुभाभिलाषा।

लि.

हेमभूषण सू. की अनुवंदना

वंदित्तु सूत्र

श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र

गुर्जर आवृत्ति का

प्राक्कथन

सूत्र संवेदना की यात्रा को आगे बढ़ाते हुए विश्राम स्थान आया **'वंदित्तु'**। पूर्व के सूत्रों की तरह इस सूत्र का लेखन भी मैंने वर्षों पहले सामान्य तौर से किया था। वह लेखन सूत्र संवेदना के वाचक वर्ग की अपेक्षाओं को तृप्त कर सके ऐसा नहीं था। अंतर को झकझोर दे, ऐसी प्रेरक एवं संवेदनात्मक लेखनी से उनकी अपेक्षाओं को पूर्ण करने हेतु, इस सूत्र का लेखन पुनः प्रारंभ किया। अभी तक के सूत्र तो रोज बोलने के कारण सतत अनुप्रेक्षा के विषय बने रहते थे, जबकि 'वंदित्तु॰ सूत्र' तो अणुव्रतों के अतिचारों संबंधी होने के कारण, महाव्रतों को स्वीकार करने के बाद पिछले ३२ वर्षों से विशेष अनुप्रेक्षा का विषय नहीं बना था।

सच कहूँ तो आप जैसे अनेक जिज्ञासुओं के कारण इस सूत्र का गहन अवलोकन करते हुए एक वास्तविकता समझ में आई कि, इस सूत्र की यदि पहले से गहरी अनुप्रेक्षा करके, अणुव्रत के पालन पूर्वक सुंदर श्राविका जीवन जीकर, बाद में महाव्रतों का स्वीकार किया होता तो निःशंकपूर्ण कह सकती हूँ कि आज संयम जीवन में जो आत्मिक आनंद की अनुभूति हो रही है उससे अधिक विशिष्ट आनंद की अनुभूति हो सकती थी, क्योंकि इस सूत्र की अवगाहना करते हुए जाना कि **'अणुव्रतों एवं महाव्रतों के बीच कोई सामान्य संबंध नहीं, परंतु जन्य-जनक भाव जैसा विशेष संबंध है'**।

इसको लिखते समय एक-एक अणुव्रतों पर गहरी विचारणा करने, उनसे संबंधित शास्त्रों का विमर्श करने एवं विद्वानों के साथ इस विषयक चर्चा करने का सुन्दर अवसर मिला। फलस्वरूप, द्रव्य एवं भाव से इन व्रतों का स्वरूप कैसा है, उनका अनंतर एवं परंपर प्रयोजन क्या है, और खास तो उनके द्वारा अनियंत्रित चित्तवृत्ति को नियंत्रित कर मोक्ष साधक चारित्र किस तरह से प्राप्त कर सकते हैं वगैरह की बहुत अच्छी जानकारी मिली एवं कई उपयोगी सुझाव के साथ समाधान भी मिले। अणुव्रतों को समझने की एक नई ही दिशा प्राप्त हुई। साथ-साथ ऐसा भी लगा कि महाव्रतों का पालन तो दुधारी तलवार की तीक्ष्ण धार पर चलने जैसा दुष्कर है, लेकिन अणुव्रतों का शुद्ध पालन भी सरल नहीं है।

एक तरफ ये निश्चित है कि मोक्ष का अनंत सुख पाने के लिए व्रतों का पालन अनिवार्य है, तो दूसरी तरफ अपने जैसे अल्प सत्त्ववाले जीवों के लिए उनका सुविशुद्ध पालन हो सके ऐसा संभवित नहीं लगता। शुद्ध पालन की भावना एवं प्रयत्न होने पर भी व्रत में प्रतिक्षण दूषण लगता रहता है। तो क्या ऐसे अतिचार प्रचुर (दोषबहुल) व्रतों से मोक्ष मिल सकता है ? ये मेरे मन की एक बड़ी उलझन थी। इस उलझन के निवारण के लिए ही प्रभु की अगम्य कृपा से मुझे पंचवस्तु ग्रंथ देखने की भावना जगी। हम सब इस ग्रंथ को साथ में पढ़ते थे। उसमें व्रतों के वर्णन के समय एक शिष्य ने मेरे जैसी ही उलझन व्यक्त की। समर्थ शास्त्रकार १४४४ ग्रंथ के रचयिता सूरिपुरंदर प.पू. आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज ने वहाँ एक खूब सुन्दर सुलझन दी है। उनका कहना है कि साधारणतया तो अधिक अतिचारवाला व्रत मोक्ष दिलाने में समर्थ नहीं होता, तो भी यदि सुविशुद्ध व्रत पालने की अंतर की भावना हो, उसके लिए यथाशक्ति एवं यथामति प्रयत्न चालू हो, लेकिन प्रमादादि कुसंस्कारों के कारण कोई दोष लग जाते हो, तो साधक अंतर के तीव्र पश्चात्तापपूर्वक उनको दूर करके पुनः व्रत को सुविशुद्ध बना सकता है। साधक की ऐसी भावना हो तो वह व्रत संबंधी हुए दोषों की सम्यक् प्रकार से आलोचना करे, आत्मसाक्षी से पुनः पुनः उन दोषों की निंदा करे, सरल भाव से गुरु भगवंत के समक्ष उन पापों की गर्हा करे एवं उनके प्रायश्चित रूप ही प्रतिक्रमण की क्रिया करे। इस तरह से साधक व्रत संबंधी अशुद्धियों को दूर कर, सुविशुद्ध व्रतपालन द्वारा अवश्य आनंद पा सकता है।

'पंचवस्तु' की इस व्रतशुद्धि की बात पढ़कर, वर्षों की मेरी उलझन का अंत होने पर मेरा मन नाच उठा। आत्मा को कोई नवीन ही आनंद की अनुभूति हुई एवं जैन शासन पर हृदय न्यौछावर हो गया। जैन शासन की कैसी महानता ! उसमें आत्म कल्याणार्थ व्रत-नियम बतलाए, इतना ही नहीं, परंतु छद्मस्थता के कारण सतत दोष से मलिन बनते हुए व्रतों को शुद्ध करने के लिए प्रतिक्रमण जैसा व्रतशुद्धि का मार्ग भी बताया है। सच में मार्गदाता अरिहंत की यही तो करूणा है। इस करुणा के स्रोत से ही 'वंदित्तु॰ सूत्र' का प्रकटीकरण हुआ होगा।

परम कृपालु परमात्मा की वाणी को गणधर भगवंतों ने सूत्रबद्ध किया। श्रुतधरों की उज्ज्वल परंपरा द्वारा यह सूत्र तो हमें प्राप्त हुआ, परंतु उसके एक-एक शब्द के पीछे छिपे हुए गर्भित भाव तक पहुँचने का काम सहज नहीं था। इस सूत्र के ऊपर संस्कृत भाषा में रचे गए अनेक टीका ग्रंथों के सहारे खास तोर से पू. रत्नशेखर-सूरीश्वरजी की अर्थदीपिका ग्रन्थ से इन भावों को समझकर अनेक जिज्ञासुओं को उन भावों तक पहुँचाने के लिए इस पुस्तक के माध्यम से मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है। ऐसा करने में मुझे नामी-अनामी अनेक व्यक्तियों का सहयोग मिला है। इस अवसर पर उन सबके उपकारों की स्मृति ताजी हुई है।

सर्वप्रथम उपकार तो गणधर भगवंतों का है कि उन्होने अपने जैसे अल्पमति जीवों के लिए गूढ़ रहस्यों से भरे सूत्रों की रचना की, उसके बाद उपकार है पूर्वाचार्यों का, जिन्होंने इन सूत्रों के रहस्यों तक पहुँचने के लिए उनके ऊपर अनेक टीका ग्रंथ बनाए। ये हुई परोक्ष उपकार की बात, प्रत्यक्ष उपकार में सर्वप्रथम उपकार है धर्मपिता तुल्य (संसारी पक्ष में मेरे मामा) **वर्धमान तपोनिधि आचार्य देवेश श्रीमद् विजय गुणयशसूरीश्वरजी महाराज** का जिन्होंने मुझे धर्म मार्ग पर आरूढ़ किया एवं **व्याख्यान वाचस्पति तपागच्छाधिराज भावाचार्य भगवंत प. पू. रामचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज** से मेरी पहचान करवाई। उनके सुयोग्य सान्निध्य से मेरे जीवन में वैराग्य के अंकूर फूटे एवं संसार को त्याग कर मैं संयम के लिए दृढ़ बनी। यहाँ तक पहुँचाने वाले उन महापुरुषों के उपकार को तो मैं कभी भी भूल नहीं सकूँगी।

पत्थर पर टाँका मारकर शिल्पी जैसे अनेक शिल्प तैयार करता है, वैसे ही मेरे जीवन को घड़ने का कार्य मेरे परमोपकारी गुरुदेव शताधिक शिष्याओं का योगक्षेम

करने वाले **प. पू. चंद्राननाश्रीजी म. सा.** ने किया। उन्होंने संयम प्रदान किया, संयम जीवन कैसे जीना वह भी सिखाया और साथ साथ संयम को समुज्ज्वल बनाने के लिए सतत शास्त्राभ्यास करने की प्रेरणा एवं व्यवस्था भी उपलब्ध कराई। आज जीवन में जो कुछ थोड़ा भी अच्छा दिखाई देता है वो सब उनकी प्रेरणारूप सिंचन का फल है। उनके इस उपकार का बदला मैं कभी भी नहीं चूका सकूँगी।

इस सूत्र की गहराई तक पहुँचने में, व्रतों की सूक्ष्मता को समझने में एवं शंकाओं का समाधान करने में मुझे पंडितवर्य सु. श्रा. प्रवीणभाई मोता की खूब सहायता मिली है। समय-समय पर श्रुत के रहस्य को पाने में उनका अमूल्य सहयोग प्राप्त हुआ है । उनके उपकार को भुलाना संभव नहीं।

इस पुस्तक की समाप्ति पर इसमें वर्णित पदार्थों की शास्त्रानुसारिता को प्रमाणिक करने के लिए मैंने मार्गानुगामी प्रतिभासंपन्न सन्मार्गदर्शक **प. पू. आचार्य देव श्रीमद् विजय कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराज** से विनती की। अनेकविध शासन रक्षा एवं प्रभावना के कार्यों में व्यस्त होने के कारण वे इस कार्य को शीघ्र हाथ में नहीं ले सके, परंतु आखिर में विहार की वयस्तता के बीच भी उन्होंने लेखनी की शब्दशः जाँच की। उन्होंने हिंसा का स्वरूप, कषायों का विवेक आदि अनेक विषयों का विस्तृतीकरण करने का उत्तम सुझाव दिया, जिसके फलस्वरूप इस लेखनी में अधिक सूक्ष्मता आई है।

परार्थपरायण पंन्यासप्रवर प. पू. भव्यदर्शन विजयजी म. सा. ने इसके पहले सूत्र संवेदना भाग - २ का निरीक्षण किया था। उस कारण बहुत सी भाषाकीय भूलों में सुधार आ सका तथा पदार्थ की सचोटता भी आ सकी थी। इस कारण यह भाग भी वे देखें ऐसी मेरी भावना थी। आपश्री ने सहर्ष स्वीकृति देकर संपूर्ण लेखन बारीकी से जाँचा। इसके अलावा सेवाभावी गणिवर्य हर्षवर्धन विजय म. सा. तथा पू. मुनिराज श्री संयमकीर्ति विजय म. सा. से भी लेखन संबंधी बहुत सुझाव मिले हैं। उनका आत्मीय भाव भी एक प्रेरक तत्त्व बना रहा।

अस्वस्थ होते हुए भी प. पू. रोहिताश्रीजी म. सा. के समुदाय की साध्वीजीश्री **चंदनबालाश्री जी म. साहेब** ने भी मुझे बहुत बार प्रेरणा एवं प्रुफरीडींग के कार्य में सहायता की है।

विशिष्ट क्षयोपशम युक्त व्यक्ति के लिए लिखने का कार्य सहज होता है। वे तो लेखनी लेकर बैठते हैं और सुन्दर लेख लिख पाते हैं, परंतु क्षयोपशम के अभाव के कारण मेरे लिए यह कार्य सहज नहीं था। अंतर में भावों के झरने तो सतत फूटते रहते हैं, परंतु मेरे भाषाकीय ज्ञान की मर्यादा के कारण इन भावों को शब्दों में ढालने का काम मेरे लिए बड़ा कठिन था। फिर भी जिज्ञासु साध्वीजी भगवंतों की सहायता से एवं भावुक बहनों की निरंतर मांग से यथाशक्ति लिखने का मैंने यत्न किया है।

पहले ही मैं कह चुकी हूँ कि इस पुस्तक में बताए हुए भाव पूर्ण नहीं हैं। गणधर रचित सूत्र के अनंत भावों को समझने की भी मेरी शक्ति नहीं तो लिखने की तो क्या बात करुँ? तो भी शास्त्रों के माध्यम से मैं जितने भावों को जान सकी हूँ, उनमें से कुछ भावों को सरल भाषा में इस पुस्तक में सुबद्ध करने का प्रयत्न किया है। ज्ञान की अपूर्णता एवं अभिव्यक्ति की अनिपुणता के कारण मेरा ये लेखन संपूर्ण क्षतिमुक्त या सबको स्पर्श करे वैसा ही होगा, ऐसा दावा तो मैं नहीं कर सकती। फिर भी इतना तो जरूर कहूँगी कि इसमें प्रस्तुत भावों को हृदयस्थ करके जो भी प्रतिक्रमण करेगा उसका प्रतिक्रमण पहले से बेहतर तो होगा ही।

भगवान की आज्ञा या सूत्रकार के आशय विरूद्ध अगर कुछ लिखा गया हो तो उसके लिए मैं 'मिच्छामि दुक्कडं' कहकर माफी माँगती हूँ। साथ ही अनुभवी बहुश्रुतों से प्रार्थना करती हूँ कि उनकी दृष्टि में जो कोई त्रुटि दिखाई दे तो उनको बिना संकोच मुझे सूचित करें।

अंत में मेरी एक अंतर की भावना व्यक्त करती हूँ कि, हम सब इस पुस्तक के माध्यम से मात्र प्रतिक्रमण के अर्थ की विचारणा करने में ही संतुष्टी का अनुभव न करें, पर उसके द्वारा अनादिकाल से आश्रित पाप वृत्तियों और कुसंस्कारों का नाश कर शीघ्र आत्म कल्याण साधें।

भा. सु. १४ सं. २०६२
ता. ६-८-२००६
४६, वसंतकुंज सो.
अहमदाबाद

परम विदुषी प. पू. चन्द्राननाश्रीजी म. सा की
शिष्या सा. प्रशमिताश्री

हिन्दी आवृति की नींव

सूत्र संवेदना - ४ की इस हिन्दी आवृत्ति के पीछे सुविनित ज्ञानानंदी सरलभाषी **स्व. सा. विनीतप्रज्ञाश्रीजी** के प्रत्यक्ष एवं परोक्ष योगदान की अनुमोदना सहज हो जाती है। २०६३ के मार्गशीर्ष एवं पौष महीने में पुरुषादानीय श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ भगवान की छत्र छाया में उपधान तप की आराधना चल रही थी। जिस में **मार्गानुसारी प्रतिभासंपन्न आचार्यदेव श्रीमद् विजय कीर्तियशसूरीश्वरजी महाराजा** आगम की वाचना देते हुए ६३ प्रकार के दुर्ध्यान का वर्णन करते थे। सा. विनीतप्रज्ञाश्रीजी भी अन्य साध्वियों के साथ वाचना का श्रवण करने हर रोज आते थे। कई शास्त्रीय पदार्थों का उनसे वाचना के बाद आदान-प्रदान भी होता था।

उन्होंने मुझे आत्मीयता से बताया कि सूत्र संवेदना साधना का एक आवश्यक अंग है। अत: वह सिर्फ गुजराती भाषा के वाचक वर्ग तक सीमित न रहकर हिन्दी भाषी जिज्ञासु साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका के लिए भी उपयोग में आए, इसलिए उसका हिन्दी भाषांतर करना चाहिए। मैंने उन्हें बताया कि मुझे हिन्दी का अनुभव नहीं है, तो उन्होंने तुरंत विनती की कि मुझे इस पुस्तक का भाषान्तर करने का लाभ दीजिए। ऐसे भाषान्तर से अनेक साधकों के लिए साधना मार्ग सरल बनेगा, यह सोचकर मैंने उनकी विनती को सहर्ष स्वीकार किया।

थोड़े ही समय में उनका पत्र भी आया कि भाषांतर का काम शुरू हो चुका है। पर भवितव्यता कुछ और ही थी। एक दुर्भाग्यपूर्ण दिन किसी ने बताया कि पाली में **सा. हेमप्रभाश्रीजी** का अकस्मात दुर्घटना में कालधर्म हो गया। हम चौंक उठे, कर्म और आयुष्य के सामने हमारा कुछ नहीं चलता। अनेकों ने एक गुणानुरागी, सरल स्वभावी, विदुषी साध्वीजी भगवंत की कमी महसूस की। यह

सोच कर ही हम चिंतित हो गए। वहाँ तो एक-दो दिन में पता चला कि सा. विनीतप्रज्ञाश्रीजी का भी उनके गुरुवर्या के साथ ही अकस्मात कालधर्म हो गया। एक गुणसंपन्न आत्मा का विरह अंतर की गहराई में कुछ व्यथा कर रहा था। मेरी तरह और भी कितनों को ऐसे प्रतिभासंपन्न साध्वीजी का विरह व्याकूल करता होगा पर कालधर्म के सामने किसी का कुछ नहीं चलता।

यह समाचार मिलने के बाद सूत्र-संवेदना की हिन्दी आवृत्ति के बारे में सोचना भी बंद हो गया था। पर मानो कि सा. विनीतप्रज्ञाश्री जी और कहीं से भी इस कार्य करवाने की परोक्ष मदद न कर रहें हों वैसे **श्री ज्ञानचंद जैन** का एक पत्र और भाषांतर के कई पन्ने मिले। थोड़े दिन बाद वे सूरत मिलने भी आए। प्रौढ़वय में भी एक युवान को शरमाए वैसा उनका यह भाषांतर करने का उत्साह उनका गुरु के प्रति समर्पण भाव प्रदर्शित करता था। 'मुझे मेरे गुरु का कार्य निष्पन्न करना ही है' ऐसी उनकी लगन के कारण ही आज यह पुस्तक आपके हाथों में है। ऐसे कार्य से वे अनेक लोगों तक प्रभुवचन पहुँचाने में निमित्त बने हैं। उनमें और सब वाचक वर्ग में प्रभुवचन बसे और सबका जीवन उन वचनों के अनुसार व्यतीत हो, जिससे आज नहीं तो कल सब बारह व्रत ग्रहण कर उसके पालन से पंच महाव्रत ग्रहण करने की क्षमता प्रकट कर शीघ्र ही चारित्र का महान आनंद पा सके।

सं. २०६५ जेठ वद ७ **सा. प्रशमिताश्रीजी**

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
A	**भूमिका**	१
B	**वंदित्तु**	१६-२९६
१.	**सूत्र परिचय**	१६
२.	**गाथा का क्रम**	१९
३.	**मूल सूत्र**	२१
४.	**गाथा-१ वंदित्तु०**	२६
	* मंगलाचरण	२६
	* विघ्नों के प्रकार	२७
	* पंच परमेष्ठी की वंदना	२८
	* श्रावक का धर्म	३३
	* श्रावक धर्म के अतिचार	३४
	* अनुबंध चतुष्टय	३४
५.	**गाथा-२ जो मे वयाइआरो०**	**३६**
	* अतिचार का स्वरूप	३७
	* निंदा का स्वरूप	४०
	* गर्हा का स्वरूप	४०
६.	**गाथा-३ दुविहे परिग्गहम्मी०**	**४४**
	* आरंभ, समारंभ एवं संरंभ	४६
	* स्वरूप हिंसा	४८
	* हेतु हिंसा	४९
	* अनुबंध हिंसा	५०
	* अनुमोदना के तीन प्रकार	५४
	* चित्तवृत्ति का संस्करण	५५
७.	**ज्ञानाचार**	**५८**
	गाथा-४ जं बद्धमिंदिएहिं०	५८
	* प्रशस्त प्रवृत्ति एवं अप्रशस्त प्रवृत्ति	५९
	* प्रशस्त कषाय व अप्रशस्त कषाय	६२
	* अप्रशस्त योग का प्रतिक्रमण	६६
	* चित्तवृत्ति का संस्करण	६८
८.	**दर्शनाचार**	**७०**
	गाथा-५ आगमणे निग्गमणे०	७०
	* सम्यग्दर्शन के तीन बाह्य अतिचार	७१
	गाथा-६ संका कंख विगिच्छा०	७४
	* सम्यग्दर्शन के पांच आंतरिक अतिचार	७४
	* चित्तवृत्ति का संस्करण	७९
९.	**चारित्राचार**	८०
	गाथा-७ छक्काय-समारंभे०	**८०**
	* चारित्राचार संबंधी अतिचार	८१
	गाथा-८ पंचण्हमणुव्वयाणं०	८४
	* बारह व्रतों के अतिचारों का सामान्य से प्रतिक्रमण	८४
१०.	**पांच अणुव्रतों के अतिचारों का प्रतिक्रमण**	८४
	प्रथम व्रत	८७
	गाथा-९ पढमे अणुव्वयम्मी०	**८७**
	* हिंसा के प्रकार	८८
	* भाव हिंसा से बचने के उपाय	८९
	* व्रत की प्रतिज्ञा	९०
	* सवा वसा की दया	९१
	* प्रमाद के प्रकार	९५
	* व्रत पालन का फल	९६
	गाथा-१० वह-बंध-छविच्छेए०	**९७**
	* प्रथम व्रत का अतिचार	९८
	* चित्तवृत्ति का संस्करण	१०१

११. दूसरा व्रत १०४

गाथा-११ बीए अणुव्वयम्मी० १०४

* दूसरे व्रत का स्वरूप १०५
* व्रतधारी की भाषा १०६
* दूसरे व्रत की प्रतिज्ञा १०७
* बड़े झूठ १०७

गाथा-१२ सहसा-रहस्सदारे० ११०

* दूसरे व्रत के पांच अतिचार ११०
* चित्तवृत्ति का संस्करण ११४

१२. तीसरा व्रत ११७

गाथा-१३ तइए अणुव्वयम्मी० ११७

* तीसरे व्रत का स्वरूप ११७
* चार प्रकार का अदत्त ११७

गाथा-१४ तेनाहड-प्पओगे० १२१

* तीसरे व्रत के अतिचार १२२
* चित्तवृत्ति का संस्करण १२३

१३. चौथा व्रत १२५

गाथा-१५ चउत्थे अणुव्वयम्मी० १२५

* ब्रह्मचर्य का स्वरूप १२६
* ब्रह्मचर्य पालन का फल एवं अब्रह्म से नुकसान १२९

गाथा-१६ अपरिग्गहिआ-इत्तर० १३०

* चतुर्थ व्रत के अतिचार १३०
* चित्तवृत्ति का संस्करण १३४

१४. पाँचवाँ व्रत १३६

गाथा-१७ इत्तो अणुव्वए पंचमम्मि० १३६

* पाँचवे व्रत का स्वरूप १३७
* व्रत पालन का फल १४०

गाथा-१८ धण-धन्न-खित्त-वत्थू० १४१

* पाँचवे व्रत के अतिचार १४१

१५. तीन गुणव्रतों के अतिचारों का प्रतिक्रमण १४६

* **छठवाँ व्रत** १४६

गाथा-१९ गमणस्स उ परिमाणे० १४६

* प्रथम गुणव्रत का स्वरूप १४७
* प्रथम गुणव्रत के अतिचार १४८

१६. सातवाँ व्रत १५२

गाथा-२० मज्जम्मि अ मंसम्मि अ० १५२

* दूसरे गुणव्रत का स्वरूप १५३
* भोग-उपभोग की दुःखकारिता १५४
* व्रतधारी के आचार १५७
* २२ अभक्ष्य १५७
* ३२ अनंतकाय १५८
* अविरति के विपुल पापों से बचने लिए चौदह नियम १६१
* चित्तवृत्ति का संस्करण १६३

गाथा-२१ सच्चित्ते पडिबद्धे० १६५

गाथा-२२-२३ इंगाली-वण-साडी० १६८

* वाणिज्य सम्बंधी अतिचार १६९
* कर्मादान के धंधे १६९
* चित्तवृत्ति का संस्करण १७३

१७. आठवाँ व्रत १७४

गाथा-२४ सत्थग्गि-मुसल-जंतग० १७४

* तीसरे गुणव्रत का स्वरूप १७५
* चार प्रकार का अनर्थदंड १७६
* आर्तध्यान का स्वरूप १७७
* रौद्रध्यान का स्वरूप १७८

गाथा-२५ ण्हाणुव्वट्टण-वन्नग० १८२

गाथा-२६ कंदप्पे कुक्कुइए० १८७

* तीसरे गुणव्रत संबंधी अतिचार १८८

१८. चार शिक्षाव्रत के अतिचारों का प्रतिक्रमण १९०

नौवां व्रत १९३

गाथा-२७ तिविहे दुप्पणिहाणे० १९३

* प्रथम शिक्षा व्रत का स्वरूप १९४
* 'सामायिक' शब्द का अर्थ १९४
* प्रथम शिक्षा व्रत सम्बंधी अतिचार १९६
* चितवृत्ति का संस्करण १९८

१९. दसवाँ व्रत १९९

गाथा-२८ आणवणे पेसवणे० १९९

* दूसरे शिक्षा व्रत का स्वरूप २००
* 'देशावकाशिक' शब्द का अर्थ २००
* दूसरे शिक्षा व्रत के अतिचार २०१
* चित्तवृत्ति का संस्करण २०३

२०. ग्यारहवाँ व्रत २०४

गाथा-२९ संथारूच्चारविही० २०४

* तीसरे शिक्षा व्रत का स्वरूप २०५
* 'पौषध' शब्द का अर्थ २०५
* पौषध के चार प्रकार २०६
* तीसरे शिक्षा व्रत के अतिचार २०९
* चित्तवृत्ति का संस्करण २१२

२१. बारहवाँ व्रत २१४

गाथा-३० सच्चित्ते निक्खिवणे० २१४

* चौथे शिक्षा व्रत का स्वरूप २१५
* चौथे शिक्षा व्रत के अतिचार २१८

गाथा-३१ सुहिएसु अ दुहिएसु अ० २२१

* दान के पांच प्रकार २२३

गाथा-३२ साहूसु संविभागो० २२७

* बारहवाँ अतिथि संविभाग व्रत संबंधी अतिचारों का प्रतिक्रमण २२७
* चरण सित्तरी २२८
* करण सित्तरी २२८
* चित्तवृत्ति का संस्करण २३०

२२. संलेखना व्रत २३१

गाथा-३३ इह-लोए परलोए० २३१

* 'संलेखना' शब्द का अर्थ २३२
* चित्तवृत्ति का संस्करण २३६
* अंतसमय की तैयारी २३६
* श्रुत भावना, तप भावना, सत्त्व भावना, बल भावना २३६

२३. सामान्य से सर्व पापों का प्रतिक्रमण

गाथा-३४ काएण काइअस्सा० २३८

* सर्व व्रत के अतिचारों का मन, वचन व काया से प्रतिक्रमण २३९

२४. शुभ-अशुभ क्रियाओं सम्बंधी अतिचारों का प्रतिक्रमण

गाथा-३५ वंदण-वय-सिक्खा० २४१

* वंदन क्रिया में लगे दोषों का प्रतिक्रमण २४१
* बारह व्रत व छोटे-बड़े नियमों सम्बंधी अतिचारों का प्रतिक्रमण २४२
* ग्रहण शिक्षा और आ सेवन शिक्षा विषयक अतिचारों का प्रतिक्रमण २४२
* तीन प्रकार के गारव के विषय में लगे दोषों का प्रतिक्रमण २४२
* संज्ञा के चार प्रकार व उससे सम्बंधित दोषों का प्रतिक्रमण २४३
* चार प्रकार के कषाय व उससे सम्बंधित दोषों का प्रतिक्रमण २४४
* तीन प्रकार के दंड व उससे सम्बंधित दोषों का प्रतिक्रमण २४५

२५. प्रतिक्रमण करने से क्या लाभ ? २४५
गाथा-३६ सम्मदिट्ठि जीवो० २४७
* सम्यग्दृष्टि जीव की आंतरिक परिणति २४८
गाथा-३७ तं पि हु सपडिक्कमणं० २५०
* अल्प भी कर्मबंध का नाश श्रावक कैसे करें ? २५०
* पापनाश करने के विषय में दृष्टांत २५१
गाथा-३८ जहा विसं कुट्ठगयं० २५२
गाथा-३९ एवं अट्ठविहं कम्मं० २५३
* दृष्टांत का उपनय २५३
* भाव श्रावक के क्रियागत ६ गुण २५६
गाथा-४० कयपावो वि मणुस्सो० २६०
* पापकर्म का नाश होने के बाद श्रावक की मानसिक स्थिति २६२
२६. 'प्रतिक्रमण' आवश्यक की महिमा २६२
गाथा-४१ आवस्सएण एएण० २६३
* 'आवश्यक' शब्द का अर्थ २६४
* सामायिक, चउविसत्थो, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, पच्चक्खाण का स्वरूप २६४
२७. विस्मृत हुए अतिचारों का प्रतिक्रमण
गाथा-४२ आलोअणा बहुविहा० २६९
* 'आलोचना' शब्द का अर्थ २६९
२८. धर्माराधना से उपसंहार २७१
गाथा-४३ तस्स धम्मस्स० २७१
* चौबीसों जिन की वंदना २७२
गाथा-४४ जावंति चेइआइं० २७४
* शाश्वता-अशाश्वता स्थापना जिन की वंदना २७५
गाथा-४५ जावंत के वि साहू० २७६
* सर्व साधु भगवंतों की वंदना २७६
२९. श्रावक की अभिलाषा
गाथा-४६ चिर-संचिअ-पाव २७९
* चौबीस जिन के गुण-स्मरण, जाप आदि का अचिंत्य प्रभाव २८०
गाथा-४७ मम मंगलमरिहंता० २८३
* 'समाधि' शब्द का अर्थ २८५
३०. चार दोषों के कारण प्रतिक्रमण
गाथा-४८ पडिसिद्धाणं करणे० २८७
३१. सर्व जीवों के प्रति मैत्री का परिणाम
गाथा ४९ खामेमि सव्वजीवे० २९१
* सर्व जीवों के हित की भावना २९१
३२. अंतिम मंगल २९४
गाथा-५० एवमहं आलोइअ० २९४
* तीन प्रकार के मंगल का फल २९५

संदर्भ ग्रंथ सूची

ग्रंथ	ग्रंथ कर्ता
अष्टक प्रकरण की टीका	पू. हरिभद्रसूरिजी - पू. मुनिचंद्रसूरिजी
आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय टीका	पू. हरिभद्रसूरिजी
अभक्ष्य अनंतकाय विचार	प्रभुदास बेचरदास
अध्यात्मसार	पू. महोपाध्याय श्री यशो वि. म.
आचारप्रदीप	पू. रत्नशेखरसूरिजी
इन्द्रियपराजय शतक	चिरंतनाचार्य
उपदेशमाला	पू. धर्मदास गणि
उत्तराध्ययन	श्री सुधर्मास्वामी
पंचाशक	पू. हरिभद्रसूरिजी
प्रबोधटीका	पं. धीरजलाल टोकरशी शाह
भाषा समिति सज्झाय	पू. रूपविजयजी विविध मुनिवर
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका	पू. महो. श्री यशो वि. म.
दशवैकालिक सूत्र	पू. शय्यंभवसूरीश्वरजी
डेढ़ सौ गाथा का स्तवन्	पू. महोपाध्याय श्री यशो वि. म.
धर्मसंग्रह	पू. महो. श्री मानविजयजी
धर्मरत्न प्रकरण	पू. शांतिसूरिजी
नवपद प्रकरण	पू. यशोदेव उपाध्याय
नवतत्त्व प्रकरण	पूर्वाचार्य
नवपद की पूजा	पू. पद्मविजयजी
योगशास्त्र	पू. हेमचंद्रसूरिजी
योगशतक	पू. हरिभद्रसूरिजी
ललित विस्तरा	पू. हरिभद्रसूरिजी
विशेषावश्यक भाष्य	पू. जिनदास गणि
वन्दारूवृत्ति	पू. श्री देवेन्द्रसूरिजी
शांत सुधारस	पू. विनय विजयजी म. सा.
समवायांग सूत्र टीका	पू. अभयदेव सूरिजी

सूयगडांग सूत्र टीका	पू. शीलांकासूरिजी
संबोध प्रकरण	पू. हरिभद्रसूरिजी
संबोधसित्तरी	पू. रत्नशेखरसूरिजी
सवा सौ गाथा का स्तवन	पू. महोपाध्याय श्री यशो वि. म.
साढ़े तीन सौ गाथा का स्तवन	पू. महोपाध्याय श्री यशो वि. म.
श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र (अर्थ दीपिका)	पू. रत्नशेखरसूरिजी
श्रावकों के अतिचार	पूर्वाचार्य
हितोपदेश	पू. प्रभानंदसूरिजी
बारह व्रत सम्बंधी विविध पुस्तकें	पू. आ. नयवर्धनसूरिजी
	पू. ग. युगभूषण विजयजी
	पू. आ. मित्रानंदसूरिजी
बृहद्कल्पवृत्ति	पू. भद्रबाहुस्वामी
तत्त्वार्थाधिगम सूत्र	पू. उमास्वातिजी म. सा.

भूमिका

सर्वत्र सर्वस्य सदा प्रवृत्तिः, दुःखस्य नाशाय सुखस्य हेतोः।
तथापि दुःखं न विनाशमेति, सुखं न कस्यापि भजेत् स्थिरत्वम् ।।१६ ।।

- हृदयप्रदीप

इस संसार के सभी जीव दुःख से मुक्त होकर सुख प्राप्त करना चाहते हैं और इसलिए वे प्रयत्नशील भी रहते हैं। फिर भी आश्चर्य की बात यह है कि जगत में कोई भी जीव सम्पूर्ण दुःख से मुक्त नहीं होता एवं सम्पूर्ण सुख को प्राप्त भी नहीं करता। इसका कारण एक ही है कि वे दुःख से मुक्त होने के लिए मनचाहे उपायों को अपनाया करते हैं, परंतु ज्ञानी पुरुषों द्वारा बताए हुए दुःख के मूल कारणों को ढूँढकर उनसे दूर होने का प्रयत्न नहीं करते।

शास्त्रकार कहते हैं कि, दुःख का मूल कारण है, भौतिक सुखों का राग एवं भौतिक दुःखों का द्वेष। भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए संसारी जीव हिंसा, झूठ आदि स्व-पर को दुःख देनेवाले पाप कार्य करते हैं, जिससे वे अनेक कर्मों को (पापों को) बांधकर दुःखी होते हैं। इसलिए जिनको वास्तविक दुःख से मुक्त होना हो उन्हें राग-द्वेष के भावों से दूर होना चाहिए। इन रागादि भावों को घटाकर पाप कार्य से वापस लौटने के लिए जैन शास्त्रों में प्रतिक्रमण की एक सुन्दर क्रिया बताई है। भावपूर्वक की गई यह क्रिया पापकर्मो का एवं पाप कराने वाले जीव के कुसंस्कारों का नाश करके आत्मा को निर्मल बनाती है। इसी कारण प्रतिक्रमण की क्रिया एक आध्यात्मिक स्नानतुल्य बन जाती है।

आरोग्यशास्त्र की दृष्टि से योग्य पद्धति से किया हुआ स्नान शरीर के मल को दूर करता है, शरीर में ताजगी प्रकट करता है एवं रोगों की संभावनाएँ घटाता है। उसी प्रकार शास्त्रीय मर्यादानुसार भावपूर्वक किया हुआ प्रतिक्रमण आत्मा पर छाई हुई कर्मरज को दूर करता है। साथ ही साथ आत्मा में नई स्फूर्ति एवं ऊर्जा

प्रकट करता है और चित्त में से हिंसा, झूठ, छल, कपट, निन्दा, राग-द्वेष आदि रोगों की संभावना को घटाता है। यह एक वास्तविकता है फिर भी रोज प्रतिक्रमण करने वाले वर्ग में भी ऐसा दिखाई नहीं देता; इसका कारण यह है कि आज बाह्य से प्रतिक्रमण करने वाला वर्ग बड़ा है, परंतु प्रतिक्रमण के परमार्थ को समझकर भावपूर्वक प्रतिक्रमण करने वाला वर्ग अति अल्प है।

दोषों को दूर करके, गुणों को प्राप्त करने के लिए जिसे भावपूर्वक प्रतिक्रमण करना हो उसे यह क्रिया किस मुद्रा में बैठकर करनी चाहिए, उसमें प्रयोग होने वाले सूत्रों का उच्चारण किस तरह से करना चाहिए, सूत्र के भावों का स्पर्शन करना एवं उन भावों द्वारा दोषों का नाश करके गुणों को किस तरह से प्रकट करना, यह खास समझना चाहिए। अगर इन सब बातों को समझकर प्रतिक्रमण की क्रिया की जाए तो यह क्रिया भावपूर्ण बन सकती है और भावपूर्वक की हुई क्रिया सब पाप कर्मों एवं पाप की वृत्तियों का नाश करके, आत्मा को शुद्ध बना सकती है।

मानव शरीर में जितना महत्त्व हृदय का है, उतना ही महत्त्व क्रिया में भाव का है। भाव हीन क्रिया निष्प्राण शरीर जैसी बन जाती है। इसीलिए प्रतिक्रमण की क्रिया को भावपूर्ण बनाने के लिए सर्वप्रथम प्रतिक्रमण क्या है ? उसके अधिकारी कौन हैं ? आदि विषयों के बारे में सोचेंगे।

प्रतिक्रमण किसको कहते हैं ?

'प्रति' अर्थात् पीछे एवं 'क्रमण' अर्थात् लौटना। पीछे लौटने की क्रिया को प्रतिक्रमण कहते हैं। वापस लौटने की क्रिया अनेक प्रकार की होती हैं, परंतु यहाँ प्रमादादि दोषों के कारण हिंसा, असत्य, चोरी आदि पाप स्थानों की ओर झुकी हुई आत्मा को उस मार्ग से पीछे खींचकर ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप अपने मूल स्थान में लाने की क्रिया को **प्रतिक्रमण**[1] कहते हैं; अथवा विषय-कषाय के अधीन बनकर अपनी व्रत-नियम की मर्यादा को चूक जाना या अपनी भूमिका को भूलकर आचरण करना अतिक्रमण है और इस अतिक्रमण से वापस लौटना

1. **स्वस्थानाद् यत् परस्थानं प्रमादस्य वशाद् गतः**
   तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते ।।

   -आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीयटीका गा. १२३०/३१ वृतौ

प्रतिक्रमण है; अथवा पापकर्मों की निन्दा, गर्हा एवं आलोचना करके निःशल्य बनी हुई आत्मा को मोक्ष फल प्राप्त कराने वाले शुभ योगों में पुनः पुनः प्रवर्तित करवाना वही **प्रतिक्रमण**[2] है। संक्षिप्त में आत्मा को अपने सुविशुद्ध भाव में लाने वाली प्रवृत्ति प्रतिक्रमण है।

आत्मा को जिस क्षण अहसास होता है कि 'प्रमाद के वश होकर मैं भूला पड़ा हूँ, विषय-कषाय के अधीन होकर मैं चूक गया हूँ, अंततः सुख के मार्ग को त्यागकर मैंने दुःख का मार्ग अपनाया है, शुद्धि का विचार किए बिना मैंने अपने आपको अशुद्ध बनाया है, शांति-समाधि का मार्ग छोड़कर मैंने अशांति-असमाधि का मार्ग लिया है, चित्त की स्वस्थता को त्यागकर मैंने अस्वस्थता के कारणों को स्वीकारा है,' उसी क्षण उसकी मनोवृत्ति बदल जाती है। हिंसादि दोषों से वापस लौटकर वह अहिंसक भाव में आने का प्रयत्न करता है, आत्मा की अशुद्धियों को दूर करके वह शुद्धभाव की तरफ जाने का प्रयत्न करता है। धनादि की अंधी दौड़ पर अंकुश लगाकर वह संसार की मोह-ममता को घटाने का प्रयास करता है । **पाप प्रवृत्ति से निष्पाप प्रवृत्ति की ओर आने का, अशुद्धि से शुद्धि की ओर आने का जीव का प्रयत्न ही वास्तव में प्रतिक्रमण है।**

उत्सर्ग एवं अपवाद से प्रतिक्रमण :

प्रतिक्रमण की इस क्रिया को उत्सर्ग एवं अपवाद की दृष्टि से भी सोचा जा सकता है। दोष मुक्ति एवं गुण प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ते-बढ़ते आत्मा की एक ऐसी भूमिका का सर्जन होता है कि एक बार जिस अशुद्धि को वह दूर करे, पुनः वैसी ही अशुद्धि तो होती ही नहीं, जिस पाप या भूल का एक बार 'मिच्छामि दुक्कडं' दिया हो वह पाप या भूल दोबारा कभी होती ही नहीं, विषय-कषाय एवं प्रमाद के प्रति भी ऐसी सावधानी विकसित होती है कि, सहजता पूर्वक उनसे पराङमुख होकर आत्मभाव में स्थिर रह सके। आत्मभाव में रहने की, स्वभाव में स्थिर होने की इस प्रक्रिया को शास्त्रकार उत्सर्ग से प्रतिक्रमण कहते हैं।

---

2. प्रति प्रति वर्तनं वा शुभेषु योगेषु मोक्षफलेषु।
निःशल्यस्य यतेर्यत् तद्वा ज्ञेयं प्रतिक्रमणम् ।।

-आवश्यकनिर्युक्ति हारिभद्रीयटीका गा. १२३०/३१ वृत्तौ

इसी बात को दोहराते हुए महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज ने सीमंधर स्वामी के १२५ गाथा के स्तवन में बताया है कि,

'मूल पदे पडिक्कमणुं भाख्युं पापतणुं अणकरवु रे...'

मूल पद याने उत्सर्ग मार्ग।[3] उत्सर्ग से तो 'पाप करना ही नहीं' उसी को प्रतिक्रमण कहते हैं। जैसे कीचड़ में पाँव गंदे करके पाँव को धोने से बेहतर है कि पाँव को कीचड़ में गंदे होने ही न दें, वैसे ही पाप करके पुनः पुनः प्रतिक्रमण करने से तो पाप ही नहीं करना वह बेहतर है याने चित्तवृत्ति को ऐसी विकसित करें कि वह पाप कर्म से कभी जुड़ें ही नहीं। इसीलिए कहते हैं कि अपने शुद्धभाव में, निष्पापभाव में सदा रहना वही **उत्सर्ग से प्रतिक्रमण** है।

प्रतिक्रमण की यह प्रक्रिया सरल नहीं, यह तो राधावेध साधने जैसी दुष्कर है। राधावेध को साधने की बहुत लोगों की इच्छा होते हुए भी अर्जुन जैसा कोई सात्त्विक पुरुष ही उसे साध सकता है। उसी तरह बहुत से साधकों की भावना होती है कि कभी पाप ना करना पड़े वैसा निष्पाप जीवन जी कर, उत्सर्ग मार्ग का प्रतिक्रमण करूँ, परंतु उनमें से अत्यन्त सावधान बने हुए कुछ जीव ही वैसा करके उत्सर्ग मार्ग का प्रतिक्रमण कर सकते हैं। अन्य साधकों की ऐसी इच्छा होते हुए भी कर्म की पराधीनता, कषायों की प्रबलता एवं सत्त्व की अल्पता के कारण वे बहुत बार चूक जाते हैं और जिस पाप का प्रतिक्रमण किया हो उस पाप का ही उनसे पुनः पुनः सेवन हो जाता है। फिर भी पाप से डरने वाले साधक को अपनी भूल काँटे की तरह चुभती है। सेवन किए हुए पाप आँख में गिरे कंकड़ की तरह खटकते हैं और इस चुभन का नतीजा यह होता है कि, उनमें पाप से मुक्त होने की भावना जागृत होती है। पाप से मुक्त होने की इस भावना को सफल करने के लिए साधक दुःखार्द्र हृदय से गुरु भगवंत के समक्ष आलोचना, निन्दा एवं गर्हा करके, पाप से अशुद्ध हुई आत्मा को शुद्ध करने की जो एक विशिष्ट प्रक्रिया करता है, उसे ही **अपवाद से प्रतिक्रमण** कहा जाता है।

इस तरह 'पाप नहीं करना' अर्थात् एक बार जिस पाप का प्रतिक्रमण किया हो वह पाप जीवन में दुबारा नहीं हो ऐसी चित्तभूमि को तैयार करना वह उत्सर्ग से

3. उत्सर्ग मार्ग अर्थात् राजमार्ग, सीधा मार्ग और अपवाद मार्ग अर्थात् कारणिक मार्ग, गली का मार्ग।

प्रतिक्रमण है एवं 'पाप होने के बाद प्रामाणिकता से उससे दूर रहने का प्रयत्न करना', वह अपवाद से प्रतिक्रमण कहा जाता है।

इसके अलावा बाह्य रीति से अगर प्रतिकमण की क्रिया की जाती हो; पर उसमें पाप से शुद्ध होने की कोई भावना न हो, पुनः पाप न हो ऐसी कोई सावधानी न हो, प्रतिक्रमण करने के बाद भी उसी तरह से और उसी भाव से पाप होते हों तो वह प्रतिक्रमण की क्रिया प्रतिक्रमण नहीं, परंतु प्रतिक्रमणाभास है। ऐसी प्रतिक्रमण की क्रिया के लिए पू. भद्रबाहुस्वामी ने बहुत कठोर शब्दों का प्रयोग करके उसे **मायापूर्वक का मृषावाद** ही कहा है।

महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा. इसी बात को दोहराते हुए कहते हैं

'मिच्छा मि दुक्कडं देई पातिक, ते भावे जे सेवे;
आवश्यक साखे ते परगट, मायामोसने सेवे।' ॥४१॥ २:१७॥

- ३५० गाथा का स्तवन

साधक द्वारा सावधानी रखने पर भी और इच्छा नहीं होते हुए भी कई बार पुनः पुनः वही पाप हो जाता है तब अगर एसे विचार होंगे कि, ***'यह पाप करने जैसा तो नहीं ही है, कब ऐसा दिन आएगा कि मैं अपने ऊपर नियंत्रण रखकर ऐसी कुचेष्टाओं से मुक्त हो पाऊँगा ? मुझे धिक्कार है कि गुरु भगवंत के पास पाप नहीं करूँगा ऐसा कहकर भी मैं फिर वही पाप कर बैठता हूँ'*** तो कभी क्रिया से वही पाप होगा फिर भी भाव में अवश्य फर्क पड़ेगा। इसलिए यदि प्रतिक्रमण करने के बाद फिर से पाप हो जाए; परंतु उस पाप को करने जैसा नहीं माना जाए तो वह पाप का प्रतिक्रमण अपवाद से भी प्रतिक्रमण बन सकता है; परंतु यदि ऐसा कोई संकोच न हो, *'ऐसा पाप तो करना ही पड़ता है, ऐसी पापक्रिया किए बिना संसार में नहीं रह सकते, गुरु भगवंत तो कहते ही रहते है परंतु जो करना पड़ता है वह तो करना ही पड़ता है, अभी पाप कर लें, बाद में आलोचना ले लेंगे।'* ऐसे भाववाले जीव कुलाचार से अथवा अंधानुकरणरूप से प्रतिक्रमण करें तो भी उनका प्रतिक्रमण, प्रतिक्रमण नहीं होता। पाप की चुभन बिना 'मैं गलत कर रहा हूँ' ऐसे अहसास बिना, पुनः पुनः भूल होती ही रहे, तो प्रतिक्रमण की इन क्रियाओं का क्या फायदा ? इसलिए ही तो शास्त्रकारों ने ऐसी प्रतिक्रमण की क्रिया को धर्मानुष्ठान नहीं, परंतु माया पूर्वक का झूठ (मायामृषावाद) कहा है।

इसलिए जीवन में रूढ़ बने हुए दोषों को दूर करके गुण प्रकट करने हैं तो खास ध्यान में रखना चाहिए कि अगर उत्सर्ग मार्ग का 'पाप नहीं करना' ऐसा प्रतिक्रमण ना कर सकें तो जिस पाप का प्रतिक्रमण किया है वह पाप तो बार बार नहीं ही होना चाहिए। जब पाप करना पड़े तब भी 'यह करने जैसा है,' ऐसा मानकर खुशी खुशी तो ना ही करें और अगर पाप हो भी जाए तो गुरु भगवंत के पास हृदय पूर्वक सरलता से उसकी आलोचना करें तो ही प्रतिक्रमण अपवाद से भी प्रतिक्रमण हो सकता है। नहीं तो, एक तरफ यह गलत किया है, वैसा बोलकर के प्रतिक्रमण करें और दूसरी तरफ पाप करने जैसा है ऐसा मानकर पाप करें तब तो अपनी प्रतिक्रमण की क्रिया एक नट के नाटक की तरह बन जाती है।

वर्तमान का प्रतिक्रमण :

सामान्यतया सोचें तो, जब भी आत्मा क्रोधादि पापों से वापस लौटकर क्षमादि भावों में स्थिर होती है, तभी उसका वास्तविक प्रतिक्रमण होता है, तो भी वर्तमान व्यवहार में दिन या रात्रि के अंतिम भाग में गणधर रचित सूत्रों के सहारे अपने पाप की गवेषणा करके, पाप से मलिन हुई आत्मा को शुद्ध करने की जो क्रिया की जाती है, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं।

यद्यपि प्रतिक्रमण छः आवश्यक में से एक आवश्यक है, फिर भी शास्त्रों में सभी छः आवश्यकों के समूह के लिए भी प्रतिक्रमण शब्द का प्रयोग किया गया है। १. सामायिक २. चतुर्विंशतिस्तव (चउविसत्थो) ३. वंदन ४. प्रतिक्रमण ५. कायोत्सर्ग ६. प्रत्याख्यान : ये छः आवश्यक हैं।

इन छः आवश्यक के समूह को **'प्रतिक्रमण'** कहा जाता है क्योंकि प्रतिक्रमण की क्रिया को विशेष शुद्ध बनाने के लिए पूर्व के तीन आवश्यक करने जरूरी है एवं प्रतिक्रमण आवश्यक के बाद पुनः पाप न हो वैसी भूमिका का सर्जन करने के लिए अंतिम दो आवश्यक करने जरूरी हैं।

अस्वच्छ और अस्थिर पानी के नीचे रही हुई चीजें जैसे दिखाई नहीं देतीं, परंतु स्थिर एवं निर्मल पानी के नीचे रही हुई वस्तुएँ आसानी से दिखाई देती हैं। उसी तरह जीव भी जब तक संसार की ममता से उत्पन्न हुए भावों से चंचल बना रहता है, तब तक उसे अपने दोष दिखाई ही नहीं देते। जब वह ममता के भावों से

परे होकर समता के भावों में स्थिर होता है, तब ही उसका मन शांत होता है एवं वह आंतरिक पापों का अवलोकन कर सकता है। इसलिए प्रतिक्रमण करने वाले साधक को समता भाव प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम **'सामायिक'** नाम के आवश्यक को स्वीकार करना पड़ता है।

इसके बाद पाप को पाप के स्वरूप में पहचानने के लिए और पाप से मुक्त होने के लिए सामायिक में - समता में रहा हुआ जीव, सम्पूर्ण शुद्धभाव में रहे हुए अरिहंत परमात्मा को एवं निष्पाप जीवन जीने वाले गुरु भगवंतो को वंदना करने रूप **'चउविसत्थो'** एवं **'वंदन'**[4] नाम का आवश्यक करता है, जिससे उसमें पाप के प्रति तिरस्कार भाव पैदा होता है एवं गुणों के प्रति लगाव-झुकाव की वृद्धि होती है जो प्रतिक्रमण के लिए अति जरूरी भाव है।

इन तीन क्रियाओं के बाद **'प्रतिक्रमण'** नाम का चौथा आवश्यक होता है। यह प्रतिक्रमण, कोई भी दोषाचरण से आत्मा मलिन हुई हो तो उसकी विशुद्धि के लिए करना होता है एवं शायद प्रत्यक्ष तरीके से कोई दोष ना भी हुआ हो, तो भी आत्मा में पड़े हुए कुसंस्कारों जो भविष्य में दोष का सेवन करवा सकते हैं उनकी शुद्धि के लिए भी यह प्रतिक्रमण करना जरूरी है।

पाप करवाने के मूलभूत कारण हैं मन, वचन एवं काया संबंधी कुसंस्कार। प्रतिक्रमण से इन कुसंस्कारों को दूर करके, विशेष शुद्ध होने के लिए प्रतिक्रमण करने के बाद साधक **'कायोत्सर्ग'** नाम का पाँचवाँ आवश्यक करता है। उस में वह मन को शुभ ध्यान में स्थिर करता है, वाणी को मौन द्वारा स्थिर करता है एवं काया को नियत आसन में स्थिर करके काया की अन्य सर्व चेष्टाओं का त्याग करता है। इस तरह तीन योगों को स्थिर करके अन्तर निरीक्षण द्वारा बची हुई अशुद्धियों को दूर करता है एवं महापुरुषों का आलंबन लेकर अपनी चित्तभूमि को ऐसी तैयार करता है कि पुनः वैसा पाप हो ही नहीं।

ऐसा करने के बाद भी चंचल मन निमित्त मिलने पर पुनः पाप से न जुड़ जाए इसलिए पाँच आवश्यकों के अंत में साधक, पाप से सुरक्षित होने के लिए पाप

4. सामायिक, चउविसत्थो एवं वंदन नाम के आवश्यक का विस्तृत वर्णन सूत्र संवदेना भाग-१ में करेमि भंते, लोगस्स, इच्छकार आदि सूत्र की विवेचना में प्रस्तुत किया गया है। इन छः आवश्यकों का विस्तृत विवरण 'वंदित्तु सूत्र' की गाथा ४१ में है।

संबंधी **'पच्चक्खाण'** नामका छठा आवश्यक करता है। प्रतिक्रमण एवं कायोत्सर्ग ये दो आवश्यक दोषों की शुद्धि के लिए हैं, जबकि यह आवश्यक, पाप की विरति के लिए है। इस आवश्यक में चौविहार आदि पच्चक्खाण करके साधक आहार पानी के विषय में घूमते हुए मन का निरोध करता है एवं देशावगासिक का पच्चक्खाण करके दुनिया भर की पाप प्रवृत्तियों का संक्षेप करता है।

इस प्रकार वर्तमान का प्रतिक्रमण छः आवश्यक का समूह है जो आत्मशुद्धि का एक अनन्य उपाय है।

प्रतिक्रमण का अधिकारी :

प्रतिक्रमण आत्मशुद्धि का एक अनन्य उपाय है, ऐसी समझ मिलते ही आत्मशुद्धि के चाहक को सहज ही जिज्ञासा होती है कि यह प्रतिक्रमण कौन कर सकता है ? प्रतिक्रमण का अधिकारी कौन है ? क्योंकि विचारक व्यक्ति समझता है कि जिस कार्य का जो अधिकारी[5] हो यदि वह उस कार्य को करे तो ही उसे सफलता मिलती है। इसलिए कार्य करने के पहले अधिकारी के बारे में सोचना अनिवार्य बन जाता है।

सामान्यतया सोचें तो जिनमें **पाप होने की संभावना** हो एवं जो उस पाप से मलिन बनी हुई **आत्मा को शुद्ध करने की भावना** रखते हो, वैसे **अपुनर्बंधक**[6] से लेकर प्रमत्त संयत तक के सर्व साधक प्रतिक्रमण के अधिकारी हैं।

जड़ जैसे बाह्य तत्त्वों को अपने सुख-दुःख का कारण मानकर जीव अनादिकाल से इस संसार में भ्रान्त होकर भ्रमण कर रहा है। उसमें कर्म की कुछ लघुता प्राप्त

---

5. **अहिगारिणो उवाएण होइ सिद्धि समत्थवत्थुम्मि ।**
फलपगरिसभावाओ विसेसओ जोगमग्गम्मि ।।८ ।। - योगशतक

समस्त वस्तुओं में अधिकारी को ही उपायों के सेवन से कार्य की सिद्धि प्राप्त होती है। योग मार्ग मुक्ति रूपी फल का उपाय होने से उसमें विशेष रूप से अधिकारी को ही उपाय द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है।

6. **पावं न तिव्वभावा कुणइ, ण बहुमण्णई भवं घोरं**
उचियट्ठिइं च सेवइ सव्वत्थ वि अपुणबंधो ति ।।१३ ।। - योगशतक

जो जीव १. तीव्र भाव से पाप नहीं करता २. घोर संसार को बहुमान नहीं देता एवं ३. सर्वदा उचित स्थिति का सेवन करता है, उसे अपुनर्बंधक कहते हैं।

होने पर एवं काल परिपक्व होने पर, जब जीव को ऐसी समझ प्राप्त होती है कि पौद्गलिक वस्तुओं की प्राप्ति या अप्राप्ति हमें सुखी या दुःखी नहीं करती, परंतु सुख दुःख के कारण तो अपने ही गुण या दोष हैं, अथवा अपने ही शुभ-अशुभ भाव या शुभ-अशुभ प्रवृत्ति हैं, तब उसकी दिशा बदल जाती है। संसार तरफ की उसकी रुचि पलट जाती है, आत्मा को दूषित करने वाले दोष ही मेरे दुःख के कारण हैं, ऐसा विवेक प्राप्त होता है। इससे उसमें दोषों की खटक पैदा होती है एवं दोषों से मलिन बनी हुई आत्मा को शुद्ध करने की भावना जागृत होती है। ऐसी भावना वाले जीव को शास्त्रीय भाषा में अपुनर्बंधक कहा जाता है। यहाँ से प्रारंभ करके छट्ठे गुणस्थान तक के जीव प्रतिक्रमण के अधिकारी हैं।

जिज्ञासा : अपुनर्बंधक से नीचे की कक्षा के जीव या प्रमत्त संयत से ऊपर की कक्षा के जीव प्रतिक्रमण के अधिकारी क्यों नहीं हैं ?

तृप्ति : अपुनर्बंधक से नीचे की कक्षा के जीव में तो आत्मा की पहचान ही नहीं होने से आत्मा को शुद्ध करने की भावना ही प्रकट नहीं होती, इसलिए वे वास्तव में प्रतिक्रमण के अधिकारी नहीं होते। जबकि प्रमत्त संयत से ऊपर की कक्षा के साधकों में प्रमादादि दोष नहीं होते, इसलिए उनके जीवन में स्वीकार किए हुए व्रत में कोई अतिचार या दोषों की संभावना नहीं रहती है। अतः प्रमत्त संयत से ऊपर के अप्रमत्त संयत इस प्रकार के (पाप से पीछे लौटने वाले) प्रतिक्रमण के अधिकारी नहीं होते।

निश्चयनय से प्रतिक्रमण के अधिकारी :

हमने शुरू में ही देखा कि प्रतिक्रमण की यह क्रिया आत्मशुद्धि की क्रिया होने से अध्यात्म की या योगमार्ग की क्रिया बन जाती है।

निश्चयनय की दृष्टि से योग के अधिकारियों के आधार पर यदि प्रतिक्रमण के अधिकारी की विचारणा करें तो देशविरतिधर या सर्वविरतिधर महात्मा ही प्रतिक्रमण के अधिकारी होंगे क्योंकि पाप से अटकने का भाव विरति रूप है, एवं यह विरति का परिणाम उस प्रकार के चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से ही प्राप्त होता है और ऐसा क्षयोपशम पाँचवें एवं छठे गुणस्थानकवर्ती देशविरतिधर या सर्वविरतिधर में ही संभवित है। इसलिए निश्चयनय के अनुसार वे ही प्रतिक्रमण के अधिकारी हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम के धारक सर्वविरतिधर महात्मा पाप को पापरूप समझते हैं और ऐसी समझ से ही वे पाप का सर्वथा त्याग करते हैं, फिर भी प्रमादादि दोषों के कारण कभी व्रत मलिन बने वैसी पाप प्रवृत्ति उनसे भी हो जाती है। भव भ्रमण के भय के कारण साधु को जब अपनी भूल समझ में आती है, तब अपने अतिचार उत्पादक विचारों या वर्तन के प्रति उन्हें बहुत ही पश्चात्ताप होता है। इन अतिचारों से वापस लौटने के लिए वे प्रतिक्रमण की विशिष्ट क्रिया करते हैं एवं उसके द्वारा मलिन बने हुए व्रतों को शुद्ध कर पुनः व्रत की मर्यादा में स्थिर हो जाते हैं। इस कारण निश्चयनय ऐसे प्रमत्त संयत को प्रतिक्रमण का अधिकारी स्वीकारता है।

पाँचवें गुणस्थानकवर्ती देशविरतिधर भी अपनी शक्ति अनुसार व्रत स्वीकार करते हैं एवं व्रत के परिणामों का भी अनुभव कर सकते हैं। उनमें पाप की पूरी समझ होने पर भी कर्म की परतन्त्रता के कारण वे सम्पूर्णतया पाप से विराम नहीं पा सकते। फिर भी अपनी शक्ति के अनुसार थोड़े पाप से अटकते हैं परंतु अधिकतर पाप की उन्हें छूट होती है। गृहस्थ जीवन गुजारते हुए उनसे जो पाप हो जाते हैं अथवा उनको जो पाप करने ही पड़ते हैं वे पाप इन जीवों को शल्य की तरह चुभते हैं। इनसे शुद्ध होने की उनमें तीव्र भावना होती है। इसलिए जब जब उनसे पाप होता है या व्रत में मलिनता आती है, तब-तब ऐसे जीव प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि करके, पुनः व्रत की मर्यादा में लौट आने का प्रयत्न करते हैं। चारित्रमोहनीय कर्म का इस प्रकार का क्षयोपशम होने के कारण उनको उसमें सफलता भी प्राप्त होती है। इसलिए निश्चयनय ऐसे जीवों को भी प्रतिक्रमण के अधिकारी के रूप में स्वीकार करता है।

निश्चयनय से प्रतिक्रमण के अधिकारी का भी उत्सर्ग एवं अपवाद से प्रतिक्रमण :

निश्चयनय से देशविरतिधर या सर्वविरतिधर प्रतिक्रमण के अधिकारी कहलाते हैं। जब इन का प्रतिक्रमण अकरण के नियमपूर्वक होता है अर्थात् जिस पाप का प्रतिक्रमण किया हो वह पाप दोबारा नही होता हो, तब उनका प्रतिक्रमण उत्सर्ग से प्रतिक्रमण कहलाता है। अनादि के कुसंस्कारों के कारण से प्रतिक्रमण करने के बाद भी पुनः वैसे ही पाप का सेवन हो जाता हो, फिर भी अगर वे पश्चात्ताप आदि

के भाव से प्रतिक्रमण करके शुद्ध होने का प्रयत्न करे, तो उनका प्रतिक्रमण अपवाद से प्रतिक्रमण कहलाता है।

व्यवहारनय से प्रतिक्रमण के अधिकारी :

व्यवहारनय तो योग के कारणों को भी योग रूप से स्वीकारता है। इसलिए वह अपुनर्बंधक या सम्यग्दृष्टि जीवों की रूचि एवं भावना को लक्ष्य में रखकर, उनको भी प्रतिक्रमण के अधिकारी मानता है। उनमे विरति का अध्यवसाय नहीं होता, फिर भी वे पाप को पाप रूप समझते हैं, पाप से लौटकर आत्मशुद्धि की उनकी भावना होती है एवं भावना के अनुरूप उनका प्रयत्न भी होता है। इसलिए कारण में कार्य का उपचार करने वाला व्यवहारनय अपुनर्बंधक एवं सम्यग्दृष्टि को भी प्रतिक्रमण के अधिकारी मानता है।

चौथे गुणस्थानक वाले अविरत सम्यग्दृष्टि की हालत तो ऐसी होती है कि उनमें पाप को समझने की सूक्ष्म दृष्टि होती है, वे उन पापों के फल को अच्छी तरह से जानते भी हैं; लेकिन चारित्रमोहनीयकर्म रूपी जंजीर से वे ऐसे जकड़े हुए होते हैं कि पाप से छूटने के मार्ग पर वे एक कदम भी नहीं उठा सकते। ऐसे जीवों को पाप करने की रुचि नहीं होती, परंतु पाप के प्रति उनको तीव्र तिरस्कार एवं घृणा होती है और पाप से छूटने की तीव्र भावना होती है। इसलिए वे पाप से छूटने का प्रयत्न भी करते हैं; परंतु अविरति के उदय के कारण अथवा सत्त्व की अल्पता के कारण वे अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रख सकते। फिर भी पाप से वापस लौटने की उनकी भावना को लक्ष्य में रखकर व्यवहारनय अविरत सम्यग्दृष्टि को भी प्रतिक्रमण का अधिकारी मानता है।

इससे नीचे की भूमिका में रहे हुए अपुनर्बंधक जीवों को तो पाप की पूर्ण समझ भी नहीं होती, मिथ्यात्व के उदय के कारण सूक्ष्म पापों को तो वे पाप रूप से जान भी नहीं सकते। तो भी जितनी मात्रा में उनका मिथ्यात्व मंद पड़ा हो एवं बोध की जो थोड़ी भी निर्मलता प्राप्त हुई हो, उतनी मात्रा में वे पाप को पाप रूप स्वीकारते हैं, कदाचित पाप करना पड़े तो भी वे तीव्र भाव से याने पाप करने में कोई नुकसान नहीं, ऐसा मानकर पाप नहीं करते। इसके अलावा वे भाव से व्रत स्वीकार नहीं कर सकते, परंतु जो द्रव्य अभिग्रहों का पालन करते हैं, उनमें कहीं भी स्खलना

हुई हो तो उन दोषों के प्रति उनमें जुगुप्सा होती है और सतत पाप से छूटने की भावना होती है; इसलिए व्यवहारनय तो ऐसे अपुनर्बंधक जीवों को भी प्रतिक्रमण के अधिकारी के तौर से स्वीकारता है।

अपुनर्बंधक से नीचे की भूमिका के जीवों में मिथ्यात्व का गाढ उदय होता है, इसलिए वे पाप को पाप रूप नहीं समझ सकते। शायद कभी समझ भी जाऐं तो भी पाप के कैसे भयंकर परिणामों को सहन करना पड़ेगा, इस बात की उन्हें श्रद्धा नहीं होती। इसलिए उनको पाप से मुक्त होकर आत्मिक सुख पाने की इच्छा भी नहीं होती। जहाँ आत्मिक सुख की इच्छा ही न हो वहाँ पाप से मलिन बनी आत्मा को शुद्ध करने के उपाय स्वरूप प्रतिक्रमण की तो इच्छा ही कहाँ से होगी? हाँ ! कभी पाप के कारण दुःख आता है ऐसा सुनकर, ऐसे जीव दुःख के डर से पाप शुद्धि की इच्छा करते हैं एवं कभी कभी पाप शुद्धि के लिए प्रवृत्ति भी करते हैं फिर भी वे मात्र भौतिक दुःख से छूटने के लिए ही क्रिया करते हैं। इसलिए हकीकत में वे प्रतिक्रमण के अधिकारी नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि **जिन्हें रागादि आत्मिक दुःख से मुक्त होना हो वे ही प्रतिक्रमण के अधिकारी हैं** ।

यहाँ इतना खास ध्यान में रखना है कि प्रतिक्रमण के अधिकारी ये सब हैं, फिर भी आत्मशुद्धि रूप फल की अपेक्षा से सोचें तो, जिनकी भावशुद्धि विशेष हो, सत्त्व एवं समझ की मात्रा अधिक हो, वे प्रतिक्रमण द्वारा विशेष प्रकार की शुद्धि प्राप्त कर सकते हैं। नीचे की भूमिका वाले भी अगर मन को एकाग्र करके पश्चात्ताप की भावना को तीव्र बनाकर, दृढ सत्त्वपूर्वक प्रतिक्रमण करें, तो दृढ़प्रहारी, अईमुत्ता मुनि आदि की तरह पूर्ण शुद्धि पा सकते हैं।

यहाँ यह भी खास ध्यान में रखना है कि जिन्होंने भाव से व्रत, नियम स्वीकारे हैं, परंतु प्रमादादि दोषों के कारण व्रतों की मर्यादा टूट गई हो, वे जीव ही प्रतिक्रमण के अधिकारी हैं ऐसा नहीं है । वास्तव में व्रत, नियम के भाव तक पहुँचने के लिए जिन्होने द्रव्य से नियम स्वीकारें हैं और उनमें दोष लगा हो अथवा व्रत, नियम स्वीकारें भी नहीं; परंतु विषय-कषाय की अधीनता के कारण हुए पाप जिन्हें खटकते हैं, वैसे सभी जीव प्रतिक्रमण के अधिकारी हैं।

इसका अर्थ यह हुआ कि जो अपनी बुद्धि एवं क्षयोपशम के अनुसार पाप को पापरूप स्वीकारते हों, पाप से मुक्त होने की जिनकी भावना होती हो और उस

भावना अनुसार जो प्रयत्नशील भी रहते हों, पाप से मुक्त होने के लिए जो दिनभर में हुए पाप को अपनी स्मृति में रखते हों और पाप प्रवृत्ति न हो जाए इसलिए मन-वचन-काया पर सतत पहरा रखते हों, नहीं बोलने लायक बोला न जाए, नहीं करने लायक किया न जाए एवं न सोचने लायक सोचा भी न जाए उसके लिए जागृत रहते हों, और अगर ऐसी जागृति के बावजूद जो पाप हो जाए उन पापों की क्षमा माँगकर जिन्हें आत्मा की सुविशुद्ध अवस्था प्राप्त करने की एक लगन लगी हो वे ही प्रतिक्रमण के अधिकारी हैं। परंतु जो पाप को पाप रूप नहीं स्वीकारते, पाप से शुद्ध होने की जिनकी भावना भी नहीं होती, मात्र 'सब करते हैं इसलिए हमें भी प्रतिक्रमण करना चाहिए, प्रतिक्रमण करेंगे तो कुछ तो भला होगा,' ऐसी लोकसंज्ञा या ओघ संज्ञा वाले जीव वास्तव में प्रतिक्रमण के अधिकारी नहीं होते। फिर भी भाव दया से पवित्र अंत:करण वाले गुरुभगवंत ऐसे जीवों को भी प्रतिक्रमण करने से नहीं रोकते। वे समझते हैं कि अनाग्रही जीव इस तरीके से भी धर्मक्षेत्र में आएँगे तो कभी उनको सत्य समझा सकेंगे और यदि ये जीव प्रज्ञापनीय कक्षा के होंगे, तो वे भी कभी इस विधिमार्ग को समझकर स्वीकारेंगे; इस तरह से भी उनका आत्म कल्याण हो सकता है। इसलिए गुरु भगवंत ऐसे जीवों को भी प्रतिक्रमण करने से नहीं रोकते; परंतु जो विधि मार्ग की अत्यंत उपेक्षा करते हैं, किसी भी तरह करें तो चलता है ऐसा मानते हैं, वे तो प्रतिक्रमण के अधिकारी ही नहीं हैं। इसलिए उनको प्रतिक्रमण न देना वही योग्य[7] है।

प्रतिक्रमण किसका करना ?

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं,
असद्दहणे अ तहा, विवरीअ - परूवणाए अ ॥४८॥

प्रतिक्रमण पापों का करना है और पाप के चार स्थान हैं :

१. भगवान ने जिनका निषेध किया है वैसे हिंसा, झूठ आदि पाप के अठारह स्थान हैं, उनका सेवन करना पाप है।

---

7. ये त्वपुनर्बन्धकादि भावमप्यस्पृशन्तो विधिबहुमानादिरहिता गतानुगतिकतयैव चैत्यवन्दनाद्यनुष्ठानं कुर्वन्ति ते सर्वथाऽयोग्या एवेति व्यवस्थितम्॥१३॥

- योगविंशिकावृत्तौ

२. अपनी अपनी भूमिका के अनुसार जो जो कर्तव्य करने योग्य हों वह न करना पाप है।

३. भगवान के बताए हुए तत्त्वों, आदर्शों के प्रति मन में हुई अश्रद्धा पाप है।

४. सर्वज्ञ के वचन से विपरीत प्ररूपणा करना पाप है।

इन चार प्रकार के पापों का प्रतिक्रमण करना है । इनका विस्तार से वर्णन इस सूत्र के विशेषार्थ में प्राप्त होगा।

प्रतिक्रमण कब करना चाहिए ?

उत्सर्ग मार्ग से, दैवसिक प्रतिक्रमण के लिए सूर्यास्त हो तब 'पगाम सिज्जाय' या 'वंदित्तु सूत्र' आए और रात्रि प्रतिक्रमण के लिए प्रातः दस प्रतिलेखना करने के बाद सूर्योदय हो, ऐसी समय मर्यादा का पालन करने का विधान है।

अपवाद मार्ग से तो दिन के तीसरे प्रहर से लेकर अर्ध रात्रि अर्थात् रात्रि के दो प्रहर पूरे होने तक दैवसिक प्रतिक्रमण एवं रात्रि के तीसरे प्रहर से दिन के दूसरे प्रहर तक रात्रिक प्रतिक्रमण हो सकता है। संक्षिप्त में रात के लगभग १२.३० से दिन के १२.३० बजे तक रात्रि प्रतिक्रमण एवं दिन के १२.३० से रात के १२.३० तक दैवसिक प्रतिक्रमण हो सकता है । यद्यपि आवश्यक चूर्णि में बताया गया है कि रात्रि प्रतिक्रमण 'बहुपडिपुन्ना पोरिसि' तक कर सकते हैं; परंतु व्यवहार सूत्र में बताया गया है कि पुरिमुड्ढ (मध्याह्न) तक रात्रि प्रतिक्रमण किया जा सकता है।

पाक्षिक आदि तीन प्रतिक्रमण तो अनुक्रम से पक्ष के अंत में, चार महीनों के अंत में एवं वर्ष के अंत में करने का विधान है। उसमें पक्खी प्रतिक्रमण हर चौदस को, चातुर्मासिक प्रतिक्रमण अषाढ़, कार्तिक एवं फाल्गुण महीने की शुक्ल चौदस को एवं सांवत्सरिक प्रतिक्रमण औदयिक भाद्र पद शुक्ल चौथ के दिन होता है।

प्रतिक्रमण कहाँ करना चाहिए ?

जहाँ प्रतिक्रमण करना हो वह स्थान स्त्री, पशु, नपुंसक आदि के आवागमन और कीड़ी वगैरह जीवों की विशेष उत्पत्ति, उपद्रव से रहित होना चाहिए । वैसे स्थान में श्री गुरु भगवंत के समक्ष प्रतिक्रमण करना चाहिए, क्योंकि गुरु भगवंतों की उपस्थिति आत्मा का उत्साह-वीर्य बढ़ाती है एवं प्रतिक्रमण में होनेवाले प्रमाद

को रोकती है। 'श्राद्ध विधि' आदि ग्रंथ में तो यहाँ तक कहा है कि अगर बारह मील तक भी गुरु निश्रा मिलती हो तो गुरु की हाजरी में ही प्रतिक्रमण करना चाहिए और साक्षात् गुरु भगवंत की उपस्थिति न हो तो भी पुस्तकादि ज्ञान, दर्शन, चारित्र के उपकरणों में गुरु भगवंत की स्थापना करके मानो साक्षात् गुरु भगवंत उपस्थित हैं, ऐसे भावपूर्वक प्रतिक्रमण करना चाहिए।

प्रतिक्रमण की सफलता के लिए इन सब बातों को ध्यान में रखने के अलावा प्रतिक्रमण की प्रत्येक क्रिया करते हुए कौनसी मुद्रा में काया को स्थिर रखना चाहिए, क्रिया काल में प्रयोग होने वाले सूत्रों का शुद्ध उच्चारण किस तरह से करना चाहिए, उनके द्वारा भाव तक कैसे पहुँचना चाहिए एवं उस समय मन को कौन से ध्यान में स्थिर करना चाहिए ? इन सब बातों की जानकारी प्राप्त करके, उसके लिए खास प्रयत्न करना चाहिए, तो ही भाव पूर्ण प्रतिक्रमण करके आत्मशुद्धि की प्राप्ति हो सकती है।

इस भाव तक पहुँचनें के लिए बहुत से सूत्रों के अर्थ सूत्र संवेदना भा. १-२-३ (गुजराती आवृत्ति) में बताए हैं। दो प्रतिक्रमण के बाकी के सूत्रों के अर्थ भाग-५ में प्रकाशनाधीन है। अनेक जिज्ञासुओं के आग्रह के कारण श्रावक प्रतिक्रमण में सर्वोच्च स्थान पर रहा हुआ 'वंदित्तु-सूत्र' अब हिन्दी भाषा में प्रस्तुत हो रहा है। इसको मात्र एक बार पढ़कर नहीं परंतु पुनः-पुनः इसका चिन्तन एवं मनन करके, इसके भावों को हृदय में स्थिर करके जो प्रतिक्रमण करेंगे, वे अवश्य इस सूत्र द्वारा आत्मशुद्धि को प्राप्त कर पाएँगे। हर कोई इस प्रकार आत्मशुद्धि की प्राप्ति द्वारा शीघ्रातिशीघ्र परमपद को प्राप्त करे यही शुभाभिलाषा।

'वंदित्तु सूत्र'

श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र

सूत्र परिचय :

इस सूत्र के माध्यम से श्रावकगण पाप से वापस लौटने की क्रिया करते हैं। इस कारण इसे **'श्राद्ध प्रतिक्रमण सूत्र', 'श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र'** अथवा **'समणोपासग पडिक्कमण सूत्त'** भी कहते हैं। इस सूत्र की हर एक गाथा एवं प्रत्येक पद श्रावक को अपना जीवन किस प्रकार से जीना, आत्मा की अशुद्धिओं का त्याग करके कैसे शुद्ध बनना, पाप प्रवृत्ति से लौटकर पुण्य के मार्ग पर किस तरीके से आगे बढ़ना, अनियंत्रित जीवन को किस तरह नियंत्रित बनाना एवं आत्मा की विरूप अवस्था को दूर करके स्वरूप में कैसे स्थिर रहना चाहिए; उसका मार्ग बताता है।

इस जगत में ऐसे संख्यातीत पदार्थ और भाव हैं जो आत्मा को पाप के मार्ग पर खींच सकते हैं। शास्त्र के मर्म को समझने वाले महासात्त्विक श्रमण भगवंत ही इन सब भावों का त्याग कर सकते हैं। सम्यग् दर्शन को धारण करने वाले श्रावक को भी इन सब पापों का त्याग करने की भावना होती ही है, परंतु वर्तमान में वे इन पापों का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते। फिर भी विवेकी श्रावक जिनका त्याग कर सकते हैं, वैसे पदार्थ भी इस संसार में बहुत हैं। सर्वज्ञ भगवान ने उन सब पदार्थों का संक्षेप करके बारह विभागों में बाँटकर, उनके त्याग स्वरूप श्रावक जीवन के उचित बारह व्रत बताएं हैं। इन बारह व्रतों के या उनमें से कुछ न्यून व्रतों के स्वीकार को देशविरति या देशसंयम कहते हैं और अहितकारी सब पापों के त्याग को सर्वविरति या सर्वसंयम कहते हैं।

श्रावक को पाप से सम्पूर्ण विराम कराए ऐसा सर्वविरति रूप संयम जीवन अति प्रिय होता है। श्रद्धालु श्रावक समझता है कि, 'जब तक मैं सब पापों से नहीं छुटूँगा तब तक मुझे सुख या शांति की प्राप्ति नहीं होगी, ऐसी समझ होते हुए भी जहाँ तक संयम जीवन स्वीकारने का सत्त्व प्रकट न हुआ हो वहाँ तक उस सत्त्व को प्रकट करने के लिए ही श्रावक इस सूत्र में वर्णित 'सम्यक्त्व मूल बारह व्रतों' को अथवा अपनी शक्ति अनुसार न्यूनाधिक व्रतों को स्वीकारता है अर्थात् हिंसादि पापों से बचने के लक्ष्य पूर्वक स्थूल हिंसा नहीं करना, स्थूल झूठ नहीं बोलना आदि व्रतों को स्वीकारता है एवं अन्यों की जयणा (यतना) रखता है।

जयणा या यतना का अर्थ है सुदृढ प्रयत्न। इसलिए इस संदर्भ में पाप से बचने की भावना पूर्वक के सुयोग्य प्रयत्न को जयणा कहते हैं। जैसे कि, बड़े जीवों की हिंसा मुझे नहीं करनी ऐसा नियम स्वीकार कर श्रावक जानबुझकर त्रस[1] जीवों की हिंसा तो नहीं ही करता, परंतु पृथ्वी, पानी आदि स्थावर जीवों की हिंसा भी वह अत्यंत आवश्यकता के बिना नहीं करता एवं आवश्यकता होने पर भी आवश्यकता से अधिक हिंसादि ना हो उसकी खूब सावधानी रखता है। स्थावर जीवों को बचाने के उसके ऐसे प्रयत्न को जयणा कहते हैं। जब श्रावक को अनिवार्य संयोगों में पृथ्वी, पानी आदि की हिंसा करनी पड़ती है, तब भी उसके हृदय में एक चुभन तो रहती ही है और उस पाप से भी छूटने का वह सतत प्रयत्न करता है। ऐसे प्रयत्न के बावजूद अनादि अभ्यस्त विषय-कषाय एवं प्रमादादि दोष उसके व्रतों को मलिन कर देते हैं। इस मलिनता को दूर करने के लिए ही इस सूत्र में आलोचना, निन्दा, गर्हा एवं प्रतिक्रमण जैसे चार उत्तम साधन बताए गए हैं।

धर्मबिन्दु, योगशास्त्र, धर्मसंग्रह आदि अनेक ग्रंथों में इन बारह व्रतों का एवं उनको मलिन करने वाले अतिचारों का विस्तृत वर्णन है। यहाँ तो संक्षेप में व्रतों को बताकर सिर्फ व्रत मलिन करने वाले बड़े-बड़े दोषों का वर्णन किया है। स्थूल दोषों के आधार पर साधकों को अपने सूक्ष्म से सूक्ष्म दोषों का विचार स्वयं करना हैं एवं उनके आधार पर भूतकाल के दोषों की शुद्धि करके भविष्य में इस प्रकार के

---

1. अपनी मरजी से एक स्थान से दूसरे स्थान जाने की शक्तिवाले जीव याने हलन-चलन कर सकें ऐसे जीवों को त्रस जीव कहते हैं। जैसे कि बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय जीव, इसके अलावा जो जीव हलन-चलन नहीं कर सकते उन्हें स्थावर कहते हैं।

दोषों का आसेवन ना हो जाए, इसलिए ज्यादा सावधान बनना है। अगर साधक सावधान न बने तो अनादिकालीन विषय-कषाय के संस्कार एवं सतत मिलते हुए निमित्त, साधक को कब गिरा दें यह कह नहीं सकते। निमित्तों के प्रभाव से बचने एवं मन को मर्यादित बनाने के लिए ही व्रत संबंधी दोषों की विचारणा इस सूत्र में की गई है।

इस सूत्र में मुख्यतया श्रावक के बारह व्रतों एवं उन व्रतों को मलिन बनाए वैसे १२४ अतिचारों का (दोषों का) विस्तृत वर्णन किया गया है। **यह वर्णन दोषों के प्रति सजगता विकसित करने के लिए है, परंतु ये तो अतिचार हैं, व्रत भंग नहीं, ऐसा मानकर दोषों के सेवन के लिए नहीं है।**

यहाँ इतना खास ध्यान रखना है कि, इस सूत्र में बताए गए अतिचारों का अज्ञान से या कोई विशेष संयोग में सेवन हो गया हो तो ही ये अतिचार रूप बनते हैं, परंतु व्रतपालन में निरपेक्ष बन, जानबुझकर अगर अतिचारों का आसेवन हुआ हो तो वे अतिचार, अतिचार न रहकर अनाचार या व्रत भंग रूप ही बनते हैं एवं उन अतिचारों का प्रतिक्रमण इस सूत्र द्वारा नहीं हो सकता। उनके लिए तो गुरु भगवंत के पास जाकर ही विशेष प्रकार का प्रायश्चित करना जरूरी होता है।

विचार पूर्वक, हृदय के भाव एवं योग्य प्रकार की संवेदनाओं के साथ यदि यह सूत्र बोला जाए तो जरूर दिन, रात्रि, पक्ष, चातुर्मास और वर्ष दरम्यान किए हुए सर्व पाप निर्मूल हो सकते हैं, परंतु भाव बिना मात्र सूत्र बोलने से कोई विशेष फल की प्राप्ति नहीं होती।

इसलिए इस सूत्र के माध्यम से जिन्हें आत्म-शुद्धि करनी हों, उन्हें यह सूत्र बोलने से पूर्व मात्र शुद्ध उच्चारण कैसे करना इतना ही नहीं, परंतु शुद्धोच्चारण के साथ कौन से भाव तक पहुँचना है एवं किस प्रकार की संवेदना की आग को अंतर में प्रकटानी है, उसका भी अभ्यास करना अति अनिवार्य बनता है। वैसा करने से ही वे इस सूत्र का फल प्राप्त कर सकते हैं। जो इस तरीके से सूत्र के मर्म तक पहुँचने का प्रयत्न नहीं करते वे शायद अल्प पुण्य बंध कर सकते हैं, परंतु आत्म-शुद्धि रूप उच्च फल प्राप्त नहीं कर सकते।

गाथाओं का क्रम :

इस सूत्र में बताए गए व्रतों का विशुद्ध पालन करना एवं व्रत दूषण से बचना, ये एक अति विकट कार्य है। इस विकट कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिए इस सूत्र के प्रारंभ की सर्व**प्रथम** गाथा में पंच परमेष्ठी को वंदन करने रूप मंगलाचरण किया गया है। एकाग्रचित्त से पंच परमेष्ठि का ध्यान करने से विघ्न दूर होते हैं एवं व्रत पालन की विशिष्ट शक्ति प्रकट होती है।

मोक्ष की प्राप्ति ज्ञानादि गुणों के सम्पूर्ण विकास से होती है। इन ज्ञानादि गुणों की साधना करने एवं ज्ञानादि गुणों में रमणता प्राप्त करने के लिए व्रत पालन आवश्यक है। व्रत विषयक दोषों के नाश के लिए **दूसरी गाथा** में उनका सामुदायिक प्रतिक्रमण किया गया है। आरंभ एवं परिग्रह सब दोषों के मूल स्वरूप हैं। इसलिए तद्विषयक दोषों का प्रतिक्रमण **तीसरी गाथा** में किया गया है।

पंचाचार का पालन श्रावक जीवन का परम कर्त्तव्य है। उनमें सर्वप्रथम रहने वाला ज्ञानाचार कितना व्यापक है एवं इन्द्रिय और कषाय की अधीनता से हर पल उनमें कैसे दोष लगते हैं, उनको बताकर उन दोषों की निन्दा **चौथी गाथा** में की गई है।

उसके बाद दर्शनाचार में बाह्य एवं अंतरंग तरीके से कौन से दोष लगते हैं उनको बताकर, उन दोषों की निन्दा **पाँचवीं** एवं **छठी** गाथा में की गई है।

गृहस्थ जीवन में रसोई करना लगभग अनिवार्य है; फिर भी रसोई करते हुए अयतना से जो कोई हिंसादि दोष लगे हों, तो उनका प्रतिक्रमण **सातवीं** गाथा में किया गया है।

उसके बाद चारित्राचार की विगत बताते हुए **आठवीं गाथा से बत्तीसवीं गाथा** तक श्रावक जो व्रत अंगीकार करता है, उन बारह व्रतों का एवं उनमें संभवित दोषों का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही दोषों से मलिन बनी हुई आत्मा को आलोचना, निन्दा, गर्हा एवं प्रतिक्रमण रूप उपाय द्वारा निर्मल करने का सुन्दर मार्ग भी बताया है।

तत्पश्चात् तपाचार के विषय में श्रमण एवं श्रावक मृत्यु समय समीप आने पर 'समाधि मरण' के लिए जिस संलेखना व्रत का (अनसन व्रत का) स्वीकार करते

हैं, उसमें कोई दोष न लगे इसलिए पहले से ही सुन्दर भावना द्वारा सावधान रहने का अलौकिक मार्ग **तैंतीसवीं** गाथा में बताया है। तपाचार में जिस प्रकार संलेखना तप के बारे में बताया है उसी प्रकार बाकी के सभी तप संबंधी दोष न लगें वह स्वयं सोच लेना है।

इस तरीके से ज्ञानाचार आदि चार आचारों का पालन एवं उनके दोषों का वर्णन सूत्रकार भगवंत ने स्वयं किया है। वीर्याचार सर्वत्र व्यापक होने से उसका अलग वर्णन नहीं किया है; परंतु शक्ति अनुसार इन व्रतों का अग्रहण, अपालन या विपरीत पालन में वीर्याचार का अतिचार लगता है, ये बात स्वयं समझ लेनी है।

चौंतीसवीं गाथा में शुभ योगों के प्रवर्तन द्वारा मन, वचन, काया के अशुभ प्रवर्तन से लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमण करने का निर्देश है एवं **पैंतीसवीं गाथा** में विविध प्रकार की धर्म क्रियाओं में लगे दोषों का प्रतिक्रमण किया गया है।

जिन दोषों का आसेवन पुनः पुनः होता है, वैसे दोषों के प्रतिक्रमण से क्या फायदा ? इस प्रकार की शंका के समाधान रूप **छत्तीस से इकतालीस गाथा** तक प्रतिक्रमण करने से किस प्रकार का विशिष्ट लाभ होता है, साधक कर्म बंध से किस प्रकार बचता है, कर्म के भार से किस तरीके से हल्का हो सकता है आदि विवेचन दृष्टांत पूर्वक हृदय को स्पर्शे वैसे सुंदर तरीके से बताया गया हैं।

स्थूल अतिचारों की आलोचना करने के बाद ख्याल में न आए वैसे सूक्ष्म अतिचारों की आलोचना, निन्दा एवं गर्हा **बयालीसवीं गाथा** में की गई हैं। **गाथा तैंतालीस** में विराधना से हटकर आराधना के लिए उठते हुए चौबीस जिनों की वंदना रूप, मध्यम मंगलाचरण किया है। उसके बाद दो गाथाओं में उसी उद्देश से सर्व मन्दिरों की एवं सर्व साधु भगवंतों की वंदना की गई है। **गाथा छियालीस** में श्रावक को अपना सम्पूर्ण दिन किस तरह बिताना चाहिए, उसकी सुन्दर भावना व्यक्त की गई है। **सैंतालीसवीं गाथा** में अरिहंतादि उत्तम पुरुषों को मंगलरुप स्वीकार कर, सम्यग्दर्शन गुण धारक देवों से समाधि एवं बोधि की प्रार्थना की गई है।

आचार एवं व्रत विषयक अतिचारों का वर्णन करने के बाद जिन चार कारणों से अतिचार लगते हैं, वैसे प्रतिक्रमण के मुख्य हेतुओं को बताकर, व्रतधारी या व्रत

स्वीकार नहीं किए हुए व्यक्ति दोनों के लिए प्रतिक्रमण किस तरीके से हितकारी हैं, यह बात **अड़तालीसवीं गाथा** में की गई हैं।

सूत्र के प्रांत भाग में प्रतिक्रमण की क्रिया के हार्द स्वरूप सर्व जीवों के प्रति मैत्री भावना का मंगल निर्देश हैं, जिसके द्वारा सब जीवों के साथ बंधे हुए वैर के अनुबंध को निर्मूल कर देना हैं। **अन्तिम गाथा में** आलोचना, निन्दा, गर्हा करते हुए अंतिम मंगल रूप चोबीस जिनों की वंदना की गई हैं।

मूल सूत्र :

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धम्मायरिए अ सव्वसाहू अ ।
इच्छामि पडिक्कमिउं, सावग-धम्माइआरस्स ।।१।।

जो मे वयाइआरो, नाणे तह दंसणे चरित्ते अ ।
सुहुमो अ (व) बायरो वा, तं निंदे तं च गरिहामि ।।२।।

दुविहे परिग्गहम्मी, सावज्जे बहुविहे अ आरंभे ।
कारावणे अ करणे, पडिक्कमे देसिअं (राइअं) सव्वं ।।३।।

जं बद्धमिंदिएहिं, चउहिं कसाएहिं अप्पसत्थेहिं ।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ।।४।।

आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणे अणाभोगे ।
अभिओगे अ निओगे, पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।५।।

संका कंख विगिच्छा, पसंस तह संथवो कुलिंगीसु ।
सम्मत्तस्सइआरे पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।६।।

छक्काय-समारंभे, पयणे अ पयावणे अ जे दोसा ।
अत्तट्ठा य परट्ठा, उभयट्ठा चेव तं निंदे ।।७।।

पंचण्हमणुव्वयाणं, गुणव्वयाणं च तिण्हमइआरे ।
सिक्खाणं च चउण्हं, पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।८।।

पढमे अणुव्वयम्मी, थूलग-पाणाइवाय-विरईओ ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ।।९।।

वह-बंध-छविच्छेए, अइभारे भत्तपाण-वुच्छेए,
पढम-वयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।१०।।

बीए अणुव्वयम्मी, परिथूलग-अलिअ-वयण-विरईओ ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ।।११।।

सहसा रहस्स-दारे, मोसुवएसे अ कूडलेहे अ ।
बीय-वयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।१२।।

तइए अणुव्वयम्मी, थूलग-परदव्वहरण-विरईओ ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ।।१३।।

तेनाहड-प्पओगे, तप्पडिरूवे विरुद्धगमणे अ ।
कूडतुल-कूडमाणे, पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।१४।।

चउत्थे अणुव्वयम्मी, निच्चं परदार-गमण-विरईओ ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ।।१५।।

अपरिग्गहिआ इत्तर, अणंग-विवाह-तिव्व-अणुरागे ।
चउत्थ-वयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।१६।।

इत्तो अणुव्वए पंचमंमि, आयरिअमप्पसत्थंमि ।
परिमाण-परिच्छेए, इत्थ पमायप्पसंगेणं ।।१७।।

धण-धन्न-खित्त-वत्थू, रूप्प-सुवण्णे अ कुविअ-परिमाणे ।
दुपए चउप्पयंमि(मी) य, पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।१८।।

गमणस्स य(उ) परिमाणे, दिसासु उड्ढं अहे अ तिरिअं च ।
वुड्ढी सइअंतरद्धा, पढमंमि गुणव्वए निंदे ।।१९।।

मज्जंमि अ मंसंमि अ, पुप्फे अ फले अ गंधमल्ले अ ।
उवभोग-परी(रि)भोगे, बीयंमि गुणव्वए निंदे ।।२०।।

सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोल-दुप्पोलिअं च आहारे ।
तुच्छोसहि-भक्खणया, पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।२१।।

इंगाली-वण-साडी-भाडी-फोडी सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस-विस-विसयं ।।२२।।

एवं खु जंतपीलण(पिल्लण)-कम्मं निल्लंछणं च दवदाणं ।
सर-दह-तलाय-सोसं, असई-पोसं च वज्जिज्जा ।।२३।।

सत्थग्गि-मुसल-जंतग-तण-कट्ठे मंत-मूल-भेसज्जे ।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।२४।।

ण्हाणुव्वट्टण-वन्नग-विलेवणे सद्द-रूव-रस-गंधे ।
वत्थासण-आभरणे, पडिक्कमे देसिअं(राइअं) सव्वं ।।२५।।

कंदप्पे कुक्कुइए, मोहरि-अहिगरण-भोग-अइरित्ते ।
दंडंमि अणट्ठाए, तइअंमि गुणव्वए निंदे ।।२६।।

तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सइविहूणे ।
सामाइअ(ए) वितहकए, पढमे सिक्खावए निंदे ।।२७।।

आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गलक्खेवे ।
देसावगासिअम्मी, बीए सिक्खावए निंदे ।।२८।।

संथारुच्चारविही, पमाय तह चेव भोयणाभोए ।
पोसहविहि-विवरीए, तइए सिक्खावए निंदे ।।२९।।

सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएस-मच्छरे चेव ।
कालाइक्कमदाणे, चउत्थे सिक्खावए निंदे ।।३०।।

सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा ।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ।।३१।।

साहूसु संविभागो, न कओ तव-चरण-करण-जुत्तेसु ।
संते फासुअदाणे, तं निंदे तं च गरिहामि ।।३२।।

इहलोए परलोए, जीविअ-मरणे अ आसंस-पओगे ।
पंचविहो अइआरो, मा मज्झ हुज्ज मरणंते ।।३३।।

काएण काइअस्स(स्सा), पडिक्कमे वाइअस्स वायाए ।
मणसा माणसिअस्स(स्सा), सव्वस्स वयाइआरस्स ।।३४।।

वंदण-वय-सिक्खा-गारवेसु, सन्ना-कसाय-दंडेसु ।
गुत्तीसु अ समिईसु अ, जो अइआरो अ तं निंदे ।।३५।।

सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरइ(रे) किंचि ।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण न निद्धंधसं कुणइ ।।३६।।

तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च ।
खिप्पं उवसामेई, वाहिव्व सुसिक्खिओ विज्जो ।।३७।।

जहा विसं कुट्ठगयं, मंत-मूल-विसारया ।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्विसं ।।३८।।

एवं अट्ठविहं कम्मं, राग-दोस-समज्जिअं ।
आलोअंतो अ निंदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ ।।३९।।

कयपावो वि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअ गुरु-सगासे ।
होइ अइरेग लहुओ, ओहरिअ-भरुव्व भारवहो ।।४०।।

आवस्सएण एएण, सावओ जइ वि बहुरओ होई ।
दुक्खाणमंतकिरिअं, काही अचिरेण कालेण ।।४१।।

आलोअणा बहुविहा, न य संभरिआ पडिक्कमणकाले ।
मूलगुण-उत्तरगुणे, तं निंदे तं च गरिहामि ।।४२।।

तस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स,
अब्भुट्ठिओ मि आराहणाए, विरओ मि विराहणाए ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ।।४३।।

जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ।।४४।।

जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ,
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं ।।४५।।

चिर-संचिअ-पाव-पणासणीइ, भव-सय-सहस्स-महणीए ।
चउवीस-जिण-विणिग्गय-कहाइ, वोलंतु मे दिअहा ।।४६।।

मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुअं च धम्मो अ ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, दिंतु समाहिं च बोहिं च ।।४७।।

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं ।
असद्दहणे अ तहा, विवरीअ-परूवणाए अ ।।४८।।

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ।।४९।।

एवमहं आलोइअ, निंदिअ गरहिअ दुगंछिअं (उं) सम्मं ।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ।।५०।।

सूचना - यह सूत्र लम्बा होने के कारण संस्कृत छाया तथा गाथार्थ प्रत्येक गाथा सहित ही लिए है।

मूलसूत्र विषयक सूचना :

- इस सूत्र की गाथा ३, ९, ११, १३, १५ एवं २८ में **परिग्गहम्मी, अणुव्वयम्मी, देसावगासिअम्मी** ऐसे दीर्घ ईकारांत पाठ मिलते हैं तथा आगे की गाथा ३४ में **काइअस्सा, माणसिअस्सा** ऐसे दीर्घ आकारान्त पाठ मिलते हैं। प्राकृत शब्दानुसान अनुसार वहाँ ह्रस्व **'म्मि'** एवं **'अ'** शुद्ध जाना जाता हैं, तो भी छन्दानुसार मात्रा का मेल मिलाने यह पाठ प्रचलित हुआ है ऐसा जान पड़ता हैं ।
- इसके अलावा और भी अनेक स्थल पर मात्राओं का मिलान करने के लिए दीर्घ-ह्रस्व का परिवर्तन मिलता हैं। जैसे कि **संथारूच्चार** के बदले **संथारुच्चार, तईए** के बदले **तइए** वगैरह।
- प्राकृत व्याकरण के प्रमाण से **'अ'** एवं **'य'** का तथा **'ण'** एवं **'न'** का परस्पर बदलाव हो सकता है।
- गाथा ४३ के आगे **'तस्स धम्मस्स'** ये पाठ गद्य में हैं।

अवतरणिका :

'वंदित्तु' सूत्र का प्रारंभ करते हुए ग्रंथकारश्री प्रथम गाथा द्वारा मंगलाचरण करते हैं -

गाथा :

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धम्मायरिए अ सव्वसाहू अ।
इच्छामि पडिक्कमिउं, सावग-धम्माइआरस्स ।।१।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

सर्वसिद्धान् धर्माचार्यान् च सर्वसाधून् च वन्दित्वा।
श्रावकधर्मातिचारस्य (रात्) प्रतिक्रमितुम् इच्छामि ।।१।।

गाथार्थ :

अरिहंत भगवंतों को, सर्वसिद्ध भगवंतों को, धर्माचार्यों को, उपाध्याय भगवंतों को तथा सर्व साधु भगवंतों को वंदन करके, मैं श्रावक धर्म में लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ।

विशेषार्थ :

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धम्मायरिए अ सव्वसाहू अ - सर्व सिद्धों को (अरिहंतों को), धर्माचार्यों को, उपाध्यायों को तथा सर्व साधुओं को वंदन करके (यहाँ उपाध्यायों को ऐसा अर्थ **धम्मायरिए** एवं **सव्वसाहू** शब्दों के मध्य में जो 'अ' शब्द है उस से किया है।)

मंगलाचरण किस लिए ?

पूर्वाचार्यों ने इस सूत्र की रचना श्रावक को लक्ष्य में रखकर की हैं। उसके माध्यम से श्रावक को अपने व्रतों में लगे अतिचारों की आलोचना कर शुद्ध बनना हैं। आलोचना द्वारा आत्मशुद्धि करने का कार्य एक शुभ एवं दुष्कर कार्य हैं। इसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए, इस क्रिया का प्रारंभ करने से पहले श्रावक को मंगलाचरण करना चाहिए। इसी कारण श्रावक इस सूत्र के प्रारंभ में ही पंच परमेष्ठी रूप इष्ट देव-गुरु को नमस्कार करने के रूप में मंगलाचरण करता है और इसके पश्चात् यह बताता है कि, 'मैं श्रावक धर्म के अतिचारों का प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ'।

प्रतिक्रमण करते समय साधक इन पदों के उच्चारण द्वारा प्रतिक्रमण का मंगलाचरण करता है एवं सूत्रकार इन पदों की रचना द्वारा मंगलाचरण पूर्वक सूत्र का प्रारंभ करते हैं।

प्रतिक्रमण करने के उपरांत सूत्र की रचना करना, सूत्र का शुद्ध उच्चारण करना, सूत्र का पूर्ण तात्पर्य समझकर, सूत्रानुसार जीवन जीना : ये सब कार्य श्रेयकारी हैं। सर्वत्र कहा जाता है कि **'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'**[1] श्रेय कार्य बहुत विघ्नों से भरे हुए होते हैं, क्योंकि अनादिकाल से अश्रेयकारी पाप की वृत्ति एवं प्रवृत्ति द्वारा जीव ने जो सघन पाप पूंज इक्कट्ठे किये हैं, वे श्रेयकार्यों में विघ्न उत्पन्न करते हैं।

विघ्नों के प्रकार :

पाप प्रकृति से उदित विघ्न दो प्रकार के हैं - बाह्य एवं अंतरंग। उसमें प्रतिक्रमण करने के लिए प्रतिकूल हों वैसे बाह्य संयोग - बाह्य विघ्न हैं एवं प्रतिक्रमण करने के लिए प्रतिकूल हों वैसे अंतरंग भाव - अंतरंग विघ्न हैं।

प्रतिक्रमण के लिए बाह्य विघ्न बाह्य प्रतिकूलता रूप हैं। जैसे कि प्रतिक्रमण के लिए अनुकूल हो वैसा भाव बना रहे ऐसा शांत, सुयोग्य स्थान ना मिले, जरूरी उपकरण प्राप्त न हों, समय की अनुकूलता न हो, स्वयं प्रतिक्रमण करना न आता हो तथा करवाने वाला भी न मिले, शरीर की जैसी अनुकूलता चाहिए वैसी प्राप्त न हो, वगैरह ये सब बाह्य विघ्न हैं। शास्त्र में ऐसे विघ्नों को जघन्य अथवा मध्यम विघ्न[2] कहते हैं ।

---

1. **श्रेयासिं बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि।**
   अश्रेयसि प्रवृत्तानां, क्वापि यान्ति विनायकाः ।।

   महापुरुषों के लिए भी श्रेय कार्य सघन विघ्नों वाले होते हैं। अश्रेय कार्य में प्रवृत्ति करनेवालो के विघ्नसमूह कहीं चले जाते हैं। - योगशतक गाथा नं. १ की टीका।

2. धर्म करने में अंतराय पैदा करने वाले परिणाम विघ्न कहलाते हैं। शास्त्रों में विघ्न जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट ऐसे तीन प्रकार के बताए गए हैं। इसमें ठंडी, गरमी आदि बाह्य प्रतिकूलता के कारण धर्म में रूकावट करने वाला भाव जघन्य विघ्न है, शारीरिक रोग या प्रतिकूलता मध्यम विघ्न है एवं आत्मिक भावों की प्रतिकूलता यानि मिथ्यात्व मोहनीय कर्म से उत्पन्न हुआ मनोविभ्रम उत्कृष्ट विघ्न कहलाता हैं। इस विषय की विशेष जानकारी (माहिती) योगविंशिका गाथा - १ तथा तीसरे षोडषक की ९वीं गाथा में मिल सकती है।

अंतरंग विघ्न आंतरिक प्रतिकूल भावस्वरूप हैं, जैसे कि यह प्रतिक्रमण की क्रिया ही मेरे सुख का कारण है ऐसा न लगे। ऐसा लगे तो भी अंतर में प्रतिक्रमण करने का भाव प्रकट ही न हो। प्रतिक्रमण करने की भावना होते हुए भी संसार की सर्व क्रियाओं से यह क्रिया महान् है ऐसा आदर प्रकट न हो। क्रिया करते समय जैसे वीर्योल्लास से क्रिया करनी चाहिए वैसा वीर्योल्लास ही प्रकट न हो। मन को एकाग्र करने की मेहनत होते हुए भी मन अन्यत्र भटकता हो लेकिन प्रतिक्रमण की क्रिया में स्थिर न होता हो। बाह्य से क्रिया सुंदर हो तो भी उसके द्वारा जो आंतरिक आनन्द का झरना फूटना चाहिए वह फूटता न हो, इसलिए क्रिया जल्दी पूर्ण करने की भावना रहती हो। ये और ऐसे अन्य भी भाव अंतरंग विघ्न हैं, जिनको शास्त्रकार उत्कृष्ट विघ्न कहते हैं।

साधक इस सूत्र के माध्यम से प्रतिक्रमण करना चाहता हैं, लेकिन अगर कोई विघ्न आ जाए तो वह बाहरी तौर से प्रतिक्रमण करके भी प्रतिक्रमण के अनुरूप भावों का संवेदन कर अपनी परिणति बदल नहीं पाता। इसलिए इस सूत्र को आत्मसात् करने एवं हृदयस्पर्शी बनाने में प्रतिबंधक बने हुए बाह्य एवं अंतरंग विघ्नों का नाश करने के लिए सूत्रकार ने प्रारंभ में मंगलाचरण किया हैं। इस मंगलाचरण से प्रकटा हुआ शुभ भाव सर्व विघ्नों को दूर कर के, साधक को सूत्र से अपेक्षित भावों तक पहुँचाता है और उसके द्वारा आत्मिक शुद्धि भी कराता है।

पंच परमेष्ठी को वंदना :

वंदित्तु - वंदन करके।

वंदन[3] का अर्थ है नमस्कार अथवा समर्पण का भाव अथवा मन-वचन एवं काया की एक शुभ प्रवृत्ति। अरिहंतादि गुणवान आत्माओं के दर्शन कर 'वे महान हैं एवं मैं हीन हूँ,' ऐसा आदर और बहुमान का भाव मानसिक वंदन हैं। ऐसे भावपूर्वक 'वंदामि' या 'नमो' वगैरह शब्दों का उच्चारण वाचिक वंदन हैं एवं दोनों हाथ जोड़कर मस्तक झुकाना कायिक वंदन की क्रिया हैं। यह वंदन की क्रिया भूमिका भेद से अनेक प्रकार की हैं। इसमें परमात्मा के प्रति अहोभाव के

---

3. वंदन क्रिया की विशेष समझ के लिए 'सूत्र संवेदना भाग-२' 'अरिहंत चेइआणं' सूत्र देखें।'
तत्र वन्दनम्-अभिवादनं-प्रशस्तकायवाङ्मनःप्रवृत्तिरित्यर्थः, -ललितविस्तरा।

कारण अपने मन, वचन एवं काया की सर्व प्रवृत्तियाँ परमात्मा के वचन अनुसार ही करना, वह श्रेष्ठ वंदना हैं। ऐसी श्रेष्ठ वंदना को ही लक्ष्य बनाकर साधक 'वंदित्तु' शब्द द्वारा अपनी शक्ति एवं भूमिका अनुसार वंदन करता है।

अब किसको वंदन करके मंगलाचरण सम्पन्न किया जा रहा है, यह बताते हैं:

सव्वसिद्धे - अरिहंत तथा सिद्ध भगवंतों को (वंदन करके)।

'सव्वसिद्धे' का अर्थ है सर्व सिद्ध भगवंतों अर्थात् तीर्थ सिद्ध, अतीर्थ सिद्ध आदि पंद्रह प्रकार के सिद्ध भगवंत। सिद्ध होने से पूर्व की अवस्था को लक्ष्य में रखकर शास्त्र में सिद्ध भगवंतों के पन्द्रह[4] भेद बताए हैं। उन सब भेदों में तीर्थंकर के रूप में मोक्ष में जाने वाले अरिहंत भगवंत का भी समावेश हो जाता हैं। इस कारण **सव्वसिद्धे** कहने से अरिहंत एवं सिद्ध भगवंत दोनो को वंदन किया जाता हैं।

सव्व शब्द प्राकृत हैं। इसकी संस्कृत छाया जैसे **सर्व** होती है वैसे **सार्वा** भी होती है। पहले **सर्व** के अनुसार अर्थ किया हैं, अब **सार्वा**[5] के अनुसार अर्थ करें तो **सार्वा**[5] का अर्थ होता हैं 'जो सर्व वस्तुओं को जानता हैं अथवा 'सर्व' का हित करता हैं वह सार्वा'। इस तरह सव्व शब्द से सर्व प्राणिओं का हित करने की जिनमें भावना होती है एवं इस भावना के परिपाक से ही जिन्होंने संसार सागर को तैरने के लिए धर्म तीर्थ रूपी श्रेष्ठ जहाज की स्थापना की हो, उन अरिहंत भगवंतों को वंदन होता हैं। एवं **'सिद्धे'** शब्द द्वारा सिद्ध भगवंतों को वंदन होता हैं। इस तरह **'सव्वसिद्धे'** पद द्वारा अरिहंत एवं सिद्ध भगवंतों को वंदना करने में आई हैं।

---

4. सिद्ध के १५ भेद

जिण अजिण तित्थऽतित्था गिहि अन्न सलिंग थी नर नपुंसा।
पत्तेय सयंबुद्धा, बुद्धबोहिय इक्कणिक्का य ।।५५।। - नवतत्त्व

जिनसिद्ध, अजिनसिद्ध, तीर्थसिद्ध, अतीर्थसिद्ध, गृहस्थलिङ्गसिद्ध, अन्यलिङ्गसिद्ध, स्वलिङ्गसिद्ध, स्त्रीसिद्ध, पुरुषसिद्ध, नपुंसकसिद्ध, प्रत्येकबुद्ध सिद्ध, स्वयंबुद्धसिद्ध, बुद्धबोधितसिद्ध, एकसिद्ध, अनेकसिद्ध।

5. **सर्वं वस्तु विन्दति सर्वेभ्यो हिता वेति सार्वाः तीर्थकृतः**, - इस तरीके से सव्व शब्द का सार्वा अर्थ करनेमें आए तो उसके द्वारा अरिहंत अर्थ ग्रहण कर सकते हैं अथवा सव्व शब्द से सब सिद्ध भगवंत ऐसा अर्थ कर सकते हैं। जिसमें अरिहंतों का समावेश हो जाता है। - वन्दारूवृत्ति

धम्मायरिए अ - धर्माचार्यों को (वंदन करके)।

अरिहंत भगवान की अनुपस्थिति में जो शासन की बागडोर वहन करते हैं, श्रुत और चारित्र धर्म का पालन करते हैं, सूत्र के रहस्यपूर्ण अर्थ की देशना द्वारा जो चतुर्विध संघ को धर्म का दान करते हैं एवं अपने पंचाचार के पालन द्वारा जो अनेक जीवों को धर्म की ओर आकर्षित करते हैं, ऐसे धर्माचार्यों को इस पद द्वारा वंदन किया गया है। इसके उपरांत 'अ' शब्द से उपाध्याय भगवंत जो विनय के भंडार हैं, आगम शास्त्रों के ज्ञाता हैं एवं शिष्यों को सूत्र एवं अर्थ प्रदान करते हैं उनको वंदन किया गया है।

सव्वसाहू अ - तथा सर्व साधुओं को (वदंन करके)।

मोक्ष मार्ग की जो विविध प्रकार से उत्तम साधना कर रहे हैं ऐसे जिनकल्पिक, स्थविरकल्पिक आदि सर्व प्रकार के साधु भगवंतों को इस पद से वंदन किया गया है।

जिज्ञासा : यहाँ मंगलाचरण में पंच परमेष्ठी[6] को ही क्यों वंदन किया है ?

तृप्ति : साधना का लक्ष्य एक ही होता है - **दोषों से मुक्त होकर गुणों को प्राप्त करना।** प्रतिक्रमण की साधना का भी यही उद्देश्य है। इसलिए प्रतिक्रमण सूत्र के प्रारंभ में सर्व दोषों से रहित एवं सर्वगुण संपन्न अरिहंत और सिद्ध भगवंत को वंदन करके मंगलाचरण किया जाता हैं। इस तरह वंदन करने से अरिहंत आदि के प्रति बहुमान भाव उत्पन्न होता है। यह बहुमान दोष के लगाव से बंधे कर्मों को नष्ट करता है, जिससे साधक शीघ्र ही दोषमुक्त बन सकता हैं। उसी तरह दोष मुक्ति के लिए विशेष यत्न करते हुए आचार्य भगवंतों, उपाध्याय भगवंतों एवं साधु भगवंतों को वंदन करते वक्त साधक को सहज ऐसा भाव होता हैं कि, 'ये महात्मा भी मेरे जैसे ही हैं, फिर भी दोषों से मुक्त होने के लिए ये कितना अच्छा प्रयत्न कर रहे हैं। मैं क्यों ऐसा पुरुषार्थ नहीं कर पाता ?' इस तरह सोचने से साधक में दोष नाश का सत्त्व प्रकट होता है। इस कारण से ही यहाँ अन्य प्रकार के मंगलाचरण न करते हुए पंच परमेष्ठी को नमस्कार करने स्वरूप ही मंगल किया है।

---

6. अरिहंत, सिद्ध आदि पंच परमेष्ठी का विशेष स्वरूप सूत्र सं. १ सूत्र - १ में देखिए

पंच परमेष्ठी को नमस्कार रूप मंगलाचरण करके, अब उत्तरार्ध द्वारा बुद्धिमान पुरुषों की सूत्र के विषय संबंधी जिज्ञासा संतुष्ट करने के लिए 'श्रावक धर्म के अतिचारों से वापस लौटना' रूप विषय का निर्देश करते हैं।

इच्छामि पडिक्कमिउं सावगधम्माइआरस्स - श्रावक धर्म में लगे अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ।

इच्छामि - (मैं) चाहता हूँ।

इस शब्द प्रयोग द्वारा श्रावक भावपूर्वक प्रतिक्रमण करने की अपनी इच्छा गुरु भगवंत समक्ष पेश करता हैं। जैन शासन की एक मर्यादा है कि कोई भी कार्य प्रारंभ करने से पहले अपनी इच्छा गुरु भगवंतों को बताने रूप इच्छाकार सामाचारी[7] का पालन करना चाहिए। प्रतिक्रमण करने को उत्सुक साधक भी 'इच्छामि' शब्द द्वारा इच्छाकार समाचारी का पालन करता हैं एवं अपनी इच्छा गुरु भगवंत को बताने में आनंद का अनुभव करता हैं।

श्रावक समझता है कि बिना भाव की शुद्ध क्रिया एवं बिना क्रिया का शुद्ध भाव इन दोनों के बीच सूर्य एवं पतंगे जितना अंतर है[8]। क्रिया का दायरा बड़ा हो परंतु अंतर में कोई भाव न हो, तो क्रिया पतंगे के प्रकाश जैसी तुच्छ है एवं शुद्ध भाव हो परंतु क्रिया अति अल्प हो अथवा न भी हो, तो भी उसके अंतर का शुद्ध भाव सूर्य के प्रकाश जैसा महान होता हैं। इसीलिए श्रावक मात्र प्रतिक्रमण करने की ही इच्छा नहीं रखता, परंतु भावपूर्वक प्रतिक्रमण करने की इच्छा प्रकट करता है।

---

7. सामाचारी की विशेष जानकारी के लिए देखिए सूत्र संवेदना भा. १ में सूत्र नं. ३ 'सामाचारी' जैन शास्त्रों का विशिष्ट शब्द प्रयोग है । यह शब्द सम्यक् +आचार शब्दों से निष्पन्न हुआ हैं। साधु जीवन की मर्यादा में अरस-परस के व्यवहार संबंधी जिन मर्यादाओं का पालन होता हैं उन्हें 'सामाचारी' कहते हैं। इस उपरांत कषाय के स्पर्श बिना चारित्र की पुष्टी के लिए जो प्रवृत्ति की जाती हैं उनको सामाचारी कहते हैं।

8. **क्रियाशून्यस्य यो भावो, भावशून्या च या क्रिया।**
अनयोरन्तरं दृष्टं, भानुखद्योतयोरिव ।। - श्राद्ध प्रतिक्रमण की अर्थदीपिका टीका

अब क्या करने की इच्छा है यह बताते हैं -

पडिक्कमिउं - (मैं) प्रतिक्रमण करना (चाहता हूँ) ।

प्रतिक्रमण करना अर्थात् वापस लौटना। 'प्रमादवश स्वस्थान से अर्थात् अपने ज्ञानादि गुणों से परस्थान में गई हुई आत्मा को पुनः स्वस्थान में लाना प्रतिक्रमण हैं अथवा क्षायोपशमिक भाव से औदयिक भाव की तरफ गई हुई आत्मा को पुनः क्षायोपशमिक भाव में लाना प्रतिक्रमण[9] है'। विषय, कषाय एवं प्रमादादि दोषों के कारण ज्ञानादि गुणों से दूर हुई आत्मा को पुनः अपने मूल स्वभाव में लाने का यत्न करना प्रतिक्रमण हैं।

संक्षिप्त में अतिक्रमण का प्रतिक्रमण करना हैं। व्रत की मर्यादा का उल्लंघन करनेवाली आत्मा को पुनः मर्यादा स्थित बनाने का यत्न करना प्रतिक्रमण हैं ।

अब किसका प्रतिक्रमण करना है वह बताते हैं -

सावग धम्माइआरस्स - श्रावक धर्म के अतिचारों का।

'सावग धम्माइआरस्स' शब्द श्रावक, धर्म एवं अतिचार इन तीन शब्दों से बना है जिसमें श्रावक का धर्म अर्थात् सम्यक्त्व मूलक बारह व्रत। इन धर्मों में लगनेवाले अतिचार श्रावक धर्म के अतिचार हैं, जिनका प्रतिक्रमण करने की साधक इच्छा रखता है।

---

9. **क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकवशं गतः ।**
तत्रापि च स एवार्थः, प्रतिकूलगमात्स्मृतः ।।१२३०।।

- आवश्यकनिर्युक्ति-हारिभ्रदीयटीका गाथा १२३०/३१

पडिक्कमणं पडियरणा, पडिहरणा वारणा निअत्ती य ।
निंदा गरिहा सोही, पडिक्कमणं अट्ठहा होई ।।१२३१।। - आवश्यकनिर्युक्ति

प्रतिक्रमण, प्रतिचरणा, प्रतिहरणा, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा एवं शुद्धि, ऐसे प्रतिक्रमण के ८ पर्यायवाची शब्द हैं। जिनकी विशेष समझ के लिए आवश्यक निर्युक्ति तथा प्रतिक्रमण हेतु गर्भ सज्झाय देखिए। 'प्रतिक्रमण किसको कहते हैं ?' यह इस पुस्तक की भूमिका में स्पष्ट किया है।

श्रावक :

श्रावक[10] उसे कहते हैं जो,

श्रा = जिन वचन में **श्रद्धा** रखता हो अथवा जिनवचनों का श्रवण करता हो

व = श्रद्धा एवं श्रवण के कारण **विवेक** संपन्न हो

क = विवेक के कारण मोक्ष के उपाय रूप शुद्ध **क्रिया** में सतत उद्यमशील हो।

श्रावक का धर्म :

श्रावक का धर्म मुख्य रूप से सम्यक्त्व मूलक बारह व्रत स्वरूप देशविरति धर्म है। श्रावक ज्ञान एवं श्रद्धापूर्वक मोक्षमार्ग को साधनेवाली जो थोड़ी भी क्रिया करता है, उससे उसे जैसे आत्मिक आनन्द की अनुभूति एवं चित्त की स्वस्थता प्राप्त होती है, वैसे आनन्द एवं चित्त की स्वस्थता उसे भौतिक सुख से प्राप्त नहीं होती। भौतिक सुख में उसे श्रम, विडम्बना एवं मात्र काल्पनिक सुख का दर्शन होता हैं। इसी कारण से वह जहाँ मोक्ष साधक क्रिया सतत करने का अवसर मिलता है वैसी सर्व विरति को हमेशा चाहता है एवं उसकी शीघ्र प्राप्ति के लिए ही सम्यक्त्व मूलक बारह व्रत या उनमें से किसी एक व्रत को स्वीकारता है, जिसे देशविरति धर्म कहते हैं। प.पू.आ.श्री हरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज यही बात प्रकट

---

10. '**श्रुणोति इति श्रावकः**' - जो सुनता है वह श्रावक।

सम्पन्नदंसणाइ पइदियहं जइजणा सुणेई य।
सामायारिं परमं जो खलु तं सावगं बिंति।। **- पञ्चाशक**

दर्शन, ज्ञान एवं देशविरति धर्म से सम्पन्न होकर जो हमेशा उपयोगपूर्वक दत्तचित्त से, गुरुवर्यों के श्रीमुख से साधु एवं श्रावक की सामाचारी को सुनता है, उसको श्री तीर्थंकर परमात्मा निश्चय श्रावक कहते हैं।

श्रद्धालुतां श्राति जिनेन्द्रशासने धनानि पात्रेषु वपत्यनारतम्।
कृन्तत्यपुण्यानि सुसाधुसेवना – दतोऽपि तं श्रावकमाहुरुत्तमाः।।

जो श्री जिनेश्वर भगवंत के प्रवचन में श्रद्धा रखता है, सुपात्र में निरंतर धन का वपन करता है एवं सुविहित मुनिराजों की सेवा से पाप कर्मों का नाश करता है, उसे ही उत्तम पुरुष श्रावक कहते हैं।

करते हुए ललित विस्तरा ग्रंथ में कहते हैं कि **सर्वविरति की तीव्र लालसापूर्वक जो आंशिक त्याग होता है वही देशविरति**[11] **का परिणाम है।**

सर्व पाप से मुक्त होने की भावना पूर्वक आंशिक पाप से मुक्त होने के संकल्प को देशविरति कहते हैं। पाप असंख्य प्रकार के होते हैं, इसलिए उनसे हटने, मिटाने रूप व्रत-नियमों के भी असंख्य प्रकार होते हैं। फिर भी उन सबका संक्षेप करके महापुरुषों ने उनका समावेश बारह व्रतों में किया हैं।

श्रावक धर्म के अतिचार :

देशविरति रूप श्रावक धर्म को मलिन करे, उसकी मर्यादा भूलाए ऐसे आचरण को श्रावक धर्म का अतिचार कहते हैं। बारह व्रत संबंधी मुख्यतया एक सौ चौबीस अतिचार होते हैं। यहां उन अतिचारों का प्रतिक्रमण करने की भावना व्यक्त की है। व्रतों को स्वीकार करने वाला श्रावक जब कि सावधान होता है, स्वीकार किए हुए व्रतों में एक भी दोष न लगे, इसके लिए प्रयत्न करता है तो भी प्रमाद आदि दोषों के कारण कभी चूक जाता है एवं व्रतों को दूषित करे ऐसे आचरण उससे हो जाते हैं। ऐसे आचरण ही व्रत के अतिचार कहलाते हैं। इन अतिचारों[12] से मलिन हुए व्रतों को शुद्ध करने की क्रिया ही प्रतिक्रमण है। इस प्रकार श्रावक **इच्छामि पडिक्कमिउं सावगधम्माइआरस्स** पद बोलकर श्रावक धर्म के अतिचारों का प्रतिक्रमण करने की अपनी भावना गुरु के समक्ष व्यक्त करता हैं।

अनुबंध चतुष्टय:[13]

किसी भी ग्रन्थ का प्रारम्भ करते वक्त ग्रंथकार सर्वप्रथम मंगलाचरण के साथ

---

11 **सर्वविरतिलालसा खलु देशविरतिपरिणामः** ललितविस्तरा में पू. आ. श्री हरिभद्रसूरि महाराज ने बताया है कि **अणुव्रताद्युपासकप्रतिमा-गतक्रियासाध्यः साधुधर्म्माभिलाषातिशयरूपः आत्मपरिणामः** ये ही श्रावक धर्म है। ललितविस्तरा **धम्मदयाणं** - पद

12. **अतिचार - अति =** उल्लाँघ कर, व्रत की मर्यादा को उल्लंघन कर **चर =** चरना, वर्तना। व्रत की मर्यादा का उल्लंघन करके वर्तन करने को अतिचार कहते हैं।

13 **विषयश्चाधिकारी च संबन्धः प्रयोजनम्।**
विना अनुबन्धं ग्रन्थादौ मङ्गलं नैव शस्यते।।

अनुबंध चतुष्टय में कहीं मंगल, विषय, संबंध एवं प्रयोजन का समावेश किया है, तो कहीं उसमें विषय, अधिकारी, संबंध एवं प्रयोजन का समावेश किया हुआ है।

विषय, अधिकारी, संबंध एवं प्रयोजन इन चारों का ज़िक्र करते हैं। इनको अनुबंध चतुष्टय कहते हैं। इस सूत्र के प्रारम्भ में भी, ग्रंथकारश्री ने इस गाथा के पूर्वार्ध से पंच परमेष्ठी को नमस्कार करके मंगलाचरण किया हैं और उत्तरार्ध से विषय और अधिकारी का निर्देश किया हैं।

जैसे पूर्व में बताया था वैसे ही ध्यान में रखना चाहिए कि, ग्रन्थकार ने यह मंगलाचरण, प्रतिक्रमण करने के पहले प्रतिक्रमण करने वाले साधक को किस तरह मंगलाचरण करना चाहिए, यह बताने के लिए किया है। उसके द्वारा 'वंदित्तु' सूत्र का मंगलाचरण भी गौण रूप से हो ही जाता है, यह भी समझ लेना चाहिए। संबंध एवं प्रयोजन ग्रन्थकारश्री ने साक्षात् शब्दों में नहीं कहे हैं तो भी सामर्थ्य से उन्हें जान सकते हैं। इस ग्रंथ का वाच्य-वाचक संबंध है तथा इस सूत्र के माध्यम से व्रतों के दूषणों का बोध प्राप्त करके; निर्विघ्न प्रतिक्रमण कर, व्रतों की शुद्धि करने रूप अनंतर प्रयोजन है एवं क्रम से सम्पूर्ण शुद्ध आत्म स्वरूप की प्राप्ति करने रूप परंपर प्रयोजन है।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि,

'विषय कषायों के अधीन बनकर मैंने महामूल्यवान व्रतों को दूषित किया है, उनके पालन में अनेक स्खलनाएँ हुई हैं, स्वीकार किए हुए व्रतों में अनेक प्रकार के अतिचार लगे हैं, जिसके कारण अनेक पापों का बंध हुआ है। इन पापों से वापस लौटने की मेरी इच्छा है एवं उस हेतु ही मैं प्रतिक्रमण करना चाहता हूँ, लेकिन मैं समझता हूँ कि प्रतिक्रमण की यह क्रिया अनेक विघ्नों से भरी है, इसलिए इसमें कोई विघ्न न आए एवं निर्विघ्न रूप से पाप का प्रतिक्रमण कर मैं शुद्ध बन सकूँ इसलिए ही पंच परमेष्ठियों को याद करके उनको वंदन करता हूँ। भावपूर्वक वंदन कर प्रार्थना करता हूँ कि , 'हे प्रभु ! इन व्रतों के पालन का अगर कोई फल हो तो मुझे भी आपके जैसा अनंत आनंदमय, अनंत सुखमय, शुद्ध स्वरूप प्राप्त हो' और आचार्यादि को प्रणाम करते हुए सोचता है कि, *'आप जिस रीति से शुद्ध स्वरूप प्राप्त करने का प्रबल प्रयत्न कर रहे हो, वैसा प्रयत्न करने का उत्साह मुझमें भी प्रकट हो।'*

अवतरणिका :

प्रथम गाथा में मंगलाचरण वगैरह का निर्देश करके अब व्रत आदि संबंधी सर्व अतिचारों का प्रतिक्रमण करने की इच्छा व्यक्त करते हुए कहते हैं -

गाथा :

जो मे वयाइआरो नाणे तह दंसणे चरित्ते अ।
सुहुमो अ बायरो वा तं निंदे तं च गरिहामि।।२।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

व्रतातिचार: तथा ज्ञाने दर्शने चारित्रे च
य: मम सूक्ष्म बादर: वा (अतिचार:) तं निन्दामि तं च गर्हे।।२।।

गाथार्थ :

व्रत के विषय में तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्याचार के विषय में सूक्ष्म या बादर जो कोई अतिचार मुझे लगे हों, उनकी मैं निन्दा, एवं गर्हा करता हूँ। (यहाँ 'तप एवं वीर्याचार' ऐसा अर्थ **चरित्ते** के बाद के **'अ'** शब्द से किया है।)

विशेषार्थ :

जो मे वयाइआरो - व्रत संबंधी मुझे जो अतिचार लगे हों।

व्रत का स्वरूप :

चारित्र मोहनीय कर्म के क्षयोपशम से आत्मा में अहिंसादि के जो शुभ भाव प्रकट होते हैं, वह अंतरंग व्रत है, एवं ऐसे शुभ भावों को प्रकट करने के लिए गुरुभगवंतों के समक्ष 'हिंसा नहीं करनी' ऐसा नियम ग्रहण करके, उसके अनुरूप प्रयत्नवाला बाह्य जीवन व्यवहार करना बाह्य व्रत है।

अथवा - "अहिंसा, क्षमा आदि भाव ही मेरा सुखकर स्वरूप है। मेरा स्वभाव है। मेरे इस स्वभाव को प्रकट करने के लिए मैं हिंसा आदि परभाव का त्याग करके अहिंसा आदि को अपनाने का संकल्प करता हूँ।" - इस तरह आत्म भाव की प्राप्ति के लिए किया गया ऐसा संकल्प ही व्रत हैं।

व्रत के परिणाम से आत्मा वर्तमान में उपशम सुख एवं भविष्य में सद्गति की परंपरा द्वारा मोक्ष का महासुख भी प्राप्त कर सकती हैं । जबकि व्रत का स्वीकार नहीं करना, व्रत स्वीकारने के बाद उसका पालन नहीं करना या अयोग्य पालन करना अथवा व्रत का भंग हो ऐसे दोषों का सेवन करना, ये सब दुःख और दुर्गति की परंपरा का सर्जन करते हैं।

व्रत तथा व्रतों के अतिचार विषयक ऐसा बोधवाला व्यक्ति, छोटे से छोटे व्रत को स्वीकार करके प्राण जाने पर भी उसका पालन करता है। जैसे वीरासालवी ने व्रत का महत्व समझकर, विशेष शक्ति न होने से एक सामान्य नियम लिया कि 'खेस की गांठ खोलने के बाद ही मैं शराब पीऊँगा'। एक बार रेशमी खेस की बांधी हुई गांठ बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं खुली, जिससे शराब पीने में विलंब होने पर उसकी नसें टूटने लगीं, परंतु उसने नियम नहीं तोड़ा। अंत में उसके प्राण निकल गए। इस प्रकार व्रत पालन के लिए प्राण न्यौछावर करने के कारण वह सद्गति की परंपरा द्वारा शिवगति प्राप्त करेगा।

अतिचार का स्वरूप :

व्रत का महत्व नहीं समझने वाला श्रावक प्रसंग आने पर व्रत का स्वीकार तो कर लेता है, परंतु अनादि के कुसंस्कारों के कारण जिस प्रकार व्रत का पालन करना चाहिए उस प्रकार से पालन नहीं कर पाता। अशुभ निमित्त मिलते ही अपनी शक्ति, समझ और पराक्रम को छोड़कर विषयों के अधीन होकर, कषायों एवं कुसंस्कारों के वश होकर, शास्त्रकारों द्वारा बाँधी हुई व्रत की मर्यादा का भंग कर देता हैं। **व्रत की मर्यादा का यह भंग ही व्रतविषयक अतिचार या दोष कहलाता है।**

अनेक प्रकार से लगनेवाले इन दोषों को शास्त्रकारों ने चार विभागों में बाँटा है : १. अतिक्रम, २. व्यतिक्रम, ३. अतिचार एवं ४. अनाचार। उदाहारण के तौर पर सोचा जाए तो 'मैं आलू नहीं खाऊँगा' ऐसी प्रतिज्ञा स्वीकारने के बाद आलू से बनी हुई किसी चीज की कोई प्रेरणा करते हुए कहे कि, 'भाई ! यह चीज खाने जैसी है।' ऐसा सुनकर व्रतधारी श्रावक को चुप नहीं रहना चाहिए, परंतु 'इस पाप की मुझे प्रतिज्ञा है' ऐसा कहना चाहिए । जिससे अपने व्रत में दृढ़ता आए और

अन्य को भी प्रेरणा मिले, परंतु मन की शिथिलता के कारण यदि श्रावक उसका निषेध न करे परंतु उस बात को सुन ले तो वह **अतिक्रम** रूप[1] दोष है।

आलू से बने स्वादिष्ट पदार्थ आँखों के सामने आने पर मन ललचा जाए, कोई कहे या ना कहे परंतु स्वयं उसे खाने की इच्छा हो या उसे पाने के लिए थोड़ा प्रयत्न शुरू भी करे तो वह **व्यतिक्रम दोष** है, क्योंकि मन, वचन, काया से किसी भी वस्तु के त्याग का नियम स्वीकारने के बाद उस वस्तु संबंधी मन में विचार करने से अथवा उस वस्तु को पाने का थोड़ा प्रयत्न करने से भी व्रत का आंशिक भंग होता है, इसलिए ऐसा विचार भी व्रत संबंधी दोष है।

खाने की इच्छा होने के बाद उस पदार्थ को मंगवाना अथवा वस्तु जहाँ पड़ी हो उस तरफ जाना, उस वस्तु को लेना, थाली में परोसना, खाने के लिए मुख के समीप लाना, वहाँ तक की सभी क्रियाएँ **अतिचार रूप** दोष हैं, क्योंकि व्रत को स्वीकारने के बाद यहाँ तक की क्रिया से मन, वचन एवं कुछ अंशों में काया से भी व्रत की मर्यादा टूटती हैं।

मुँह तक आई हुई उस वस्तु को नि:शंक रूप से - नि:शूकता से 'व्रत भंग होगा तो क्या होगा ?' ऐसा सोचे बिना मुख के समीप लाई हुई उस वस्तु को मुख में डाल कर खाने को शुरू करना यह **अनाचार** नाम का दोष हैं। इस दोष के सेवन से व्रत का संपूर्ण भंग होता हैं। इसलिए इन दोषों का नाश प्रतिक्रमण की क्रिया से नहीं होता, परंतु गुरु भगवंत के पास विशेष प्रकार से प्रायश्चित्त करने से होता हैं। इसलिए इस सूत्र में मात्र अतिचार तक के दोषों के प्रतिक्रमण की बात की गई हैं।

व्रत के विषय में ऐसे अनेक अतिचार हैं। उन सब का संक्षेप करके सूत्रकार ने सम्यक्त्व के ५ अतिचार, १२ व्रतों के ७५ अतिचार एवं संलेखना व्रत के ५

---

1. **आहाकम्मामंतण पडिसुणमाणे अइक्कमो होइ।**
   पयभेयाइ वइक्कम, गाहिए तइ इयरो गलिए।।

   - श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्र (अर्थ दीपिका)

   आधाकर्मी आहार के लिए आमंत्रण को मानो स्वीकार कर रहे हों उस तरह सूनने में **'अतिक्रम'** दोष लगता हैं, वैसा आहार वहोरने जाने से **'व्यतिक्रम'** दोष लगता हैं, वैसा आहार ग्रहण करने में **'अतिचार'** दोष लगता है एवं वैसे आहार का भोग करने से **'अनाचार'** दोष लगता हैं ।

अतिचार ऐसे कुल व्रत विषयक ८५ अतिचार इस सूत्र में बताये हैं। इसके उपरांत पंचाचार के ३९ अतिचार सहित १२४ अतिचारों का इस सूत्र के माध्यम से प्रतिक्रमण करना है।

अब पंचाचार विषयक अतिचार बताते हैं -

नाणे तह दंसणे चरित्ते अ सुहुमो अ बायरो वा - तथा ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार एवं **'अ'** कार से तपाचार एवं वीर्याचार के आचार के विषय में सूक्ष्म अथवा बादर (जो अतिचार लगा हो)।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एवं वीर्य ये आत्मा के गुण हैं और उनको प्रकट करनेवाले ज्ञानाचारादि पांच आचार (पंचाचार) हैं जिनका वर्णन नाणम्मि सूत्र में किया गया है। उन पंचाचारों का पालन न करना या विपरीत पालन करना, वही पंचाचार संबंधी अतिचार हैं। उसमें ज्ञानाचार के ८, दर्शनाचार के ८, चारित्राचार के ८, तपाचार के १२ एवं वीर्याचार के ३ ऐसे पंचाचार के कुल ३९ अतिचार हैं। बारह व्रत विषयक ८५ अतिचार एवं पंचाचार विषयक ये ३९ अतिचार मिलाकर कुल १२४ अतिचारों का इस सूत्र द्वारा प्रतिक्रमण करना है।

व्रत विषयक सभी अतिचारों का वर्णन इस सूत्र में आगे किया गया है, परंतु पंचाचार विषयक अतिचारों का वर्णन स्पष्ट रूप से इस सूत्र में नहीं है । यहाँ पंचाचार के अतिचारों का सामान्य उल्लेख है और पंचाचार की विशेष बातें नाणम्मि सूत्र में हैं ।

स्थूल दृष्टि से देखें तो ये १२४ अतिचार हैं, परंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो व्रत या आचार विषयक छोटे बड़े अनेक अतिचार हैं।

अतिचार के प्रकार :

व्रतादि के विषय में अतिचार दो प्रकार के होते हैं - सूक्ष्म एवं बादर। उसमें सूक्ष्म अतिचार[2] उसे कहते हैं कि जिसे सामान्य जन अतिचार के रूप में पहचान न सकें । जैसे कि व्रत स्वीकार के बाद उसे याद न रखना, व्रत किसलिए लिया हैं, उससे मुझे क्या फल प्राप्त करना हैं, ऐसा न सोचना, व्रत में विघ्न करने वाले दोषों के प्रति घृणा या तिरस्कार का भाव न होना, व्रत पालन के लिए उत्साह, वीर्य का

2 **सुहुमो वा अनुपलक्ष्यः, बायरो वा व्यक्तः ।** - वन्दारूवृत्ति

उपयोग न करना इत्यादि व्रत संबंधी सूक्ष्म अतिचार हैं। सामान्य तौर से तो ये दोष दोषरूप नहीं लगते, तो भी ये व्रत में मलिनता पैदा करके परंपरा से व्रतनाश का कारण बन सकते हैं।

जिन दोषों को सामान्य जन समझ सकते हैं, वे बादर अतिचार कहलाते हैं। ऐसे बादर अतिचारों की बहुत सी बातें ग्रंथकार स्वयं आगे करेंगे। उसके आधार से अन्य भी छोटे-बड़े दोषों को स्वयं सोचना है।

तं निंदे तं च गरिहामि - उनकी = उन सब अतिचारों की मैं निन्दा एवं गर्हा करता हूँ।

निन्दा :

निन्दा करता हूँ अर्थात् मैं खुद को ही उपालम्भ देता हूँ कि 'अहो ! महापुण्य के उदय से मानव भव मिला है, उसमें भी रत्न चिंतामणि जैसे ये व्रत मिले हैं। इन रत्नों का पालन किया होता तो मैं धन्य बन जाता। परंतु दरिद्रशिरोमणि जैसे मैंने ऐसी प्रवृत्ति द्वारा व्रत रूपी रत्नों को मलिन किए, उनके पालन के बदले उनकी उपेक्षा की, जिस विश्वास से मुझे गुरु भगवंतों ने अरिहंतादि की साक्षी में व्रत दिए थे उस विश्वास का भी मैंने घात किया, उनके हितवचनों की भी मैंने उपेक्षा की, मानसिक निर्बलता के कारण निमित्तों का भोग बन कर मैंने ये अमूल्य रत्न गँवा दिए, अब मेरा क्या होगा ? मैं कहाँ जाऊँगा ?' ऐसे अनेक विचारों से अपने आप को उलाहना देकर स्वयं पर धिक्कार हो, तिरस्कार का परिणाम प्रकट हो, पुनः दोष के आसेवन करने की इच्छा मात्र भी नष्ट हो, अशुभ, दुर्बल संस्कार निर्मूल हों, उस तरह आत्मसाक्षी से पापों का तिरस्कार करना निन्दा हैं।

गर्हा :

आत्मसाक्षी से की हुई निन्दा का फल गर्हा है। अपने आप हुए अथवा किए हुए पापों की निन्दा करने से उन पापों के प्रति जुगप्सा पैदा होती है। पाप से छूटने का मार्ग पाने की इच्छा होती है। फल स्वरूप पाप की शुद्धि के लिए सद्गुरु की खोज शुरु होती है। इस तरह आत्मसाक्षी से की गई निन्दा साधक को गुरु भगवंत तक पहुँचाती है। सद्गुरु भगवंत मिलने के बाद विषय, कषाय या प्रमाद के अधीन होकर स्वीकारे हुए व्रतों में जो जो दोष लगे हों, उन दोषों को गुरु भगवंत के पास

विनम्र भाव से, पश्चात्ताप पूर्ण हृदय से मान, माया आदि भावों को एक तरफ रख कर, निवेदन करना गर्हा हैं।

गर्हा करता हुआ साधक गुरु भगवंत से कहता हैं, 'भगवंत ! मैंने आपके वचन की उपेक्षा की हैं। निर्बल निमित्तों से बचने के लिए ज़रूरी सत्त्व और पराक्रम का सदुपयोग करने के बजाय उन निमित्तों का भोग बन कर मैंने स्वीकार किए हुए व्रतों को दूषित किया हैं। मैं समझता हूँ कि मैंने ये अनुचित किया है। भगवंत ! किए हुए इन अकार्य संबंधी आपको जो भी योग्य लगे वो प्रायश्चित्त मुझे दीजिए। आप मुझे आत्म शुद्धि का मार्ग बताइए जिससे उस मार्ग पर चलकर पुनः मैं स्वयं को पवित्र कर सकूँ और पुनः व्रत के भाव में स्थिर हो सकूँ।'

जिज्ञासा : आत्मसाक्षी से निन्दा एवं गुरु साक्षी से गर्हा करने से क्या फायदा होता है ?

तृप्ति : आत्मसाक्षी से निन्दा करने से पापों के संस्कार शिथिल होते हैं, पापों के प्रति तिरस्कार प्रकट होता है और उसके कारण पापशुद्धि की तीव्र भावना जागृत होती है। पापशुद्धि की भावना से गुरु के पास जाकर मार्गदर्शन पाने का मन होता है। जिनको हमने अपने आध्यात्मिक विकास की जिम्मेदारी सौंपी हो वैसे गुरु भगवंत के पास जाकर अपने पापों की निन्दा करने से गुरु भगवंत को हमारे दोषों का खयाल आता हैं और पुनः पाप सेवन न हो ऐसा मार्गदर्शन उनसे मिलता हैं। भूतकाल में हुए दोषों के लिए किस प्रकार प्रायश्चित्त करना चाहिए, उसकी समझ प्राप्त होती है। समझ के अनुसार प्रयत्न करने से दोष नष्ट होते जाते हैं और गुरु कृपा से आत्मा में एक ऐसा सत्त्व प्रकटता हैं कि, जिससे पुनः पाप वृत्ति उत्पन्न ही नहीं होती। संक्षेप में कहें तो **निन्दा का फल गुरु तक पहुँचाना है एवं गर्हा का फल मार्गदर्शन पाना है।**

जिज्ञासा : इस गाथा में व्रत एवं चारित्राचार विषयक अतिचारों की निन्दा, गर्हा की। तब प्रश्न होता हैं कि क्या व्रत एवं चारित्राचार अलग हैं या एक ही है? और उनके अतिचार भी अलग हैं या एक है ?

तृप्ति : एक अपेक्षा से सोचें तो १२ व्रत और चारित्राचार भी अलग हैं और उनके अतिचार भी अलग हैं।

चारित्र याने अनेक भवों में एकत्रित किए हुए कर्मों के संचय को खाली करने की प्रवृत्ति[3]। कर्मों को ईकट्ठा करना उसे 'चय' कहते हैं एवं इस संचय को रिक्त करे अर्थात् खाली करे उसे 'रिक्त' कहते हैं। चय एवं रिक्त, इन दो शब्दों को जोड़कर चारित्र शब्द बना हैं।

यह चारित्र दो प्रकार का होता है : सर्वचारित्र और देशचारित्र। सर्वचारित्र में हेय का सर्वथा त्याग होता है एवं उपादेय का सर्वथा स्वीकार होता है, जबकि देशचारित्र में शक्ति अनुसार हेय का आंशिक त्याग एवं उपादेय का आंशिक स्वीकार होता है। सर्वचारित्र पाँच महाव्रत स्वरूप है, एवं देशचारित्र सम्यक्त्व मूलक बारह व्रत स्वरूप है।

इन दोनों प्रकार के चारित्र के पालन के लिए शास्त्रों में पाँच समिति एवं तीन गुप्ति रूप आठ आचार (चारित्राचार) बताए गए हैं। इन आठ आचारों को शास्त्रकारों ने 'अष्ट प्रवचन माता' स्वरूप बताया हैं। यह माता चारित्र रूपी बालक को जन्म देती हैं, उसका पालन पोषण करती हैं एवं उसकी वृद्धि भी करती हैं। इसलिए चारित्र के यह आठ आचार चारित्र भाव के सर्जक, शोधक एवं वर्धक माने गए हैं।

इस प्रकार पाँच महाव्रत एवं सम्यक्त्व मूलक बारह व्रत चारित्र स्वरूप हैं एवं पाँच समिति और तीन गुप्ति ये चारित्राचार स्वरूप हैं। इस सूत्र में आगे जिनका वर्णन किया है, वे वध, बंध आदि ८५ अतिचार चारित्र के अतिचार हैं, जब कि समिति-गुप्ति की अशुद्धियाँ चारित्राचार के अतिचार हैं।

चारित्र के अतिचार चारित्र को मलिन करते हैं, जब कि चारित्राचार के अतिचार चारित्राचार को मलिन करके परंपरा से चारित्र को मलिन करते हैं। इस तरह अपेक्षा से दोनों के अतिचार भी अलग हैं एवं दोनों के कार्य भी अलग हैं।

दूसरी अपेक्षा से सोचें तो चारित्र आत्मा का गुण है और उसकी शुद्धि के लिए किया गया बाह्य व्यवहार या क्रिया चारित्राचार है। इस चारित्राचार को भी कारण में कार्य का उपचार करके चारित्र कह सकते हैं एवं उस अपेक्षा से सोचें तो चारित्र एवं चारित्राचार एक ही हैं।

---

3. चय ते संचय कर्मनो, रित्त करे वली जेह - नवपद की पूजा

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'पंचाचार का सर्वथा पालन करके ज्ञानादि गुणों से समृद्ध होने की श्रमण भगवंतों जैसी तो मेरी शक्ति नहीं है, फिर भी कुछ-कुछ आचारों का पालन करके मैं अपने ज्ञानादि गुणों की आंशिक वृद्धि तो कर ही सकता था; पर निर्भागी ऐसे मैंने प्रमादादि दोषों के अधीन होकर, पंचाचार को छोड़कर, अनाचार का ही सेवन किया। ज्ञानाचार में स्वाध्याय करने के बदले अखबार पढ़ने में ही मैंने मेरी सुबह बिताई। दर्शनाचार के पालन में प्रभु दर्शन द्वारा स्वयं को निर्मल बनाने के बदले टी.वी., फिल्म के दृश्यों को देखकर आत्मा के ऊपर कुसंस्कार एकत्रित किये। चारित्राचार के पालन में योग्य मुद्रा एवं आसनपूर्वक चैत्यवंदनादि करके आत्मा को पुष्ट करने के बदले मैंने व्यायामशाला एवं अखाड़े में जाकर शरीर को पुष्ट करने में श्रम किया। शक्ति होते हुए भी तपाचार में तप, त्याग करने के बदले मैंने खाने-पीने में ही जिन्दगी बरबाद की। वीर्याचार में शुभ कार्यों के विषय में मेरी वीर्य शक्ति का उपयोग नहीं करके मैंने सांसारिक पापकार्यों में ही शक्ति का उपयोग किया हैं।

हे नाथ ! आप जैसे देव और सद्गुरु भगवंत मिलने पर भी मैं पंचाचार का पालन करने में कटिबद्ध नहीं बना, कभी पालन किया तो शास्त्र मर्यादा में रहकर भावपूर्वक नहीं किया। इन कारणों से मैंने पंचाचार में बहुत दोष लगाए हैं। इन दोषों को स्मृतिपटल पर लाकर, हे नाथ ! मैं उनकी निन्दा, गर्हा करता हूँ, एवं पुनः ऐसा न हो उसके लिये सावधान बनता हूँ।'

अवतरणिका :

सर्व व्रतों के सामान्य अतिचार की निन्दा करके अब उन दोषों की उत्पत्ति का जो मूल कारण हैं उसका प्रतिक्रमण करते हुए बताते हैं -

गाथा :

दुविहे परिग्गहम्मी, सावज्जे बहुविहे अ आरंभे।
कारावणे अ करणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।३ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

द्विविधे परिग्रहे च सावद्ये बहुविधे आरम्भे।
करणे कारणे च दैवसिकं सर्वम् प्रतिक्रामामि ।।३ ।।

गाथार्थ :

दो प्रकार के परिग्रह और पाप युक्त अनेक प्रकार के आरंभ करने में, करवाने में एवं ('अ' शब्द से) उनकी अनुमोदना करने में दिनभर में लगे हुए सर्व अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ ।

विशेषार्थ :

दुविहे परिग्गहम्मी - दो प्रकार के परिग्रह विषयक।

ममत्व से या मूर्च्छा से किसी भी वस्तु को ग्रहण करना या उसका संग्रह करना परिग्रह कहलाता है। यह परिग्रह दो प्रकार का है: १. बाह्य परिग्रह एवं २. अभ्यंतर परिग्रह।

उसमें बाह्य तरीके से जिसका संग्रह हो सके वैसे १. धन, २. धान्य, ३. क्षेत्र, ४. वास्तु, ५. चांदी, ६. सोना, ७. कांसा वगैरह अन्य धातु एवं उनके उपलक्षण से घर की सामग्री, ८. द्विपद एवं ९. चतुष्पद : ऐसे नौ प्रकार की बाह्य वस्तुओं का ग्रहण करना या उनका संग्रह करना, बाह्य परिग्रह है। जबकि बाह्य दृष्टि से दिखाई न दें ऐसे मिथ्यात्व आदि अंतरंग भाव अभ्यंतर परिग्रह है। उसके चौदह प्रकार हैं : (१) मिथ्यात्व (२) क्रोध (३) मान (४) माया (५) लोभ; ये चार कषाय; (६) पुरुष वेद (७) स्त्री वेद एवं (८) नपुंसक वेद; ऐसे तीन वेद एवं (९) हास्य

(१०) रति (११) अरति (१२) भय (१३) शोक (१४) जुगुप्सा; इन छः सहित नौ नोकषाय। ये चौदह भाव स्वयं ही परिग्रह स्वरूप हैं क्योंकि ये परभाव स्वरूप हैं एवं परभावों का संग्रह करना ही परिग्रह है और ये परभाव ही कर्मों का संग्रह कराकर आत्मा को बांधता है। अभ्यंतर परिग्रह रूप ये तमाम भाव जीव को बाह्य पदार्थों की तरफ आकर्षित करते हैं एवं उनमें सुख है ऐसा भ्रम उत्पन्न करवाते हैं। इस भ्रम के कारण ही जीव बाह्य पदार्थों का संग्रह करता है। इस तरह अंतरंग परिग्रह, बाह्य परिग्रह का हेतु बनता हैं।

तत्त्व दृष्टि से देखें तो समझ में आता है कि **बाह्य पदार्थ कभी भी जीव को सुख या दुःख नहीं दे सकते, जीव कभी भी उनसे शांति या समाधि नहीं पा सकता एवं उन पदार्थों के संग्रह से जीव निर्भयता से जी भी नहीं सकता।** फिर भी तात्त्विक दृष्टि से वस्तु के वास्तविक रूप को नहीं समझने के कारण जगत के जीव मानते हैं कि 'धन-सम्पत्ति वगैरह होगा तो मैं शारीरिक या व्यवहारिक कोई भी तकलीफ से बच सकूँगा, सुख के अनेक साधनों को पाकर आनन्द पा सकूँगा और जैसे-जैसे धन-सम्पत्ति बढ़ेगी वैसे-वैसे दुनिया में मान-प्रतिष्ठा पाकर मैं ऊँचे ओहदे पर पहुँच सकूँगा। पुत्र-परिवार-पैसा होगा तो भविष्य में भी मेरी सर्व सुविधाएँ सुरक्षित रहेंगी' ऐसा मानकर धन, धान्य, दास, दासी आदि अनेक वस्तुओं का संग्रह करता है एवं इन वस्तुओं के संग्रह के लिए ही जीव हिंसा, झूठ, चोरी आदि अनेक पाप करके नरकादि दुर्गति का भाजन बनता हैं। इसलिए ही ऐसा कहा जाता हैं कि सर्व पापों तथा दोषों का मूल बाह्य एवं अभ्यंतर परिग्रह हैं।

सावज्जे बहुविहे अ आरम्भे - पापमय बहुत प्रकार के आरंभ विषयक।

'सावद्य'[1] शब्द का अर्थ है पापयुक्त प्रवृत्ति अथवा निंदनीय प्रवृत्ति; एवं 'आरंभ'[2] शब्द का सामान्य अर्थ है कार्य की शुरुआत, परंतु उसका शास्त्रीय अर्थ होता है 'कोई भी हिंसक प्रवृत्ति'।

---

1. सावद्य-शब्द की विशेष समझ के लिए 'सूत्र संवेदना भाग-१' 'करेमि भंते' सूत्र देखिए।
2. **संरम्भः प्राणिवधादिसङ्कल्पः, समारम्भः परितापनादिः, आरम्भः प्राणिप्राणापहारः, तथा चोक्तम्-संकप्पो संरंभो परितावकरो भवे समारम्भो।**
   आरंभो उद्दवओ सव्वनयाणं विसुद्धाणं।।२।।
   सावद्ये सपापे सहावद्येन पापेन यः स सावद्यः - वन्दारुवृत्ति

धर्म ग्रंथों में 'आरंभ' शब्द 'संरंभ' एवं 'समारंभ' इन दो शब्दों के साथ दिखाई देता हैं। उनमें हिंसादि पाप करने से पहले उस संबंधी किया गया मानसिक संकल्प **संरंभ** हैं । इस संकल्प को पूर्ण करने की पूर्व तैयारी **समारंभ** हैं एवं जिसमें जीवों की हिंसादि होती है वैसी प्रवृत्ति **आरंभ** हैं । इन तीनों में मुख्य 'आरंभ' हैं । इसलिए उसके ग्रहण से तीनों का ग्रहण हो जाता हैं ।

ये आरंभ दो प्रकार का है : (१) सावद्य एवं (२) निरवद्य

'अवद्य' अर्थात् पाप और सावद्य अर्थात् पाप सहित। सावद्य आरंभ अर्थात् पाप युक्त आरंभ। जिससे आत्मा का अहित हो, रागादि भावों की वृद्धि हो, कुसंस्कार दृढ़ हो, वैसे आरंभ को सावद्य आरंभ कहते हैं। संसार में ऐसी सावद्य प्रवृत्तियाँ अनेक प्रकार की होती हैं, जैसे कि धनार्जन के लिए मिलें, कारखाने वगैरह चलाना, हिंसक वाहनों का प्रयोग करना, इन्द्रियों के पोषण के लिए नाटक, सिनेमा देखना, सुरीले संगीत सुनना, जीभ की लालसा का पोषण करने के लिए तरह-तरह के पकवान बनाना, खाना, पीना, घूमना-फिरना, नाचना-कूदना वगैरह अनेक प्रकार की हिंसक प्रवृत्तियाँ नि:शूकता से करनी अर्थात् पाप के भय बिना या संकोच बिना करनी, यह सब बहुविध[2] **सावद्य आरंभ** हैं।

निरवद्य आरंभ उसे कहते हैं जिसमें बाह्य से हिंसादि हो तो भी उसमें हिंसा करने का भाव न हों। जिस प्रवृत्ति द्वारा मोक्ष तक पहुँचने की भावना हो, जिसके द्वारा आत्मा से रागादि दोषों को टालकर आत्मा को वैराग्यादि गुणाभिमुख करके वीतरागभाव तक पहुँचाने की भावना हों, अनादि कुसंस्कारों को खत्म करके आत्मा को संस्कारित करने की भावना हो, वैसी प्रवृत्ति कदाचित् हिंसामय हो तो भी निरवद्य कहलाती हैं। भावपूर्वक परमात्मा की भक्ति, गुण संपन्न साधर्मिकों का वात्सल्य, तीर्थयात्रा, जिनमंदिरों का निर्माण, पौषधशाला का निर्माण, कारणिक अनुकंपा वगैरह सर्व कार्य द्रव्य से हिंसामय होने पर भी **निरवद्य आरंभ** कहलाते हैं; क्योंकि इन कार्यों को करते समय जयणा का भाव ज्वलंत होता हैं, हरपल जिनाज्ञा का स्मरण होता है एवं अनिवार्य रूप से जो हिंसा करनी पड़ती हैं, उस को छोड़कर उसमें एक भी जीव की अधिक हिंसा न हो जाए उसकी पूरी सावधानी रखी जाती हैं।

---

2 **बहुविहे** का अर्थ टीका में अनेक प्रकार से नि:संकोचपूर्वक ऐसा किया है।

स्वयं की भूमिका के मुताबिक शास्त्र सापेक्षता से की हुई जिन पूजा जैसी प्रवृत्तियाँ शुभ भाव की वृद्धि का मुख्य निमित्त होती हैं। ऐसी प्रवृत्तियों से श्रावक सर्व हिंसा से रहित सर्व विरति का पालन करने का सत्त्व पाकर शीघ्र ही संसार के सभी आरंभ-समारंभ से मुक्त हो सकता है। अत: ऐसी प्रवृत्तियाँ स्वरूप से सावद्य होने पर भी प्रकृत्ति (अनुबंध) से निरवद्य होती हैं । इसलिए उन्हें सावद्य आरंभ नहीं कहते, परंतु निरवद्य आरंभ कहते हैं। निरवद्य प्रवृत्ति का प्रतिक्रमण करने की कोई जरूरत नहीं होती, इसलिए इस गाथा में उसका प्रतिक्रमण नहीं किया गया है, परंतु दोषयुक्त सावद्य प्रवृत्ति का ही यहाँ प्रतिक्रमण किया गया हैं, क्योंकि ऐसी सावद्य आरंभ की प्रवृत्तिओं से ही विशेष कर्मबन्ध होता हैं । निरवद्य आरंभ से कभी भी पाप कर्मों का बंध नहीं होता।

जिज्ञासा : क्या कोई भी आरंभ युक्त प्रवृत्ति जिसमें हिंसादि होती हो वह कर्मबन्ध का कारण नहीं बनती ?

तृप्ति : नहीं, जैन शासन में ऐसा एकांत नहीं कि हिंसा से कर्मबन्ध होता ही हैं। कुछ प्रकार की हिंसा से कर्म बन्ध होता हैं तो कुछ प्रकार की हिंसा कर्तव्य भी बनती हैं। इसलिए उनसे कर्मबन्ध नहीं होता।

हिंसा के प्रकार :

इस बात को समझने के लिए सर्वप्रथम जैन शास्त्रों में कितने प्रकार की हिंसा बताई है, यह समझना पड़ेगा और बाद में ही कौनसी प्रवृत्ति करनी एवं कौन सी नहीं करनी, इसका निर्णय किया जा सकता है। जैन शास्त्रों में हिंसा के तीन प्रकार बताए हैं -

१) स्वरूप हिंसा २) हेतु हिंसा ३) अनुबंध हिंसा

इन तीनों प्रकार की हिंसा को समझाते हुए प.पू. महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी म.सा. डेढ़ सौ गाथा के स्तवन में बताते हैं कि -

हिंसा हेतु अयतना भावे, जीव वधे ते स्वरूप;
आणाभंग मिथ्यामति भावे, ते अनुबंध विरूप. ४-१९

१. स्वरूप हिंसा :

'जीव वधे ते स्वरूप'

जिस प्रवृत्ति में उपरी तौर से जीवों की प्राणनाशरूप हिंसा दिखाई देती हो, परंतु जिसमें जीवों की हिंसा करने का भाव न हो, बल्कि जीवों को बचाने का भाव ज्वलंत हो, प्रवृत्ति का लक्ष्य मात्र आत्म कल्याण या मोक्ष पाना हो, ऐसी शुभ भाव की वृद्धि के लिए भगवान की आज्ञा अनुसार की जानेवाली प्रवृत्ति में जो अनिवार्य हिंसा हो जाती है, उस हिंसा को **'स्वरूप हिंसा'** कहते हैं। ऐसी हिंसा की प्रवृत्ति मात्र दिखने में हिंसा जैसी होती है परन्तु वास्तव में हिंसा नहीं होती।

मोक्ष के उद्देश्य से, जिनाज्ञानुसार, यथाशक्ति जयणापूर्वक शुभ प्रवृत्ति करने वाले साधक का मन तो छः काय की जीवों की रक्षा करने का ही होता है। छः जीव निकाय की रक्षा संयम जीवन के बिना शक्य नहीं है एवं संयम जीवन का सामर्थ्य वीतराग की भक्ति बिना प्राप्त नहीं होता। इसलिए ही वैराग्यादि शुभ भावों की वृद्धि के लिए साधक अपनी भूमिका अनुसार देव भक्ति, गुरु भक्ति एवं साधर्मिक भक्ति आदि कार्य करता हैं। ये कार्य करते हुए अपने भावों की वृद्धि के लिए वह जो कुछ करता हैं, उसमें जयणा का भाव अर्थात् जीव को बचाने का भाव जाग्रत रहता हैं, सतत उसके लिए प्रयत्न भी होता हैं। ऐसी प्रवृत्ति से लेश मात्र अशुभ **कर्मबन्ध नहीं होता** एवं बंध हो तो मात्र पुण्य कर्म का ही बंध होता हैं।

यह बात भी खास ख्याल में रखनी है कि, संसारी या संयमी कोई भी जीव जब तक शरीर के साथ जुड़ा हुआ हैं एवं कायादि योगों का व्यापार जहाँ तक चालू हैं, तब तक प्रवृत्ति द्वारा हिंसा तो होगी ही। इसलिए तेरहवें गुणस्थानक तक ये हिंसा तो चालू रहती ही हैं। योग निरोध कर साधक जब चौदहवें गुणस्थानक को प्राप्त करता है। तब कायादि का व्यापार सर्वथा बंध होने के कारण वह सर्वथा हिंसा से मुक्त होंगा। इसके पहले साधक कभी भी हिंसा से नहीं बच सकता, क्योंकि उसकी कायादि से वायुकायादि जीवों की विराधना तो सतत चालू ही रहती है।

इस कारण ही हिंसा की बातें सुनकर, हिंसा से डरकर, किसी भी साधक को कभी अपनी भूमिका के अनुसार आत्मोन्नति में उपकारक जिनपूजा आदि शुभ अनुष्ठानों को छोड़ देने की ज़रूरत नहीं है, परंतु शुभ प्रवृत्तियों को त्यागने से पहले हिंसा एवं अहिंसा

के परमार्थ को जानना अति आवश्यक है। ऊपरी दृष्टि से जो प्रवृत्ति अहिंसामय दिखाई देती हो वही वास्तव में हिंसा की परंपरा का सर्जन करनेवाली भी हो सकती हैं। तो कभी ऐसा भी होता है कि जो प्रवृत्ति बाहर से हिंसामय दिखाई देती हो वह वास्तव में अहिंसा का उद्‌भव करनेवाली हो; जैसे कि श्रावक उचित जिनपूजा आदि एवं श्रमण उचित नवकल्पी विहार आदि में बाह्य दृष्टि से पानी, अग्नि, वनस्पति वगैरह जीवों की हिंसा दिखाई देती है, तो भी ये अनुष्ठान रागादि भावों का त्याग कराके साधक को अंततः मोक्ष तक पहुँचा सकते हैं। अतः बाह्य दृष्टि से दिखाई देती हिंसा को बुरा मानकर ऐसी शुभ प्रवृत्तियाँ कभी भी छोड़नी नहीं चाहिए।

व्यवहार में भी ऐसा देखने को मिलता है कि, छुरी का प्रयोग डॉक्टर एवं डाकू दोनों करते हैं। लेकिन एक को दयालु कहा जाता है एवं एक को हिंसक कहा जाता है; क्योंकि डॉक्टर का भाव बीमार का दुःख दूर करने का है, जब कि डाकू का भाव सामने वाले व्यक्ति को परेशान करने का होता है। बचाने के भाव से छुरी प्रयोग करते हुए कभी बीमार मर भी जाए तो भी डॉक्टर को कोई हत्यारा नहीं कहता, उस को कोई सज़ा नहीं होती; एवं मारने के इरादे से छुरी का प्रयोग करने वाले डाकू के हाथ से कोई बच भी जाए तो भी डाकू को हत्यारा कहा जाता है एवं उसे सज़ा भी दी जाती है।

यही बात स्वरूप हिंसा में बराबर लागू पड़ती हैं।

२. हेतु हिंसा :

'हिंसा हेतु अयतना भाव'

जिस प्रवृत्ति में प्रत्यक्ष रूप से हिंसा दिखाई देती हो या न भी दिखाई देती हो, परंतु हिंसा के कारणभूत प्रमाद, अयतना, अनुपयोग जिसमें प्रवृत्तमान हो, वैसी प्रवृत्ति को हेतु हिंसा कहते हैं। हालांकि ऐसी प्रवृत्ति में प्रत्यक्ष रूप से हिंसा नहीं दिखाइ देती, तो भी हिंसा का कारणभूत प्रमाद उसमें प्रवर्तमान होता हैं। ऐसी प्रवृत्तियों में जीव बचाने का भाव न होने के कारण उनमें हिंसा न होते हुए भी उनसे हिंसाजन्य **कर्मबन्ध चालू ही रहता हैं।**

अधिकतर संसारी जीव मनोज्ञ शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श प्राप्त करने रूप प्रमाद में पड़े हुए हैं। ऐसे जीव प्रत्यक्ष रूप से हिंसा नहीं करते तो भी अपने इच्छित

भौतिक सुख की प्राप्ति के लिए अन्य के सुख की उपेक्षा करने के भाव उनमें सतत रहते हैं, उनके ये भाव ही हेतु हिंसारूप हैं। जैसे संसारी जीव प्रमादवश हेतु हिंसा करता है वैसे साधु भगवंत विषय-कषाय आदि प्रमाद अपने जीवन में प्रवेश न हो उसके लिए सावधान होते हुए भी कभी अनुपयोग एवं अयतना से कहीं चूक जाते हैं; उनकी ऐसी यतनाविहीन प्रवृत्ति भी हेतु हिंसा में परिणत होती है। इसीलिए जीव बचाने का भाव होने पर भी अगर नीचे देखकर न चले तो हेतु हिंसा मानी जाती है एवं नीचे देखकर चलते हुए भी अगर जीव बचाने का भाव न हो तो भी हेतु हिंसा मानी जाती है, और कई बार जीव को मारने का भाव नहीं हो, बचाने का भाव हो, जयणा हो, तो भी वैषयिक सुख की इच्छा से प्रवृत्ति हो तो भी हेतु हिंसा होती है।

३. अनुबंध हिंसा :

'आज्ञाभंग मिथ्यामति भावे, अनुबंध विरूप'

अनुबंध अर्थात् परंपरा; जिससे हिंसा की परंपरा का सर्जन होता हो अथवा अनंत भवों तक जिसके कटु फल भुगतने पड़ते हों वैसी प्रवृत्ति को अनुबंध हिंसा कहते हैं। अनुबंध हिंसा के मुख्य कारण हैं (१) भगवद्-आज्ञा की उपेक्षा और (२) मिथ्यात्व से वासित मति। मिथ्यात्व के उदय बिना भगवान की आज्ञा की उपेक्षा नहीं होती एवं आज्ञा की उपेक्षा बिना अनुबंध हिंसा नहीं घटती, क्योंकि हिंसा की परंपरा का कारण है भव की परंपरा, एवं भव की परंपरा का कारण है भगवद् आज्ञा की उपेक्षा। अत: **भगवान की आज्ञा की उपेक्षा ही अनुबंध हिंसा हैं।**

परमतारक परमात्मा का प्रत्येक वचन सर्व जीवों को सुखी करने के लिए है, इसलिए उनकी एक-एक आज्ञा से सर्व जीवों की रक्षा होती है। ऐसे वचनों की उपेक्षा अर्थात् जीवों के सुख की या रक्षा की ही उपेक्षा। इसलिए ही भगवान की आज्ञा की उपेक्षा ही अनुबंध हिंसा कहलाती हैं।

सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी प्रभु जगत के सर्व जीवों को यथार्थरूप से देखते हैं एवं जानते हैं। जीव मात्र को सुख एवं दु:ख किस तरह से प्राप्त होता है वह भी वे समझते हैं। इस कारण ही उन्होंने सर्व जीवों के हित को लक्ष्य में रखकर साधक के लिए सर्व विधि-विधान बताये हैं। जगत के जीवों को पीड़ा न हो या उनके लिए दु:ख की परंपरा का निर्माण न हो, उसका ध्यान रखते हुए, प्रत्येक साधक को

अपनी-अपनी भूमिका अनुसार किस तरह से जीवन जीना चाहिए, धर्म की या अन्य कोई भी प्रवृत्ति किस विधि से, किस प्रकार से करनी चाहिए, उसका सुन्दर मार्गदर्शन प्रभु ने दिया हैं। इन्हीं बातों को परंपरा में आए हुए आचार्य भगवंतों ने शास्त्रों में लिखी हैं। शास्त्रों में बताये गए इन वचनों को स्मृति में रखकर यदि जीवन जीया जाए या प्रत्येक प्रवृत्ति की जाए तो जरूर स्व-पर प्राणों की सुरक्षा हो सकती है। परंतु मिथ्याभिमान धारण करके जो लोग ऐसा मानते हैं या कहते हैं कि 'बात-बात में भगवान की आज्ञा को क्या करना है ? आज के समय के मुताबिक जो ठीक लगे सो करना चाहिए।' ऐसा मानकर अगर भगवान के वचनों की उपेक्षा की जाए अथवा वचन से विपरीत प्रवृत्ति की जाए अथवा उपदेश दिया जाए तो उससे वास्तव में अनंत जीवों के हित का ह्रास होता है, अनेक जीवों के द्रव्य-भाव प्राणों की सुरक्षा का भंग होता है। ऐसे मिथ्याभिमानी, सर्वज्ञ के वचनों का अनादर करके वास्तव में भगवान का ही अनादर करते हैं। आप्त पुरुष परमात्मा का अनादर याने अनंत गुणों के स्वामी का अनादर और गुणवान का अनादर याने अपने सुख के मूलकारण समान गुणों का अनादर। इस प्रकार के अनादर से ऐसा गाढ कर्मबन्ध होता है कि जब उसका उदय चालू होता है तब आत्मा को पुनः ऐसे ही मलिन भाव आते हैं और उसकी वजह से वह अनंतकाल तक संसार में भटकता रहता है और आहार आदि द्वारा अनंत जीवों को पीड़ा उत्पन्न करने में निमित्त बनता है। इस तरह एक बार हुई परमात्मा के वचन की उपेक्षा अनंत भवों तक हिंसा करवाने में समर्थ है। अतः ऐसी प्रवृत्ति ही अनुबंध हिंसा रूप बनती है। ऐसी प्रवृत्ति करने वाला बाहरी दृष्टि से शायद धर्मात्मा जैसा ही दिखाई देता हो, उग्र तपश्चर्या आदि भी करता हो, तो भी प्रभु की आज्ञा के प्रति अनादर होने के कारण वह सतत अनुबंध हिंसा से युक्त माना जाता है।

अनुबंध हिंसा दुरंत संसार का कारण है। **क्लिष्ट कर्मबन्ध का हेतु हैं** एवं उसके विपाक (फल) अति कटु होते हैं। अतः साधक को ऐसी हिंसा से बचने का सतत प्रयत्न करना चाहिए एवं आज्ञा सापेक्ष जीवन जीना चाहिए।

हाँ ! कभी ऐसा बने कि भगवान की आज्ञा के अनुसार करने की पूर्ण भावना होने पर भी मतिमंदता के कारण आज्ञा विरुद्ध प्रवृत्ति हो जाए; परंतु वास्तविकता का खयाल आने पर तुरंत मुड़ जाने की भावना हो अथवा कभी प्रमादादि दोषों के कारण आज्ञानुसारी प्रवृत्ति न हो सके, तो भी अगर साधक के हृदय में उस अनुचित

प्रवृत्ति करने का अत्यंत दर्द हो, तो उसकी ऐसी प्रवृत्ति अनुबंध हिंसा रूप नहीं बनती। जबकि शास्त्र के प्रति अनादरवाला या नि:संकोच आज्ञानिरपेक्ष उपदेश देने वाला या प्रवृत्ति करने वाला इस अनुबंध हिंसा से बच नहीं सकता। जहाँ तक बुद्धि तीव्र मिथ्यात्व से ग्रस्त हो वहाँ तक प्रभु आज्ञा के प्रति आदर कभी भी प्रकट नहीं हो सकता एवं प्रभु आज्ञा के प्रति आदर बिना ऐसी हिंसा से बच नहीं सकते।

अनुबंध हिंसा करने वाला व्यक्ति अनेक भवों की परंपरा तक हिंसा के कटु फल भुगतता हैं। इसलिए ही उस हिंसा को अनुबंध हिंसा कहा है। सिर्फ स्वरूप हिंसा से विशेष कर्मबन्ध नहीं होता परंतु हेतु हिंसा से निश्चित रूप से विशेष कर्मबन्ध होता है एवं हेतु हिंसा से भी अनुबंध हिंसा बहुत ही कटु फल देनेवाली बनती हैं। अत: अनुबंध हिंसा से बचने का खास खयाल रखना चाहिए एवं उसके लिए **प्रत्येक प्रवृत्ति करते वक्त प्रभु आज्ञा का विचार अवश्य करना चाहिए।**

स्वरूप हिंसा	हेतु हिंसा	अनुबंध हिंसा
१. बाहरी दृष्टि से हिंसा दिखाई देती है।	१. बाह्य हिंसा हो या न भी हो।	१. बाह्य हिंसा हो या न भी हो।
२. जीवों को मारने की भावना कभी नहीं होती।	२. जीवों को पीड़ा देने की स्पष्ट भावना न होने पर भी हिंसा में निमित्त बने वैसे मद्य, विषय-कषाय आदि प्रमाद अवश्य होते हैं।	२. अनंत काल तक जीवों को पीड़ा उत्पन्न करने में निमित्त बन जाए ऐसी जिनाज्ञा की उपेक्षा यहाँ अवश्य होती हैं।
३. जीवों को बचाने का याने कि जयणा का परिणाम ज्वलंत होता है।	३. अन्य के सुख की उपेक्षा और स्व सुख की तमन्ना तीव्र होती हैं।	३. अन्य जीवों के आत्महित की उपेक्षा।
४. भगवद् आज्ञा की सापेक्षता याने सम्यग् दर्शन आदि की स्वीकृति।	४. भगवद् आज्ञा पालन की उपेक्षा हो या न भी हो पर विवेक का अभाव।	४. विवेक का पूर्ण अभाव, मिथ्यात्व का उदय, भगवद् आज्ञा की पूर्णतया उपेक्षा।
५. हिंसाजन्य अति अल्प कर्मबन्ध, भववृद्धि आदि फल का अभाव।	५. पापकर्मों का बन्ध और आज्ञा सापेक्षता हो तो अल्प कर्मबन्ध।	५. हिंसा के कटु फल प्राप्त होते हैं क्योंकि जिनाज्ञा की उपेक्षा ही भववृद्धि का कारण बनती हैं।

कारावणे अ करणे - (दो प्रकार के परिग्रह एवं सावद्य आरंभ की प्रवृत्तियाँ) करवाने में, करने में एवं उनके अनुमोदन में (यहाँ अनुमोदन में ऐसा अर्थ कारावणे एवं करणे के बीच के 'अ'[3] शब्द से किया है)।

करणे - यतना रखे बिना, रागादि भावों के पोषक अनेक प्रकार के परिग्रह एकत्रित करना तथा जिनसे हिंसादि का उद्भव हो ऐसी अनेक पाप प्रवृत्तियाँ स्वयं करना वह **करण** है।

कारावणे - परिग्रह एवं सावद्य आरंभ की प्रवृत्ति के लिए अन्य को प्रेरणा देना, समर्थन करना, 'यह ठीक है, इसलिए करो' ऐसा कहना अथवा पाप प्रवृत्ति के लिए अनेक प्रकार की सलाह-मशविरा देना वह **करावण** है।

---

3. श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित **वन्दारूवृत्ति (श्राद्धप्रतिक्रमणसूत्रवृत्ति)** में तथा श्री रत्नशेखरसूरि कृत अर्थदीपिका में तीसरी गाथा की टीका में बताया है कि **'कारावणे'** एवं **'करणे'** के बीच रहा 'अ' शब्द का अर्थ अनुमति करना - **'चशब्दात् क्वचिदनुमतावपि'** कहीं अनुमति में भी अर्थात श्रावक ने जिस पाप की अनुमोदना का पच्चक्खाण किया है, उसमें भी कोई अतिचार लगा हो तो उसका प्रतिक्रमण करना है।

यद्यपि यहाँ प्रश्न उठता है कि श्रावक का किसी भी विषय में त्रिविध त्रिविध पच्चक्खान तो होता नहीं, तो अनुमोदना में अतिचार का प्रश्न कहाँ से आया ?

यह बात स्पष्ट करते हुए योगशास्त्र की टीका में बताया है कि -वैसे तो श्रावक अनुमोदन न करने का पच्चक्खाण ले ही नहीं सकता । परन्तु कभी संयम स्वीकारने की भावनावाला कोई पुत्रादि के पालन के लिए या प्रतिमा स्वीकार कर घर में रहता हो तो वह कभी स्वयम्भूरमण समुद्र के मांस-मच्छी का नियम त्रिविध-त्रिविध से भी ले सकता है ।

इह यो हिंसादिभ्यो विरतिं प्रतिपद्यते, स द्विविधां कृतकारितभेदां त्रिविधेन मनसा वचसा कायेन चेति। एवं च भावना – स्थूलहिंसां न करोत्यात्मना न कारयत्यन्येन मनसा वचसा कायेन चेति। अस्य चानुमतिरप्रतिषिध्या, अपत्यादिपरिग्रहसद्भावात् तैर्हिंसादिकरणे च तस्यानुमतिप्राप्तेः। अन्यथा परिग्रहापरिग्रहयोरविशेषेण प्रव्रजिताप्रव्रजितयोरभेदापत्तेः। ननु भगवत्यादावागमे त्रिविधं त्रिविधेनेत्यपि प्रत्याख्यानमुक्तमगारिणः, तच्च श्रुतोक्तत्वादनवद्यमेव तत्कस्मान्नोच्यते ? उच्यते-तस्य विशेषविषयत्वात्। तथाहि यः किल प्रविव्रजिषुरेव प्रतिमाः प्रतिपद्यते पुत्रादिसन्ततिपालनाय यो वा विशेषं स्वयंभूरमणादिगतं मत्स्यादिमांसं स्थूलहिंसादिकं वा क्वचिदवस्थाविशेषे प्रत्याख्याति स एव त्रिविधं त्रिविधेनेति करोति। इत्यल्पविषयत्वान्नोच्यते। बाहुल्येन तु द्विविधं त्रिविधेनेति।

अ = अनुमोदन - परिग्रह एवं सावद्य आरंभ की प्रवृत्ति करने वाले की अनुमोदना करना, जो करता है अच्छा करता है ऐसा हर्ष जताना, उसके कार्य को समर्थन देना, उनकी प्रशंसा करना, वह **अनुमोदन**[4] है।

परिग्रह एवं सावद्य आरंभ की प्रवृत्ति करने से, करवाने से तथा उसका अनुमोदन करने से जो पाप लगा हो, उन सबका प्रतिक्रमण करना हैं।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं - दिनभर में लगे सर्व (अतिचारों) का प्रतिक्रमण करता हूँ।

'परिग्रह और अनेक प्रकार की सावद्य प्रवृत्तियाँ करने से, करवाने से या उनकी अनुमोदना करने से मुझे दिनभर में जो कोई दोष लगा हो उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।'

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता हैं कि -

'मैं अनंत सुखों का स्वामी हूँ। अनंत ज्ञानादि गुण मेरी संपत्ति हैं। परंतु...मोहाधीनता के कारण मैं यह बात भूल गया हूँ एवं जो मेरा नहीं है, मुझे वास्तविक सुख देनेवाला नहीं है, उन बाह्य-अभ्यंतर परिग्रहों में मैं फँस गया हूँ। इन कारणों से पाप युक्त अनेक आरंभ, समारंभ मैंने अपनाए हैं। मेरे काल्पनिक सुख एवं स्वार्थ के लिए मैंने अनेक जीवों को दुःखी किया हैं। मैंने यह गलत किया है। इससे मैंने मेरी आत्मा का अहित किया है...

---

4. अनुमोदना के तीन प्रकार हैं -

(१) अनिषेध अनुमोदना (२) उपभोग अनुमोदना (३) संवास अनुमोदना

(१) स्वयं अधिकारी होते हुए भी निश्रा में रहे हुए जीवों को यदि कोई पाप कार्य करने का निषेध न करे और मौन का सेवन करे तो **'अनिषिद्धमनुमतम्'** इस न्याय से अनुमोदना गिनी जाती हैं। वह **अनिषेध अनुमोदना** है।

(२) निषेध करने पर भी कुटुम्ब का कोई सदस्य हिंसादि पाप करके ही पैसे कमाता हो और उसी पैसों का यदि श्रावक उपयोग करे, तो उपभोग द्वारा उसकी जो पाप प्रवृत्ति की अनुमोदना है, वह **उपभोग अनुमोदना** कहलाती है ।

(३) पाप का निषेध भी किया और पाप की कमाई का उपभोग भी नहीं किया, फिर भी अगर श्रावक पाप करनेवाले के साथ रहता हो तो जैसे चोरों की टोली में रहा साहुकार भी चोर कहलाता हैं, वैसे ही पाप करने वाले के साथ रहने से भी वह पाप का साथ देने वाला ही माना जाता हैं, वह **संवास अनुमोदना** कहलाती है।

अब मुझे इस पाप की परंपरा को रोकना हैं। इसलिए आज से मुझे ऐसा संकल्प करना है कि जिससे पर पदार्थों की ओर जो अंधी दौड़ चालू है उस पर अंकुश लगे। पापमय आरंभ छूट जाए और ऐसा न हो तो कम से कम यह मर्यादित तो बने एवं निष्पाप जैसे आरंभादि के कार्य भी यतना प्रधान बनें। मन से सर्व पदार्थों की ममता न छूटे तो भी बाहर से तो उनका त्याग करने का प्रयत्न करूँ।

अगर ऐसा कुछ भी न कर सकूँ तो मेरी ये प्रतिक्रमण की क्रिया, पाप से लौटने के मेरे उद्देश्य को कैसे सफल बना सकेगी ? हे प्रभु! आज आपसे प्रार्थना करता हूँ कि मेरे संकल्प को साकार कर सकूँ, एवं पुनः पुनः परिग्रह एवं पापमय आरंभ की वृत्ति प्रवृत्ति के अधीन न बनूँ, वैसा सत्त्व मुझे आपके प्रभाव से प्राप्त हो जिससे मैं इन पापों से उभर सकूँ।'

चित्तवृत्ति का संस्करण :

इतना खास ध्यान में रखना है कि 'मैं प्रतिक्रमण करता हूँ' इतना बोलने मात्र से प्रतिक्रमण नहीं हो जाता, परंतु जो पाप हुआ हो, उस पाप से वापस लौटने स्वरूप प्रतिक्रमण होना जरूरी हैं। वैसा प्रतिक्रमण करने के लिए हृदय का परिवर्तन अति आवश्यक हैं। हृदय का परिवर्तन हो तो ही मन शुभ भाव में स्थिर हो सकता हैं एवं भविष्य में ऐसे पाप हो ही नहीं इसके लिए सावधान बन सकता हैं। अतः चित्तवृत्ति का आमूल परिवर्तन करके वास्तविक प्रतिक्रमण करने के लिए साधक को निम्न भावनाओं से हृदय को भावित बनाना चाहिए -

- जड़ बाह्य पदार्थ मुझे सुख नहीं दे सकते क्योंकि वे जड है, और मैं चेतनवंत हूँ।
- यदि ये मुझे सुख दे ही नहीं सकतें तो मुझे क्यों इनके प्रति ममता रखकर इनका संग्रह करना चाहिए ?
- कड़ी मेहनत करके इकट्ठे किए हुए ये भौतिक पदार्थ अनित्य हैं इसलिए इनकी देखभाल में मैं कितनी भी मेहनत करूँ तो भी ये सदा के लिए नही रहेंगे।
- खुद ही अशरण दशा में रहनेवाले स्वजन मेरी किस तरीके से रक्षा कर सकेंगे ?

- संग्रहवृत्ति से अथवा संग्रह की प्रवृत्ति से लोकप्रिय नहीं बना जाता परन्तु उदारता आदि गुणों के कारण सज्जन पुरुष लोक में प्रिय बनते हैं।
- निष्प्रयोजन महारंभ की एवं महापरिग्रह की प्रवृत्तियाँ मम्मण सेठ की तरह नरक का कारण[5] बनती हैं।
- अनुकूलता का राग या प्रतिकूलता का द्वेष एवं सुखशीलता के कारण जीव अनेक सुख सामग्रियों को इकट्ठा करता हैं, जो अनेक अनर्थों का कारण बनता हैं।
- धन्य हैं वे आनंद एवं कामदेव जैसे श्रावक, जिन्होंने परमात्मा की एक ही देशना में परिग्रह नामक बंधन की अनर्थकारिता सुनकर उसी क्षण 'मेरे पास जितना है उससे अणुमात्र भी वृद्धि नहीं करूँगा' ऐसी प्रतिज्ञा की। इस तरह से भोगोपभोग में भी नियंत्रण करके मात्र संवास अनुमोदना रहे वैसी भूमिका तक वे पहुँच सके।
- धन्य हैं धन्ना, शालिभद्र, मेघकुमार, गजसुकुमाल, अभयकुमार आदि महान श्रेष्ठिगण एवं राजकुमारों को जिन्होंने धन-संपत्ति, राजपाट छोड़कर सर्वसंग का त्याग किया।

परिग्रह के पाप से बचने के लिए श्रावक, जैसे पदार्थों की अनित्यता आदि का विचार करता है वैसे सावद्य प्रवृत्तियों से बचने के लिए **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'**[6] की भावना से रंजित होकर सोचता है कि - *'प्रत्येक जीव मेरे समान ही है। जैसे सुख मुझे प्रिय है एवं दुःख अप्रिय है, वैसे ही उन सबको भी सुख प्रिय है एवं दुःख अप्रिय हैं। इसलिए, मैं किसी के सुख को छीन न लूँ या कोई भी जीव मुझ से पीड़ित न हो। मैं किसी के दुःख में या मृत्यु में निमित्त न बनूँ इसलिए, मुझे खूब सावधान रहना चाहिए।'*

---

5 धण-संचओ अ विउलो, आरंभ परिग्गहो अ वित्थिण्णो।
नेइ अवस्सं मणस्सुं, नरगं वा तिरिक्खजोणिं वा।। -प्रबोध टीका

6 **आत्मवत् सर्वभूतेषु, सुख-दुःखे प्रियाप्रिये।**
चिन्तन्नात्मनोऽनिष्टां, हिंसामन्यस्य नाचरेत्।।२०।। - योगशास्त्र

ऐसी विचारधारा के कारण भौतिक पदार्थों की क्षणभंगुरता को जानकर, उनके प्रति असारता का भाव उत्पन्न होता है एवं सावद्य प्रवृत्ति से उत्पन्न हुई वैर की परंपरा को जानकर उसके प्रति अरुचि प्रकट होती है। फल स्वरूप यदि कभी भौतिक पदार्थों का संग्रह करना पड़े या सावद्य प्रवृत्ति करनी पड़े तो भी जीव खुशी से नहीं करता। इसलिए ही श्रावक को परिग्रह या सावद्य प्रवृत्ति करने पर भी पाप का अनुबंध नहीं होता। **प्रतिक्रमण का यही फल है कि, या तो पाप होता ही नहीं और अगर हो तो खुशी-खुशी नहीं होता।**

ज्ञानाचार

अवतरणिका

सर्व प्रकार के दोषों के मूल समान परिग्रह तथा आरंभ संबंधी पापों का प्रतिक्रमण करके अब क्रमशः ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के विषय में लगे दोषों का प्रतिक्रमण करना है। उसमें प्रथम ज्ञान के अतिचारों की निन्दा, गर्हा करते हुए कहते हैं -

गाथा :

जं बद्धमिंदिएहिं, चउहिं कसाएहिं अप्पसत्थेहिं।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ।।४ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

अप्रशस्तैरिन्द्रियैः चतुर्भिः कषायैः रागेण वा द्वेषेण वा
यद् (अशुभं कर्मम्) बद्धम् तद् निन्दामि तत् च गर्हे ।।४ ।।

गाथार्थ :

अप्रशस्त भावों में प्रवर्तित पाँच इन्द्रियों द्वारा, क्रोधादि चार कषायों द्वारा (एवं उपलक्षण से मनोयोग, वचन योग तथा काय योग - ऐसे तीन योग द्वारा) राग से अथवा द्वेष से जो कोई अशुभ कर्म बांधा हो, उसकी मैं (आत्म साक्षी से) निन्दा करता हूँ एवं (गुरु साक्षी से) गर्हा करता हूँ।

विशेषार्थ :

जं बद्धमिंदिएहिं (अप्पसत्थेहिं) - अप्रशस्त इन्द्रियों द्वारा जो कर्म बांधा हो।

कान, आँख, नाक, जीभ तथा त्वचा : ये पाँच इन्द्रियाँ है जो शब्द, रूप, गंध रस, तथा स्पर्श के विषयों का आत्मा को ज्ञान कराती हैं। ज्ञान के माध्यम स्वरूप इन पाँच इन्द्रियों का गलत उपयोग करने से जीव को कर्मबंध होता है।

देखने की शक्ति आँख की है फिर भी कमजोर आंख वाला व्यक्ति चश्मे के माध्यम बिना नहीं देख सकता। उसी तरह ज्ञान आत्मा का गुण है, तो भी ज्ञानावरणीय कर्म से आवृत शक्तिवाली आत्मा स्वयं सर्व वस्तुओं का ज्ञान नहीं कर सकती। उसको रूप देखने के लिए आंख, गंध पहचानने के लिए नाक, शब्द सुनने के लिए कान, रस का अनुभव करने के लिए जीभ एवं स्पर्श का ज्ञान पाने के लिए त्वचा की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान के इन पाँच साधनों को पाँच इन्द्रियाँ कहते हैं। मात्र सम्यग् ज्ञान के साधन रूप से उपयोगी बनती अथवा हितकारी मार्ग में प्रवर्तन करती इन्द्रियाँ, प्रशस्त इन्द्रियाँ हैं; परंतु सम्यग् ज्ञान से विपरीत मार्ग पर, आत्मा का अहित हो, रागादि भावों की वृद्धि हो वैसी अनुचित तरीके से प्रवृत्त इन्द्रियाँ अप्रशस्त[1] इन्द्रियाँ कहलाती हैं । इन इन्द्रियों का अप्रशस्त व्यवहार ज्ञान के अतिचार स्वरूप है एवं कर्म बंध का कारण है।

1.	**प्रशस्त प्रवृत्ति**	**अप्रशस्त प्रवृत्ति**
स्पर्शेन्द्रिय **त्वचा**	जिन की भक्ति, गुरु की वैयावच्च, ग्लान की सेवा वगैरह के लिए त्वचा का उपयोग करना। कोई वस्तु भक्ति के योग्य है कि नहीं इसकी परीक्षा के लिए स्पर्श करना।	राग से या आसक्ति उत्पन्न हो इस तरह स्त्री, पुरुष या बालक का स्पर्श करना, आनंद के लिए मुलायम चीजों का बार बार प्रयोग करना। पाउडर-लिपस्टिक वगैरह सौन्दर्य प्रसाधनों का उपयोग करना, पंखादि की हवा लेनी, मुलायम रेशमी कपड़े आदि का उपयोग करना।
रसनेन्द्रिय **जीभ**	धर्म कथा करना, तत्त्व के निर्णय करने के लिए चर्चा करनी, गुणवान आत्माओं के गुण गाना, पंच-विध स्वाध्याय करना।	दोषों की वृद्धि हो ऐसी विकथा करना, पर की निन्दा करनी, चाड़ी-चुगली करनी, राग-द्वेष से इष्टानिष्ट आहारादि का उपयोग करना, रागादि की वृद्धि हो ऐसा बोलना।

यह कर्मबंध ज्ञान स्वरूपी आत्मा के ऊपर एक आवरण उत्पन्न करता है, जिसके कारण अनंत ज्ञानवती आत्मा भी अज्ञान के अंधेरे में लड़खड़ा कर इधर-उधर सर्वत्र दु:ख का भागी बनती है। श्रावक अपनी ऐसी स्थिति से अवगत होता है। इसलिए वह अत्यंत सजग बनकर इन्द्रियों को नियंत्रण में रखने की कोशिश करता है। फिर भी अनादि काल से अति अभ्यस्त बने प्रमाद और रागादि के कुसंस्कार निमित्त प्राप्त होते ही उसके संकल्प को डगमगा देते हैं। उस का मन निर्बल एवं नि:सत्त्व बन जाता है। वह भूल जाता है कि 'मैं श्रावक हूँ, मैंने व्रत नियमों को स्वीकार किया है, इसलिए मुझे ऐसी अनुचित प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिए।' परिणाम यह आता है कि जिस तरह रागादि की वृद्धि हो उसी तरह इन्द्रियाँ प्रवर्तने लगती है। फिर तो बहकी हुई इन्द्रियाँ कभी उसको स्त्री, पुरुष आदि के रूप में पागल बनाती हैं तो कभी संगीत के सूरों में भान भुलाती हैं। कभी अपेय का पान करवाती हैं तो कभी अभक्ष्य का भक्षण करवाती हैं। कभी स्त्री के मुलायम स्पर्श से उसके होश हवास दुरुस्त हो जाते हैं तो कभी सुगंध उसके चित्त को विक्षिप्त कर देती है। इस तरह **सम्यग्ज्ञान के मार्ग से विचलित होकर**

घ्राणेन्द्रिय **नाक**	देव-गुरु की भक्ति के लिए अन्न, फल, औषध वगैरह योग्य हैं कि नहीं उनकी परीक्षा के लिए सूँघना।	भौतिक आनन्द के लिए अत्तर, सेन्ट, फूल, साबुन, क्रीम, पाउडर वगैरह सूँघना, सुगंध का राग एवं दुर्गन्ध का द्वेष करना।
चक्षुरिन्द्रिय **आंख**	आत्म कल्याण के लिए अनंत गुणों के निधानभूत प्रभु के तथा गुणवान आत्माओं के दर्शन करना, सत्ग्रन्थ का वांचन करना, जीव दया के हेतु से जयणापूर्वक वर्तन करना।	मोहाधीन बनाये उस रीति से स्त्री के अंगोपांग आदि देखना, मोह बढ़े ऐसा मिथ्याश्रुत पढ़ना, नाटक-पिक्चर देखना, कुतूहलता से दुनिया भर के कहलाते सौन्दर्य देखना, जरूरत बिना विंडो-शॉपिंग करना।
श्रोत्रेन्द्रिय **कान**	जिनवाणी का श्रवण करना, स्व दोषों का दर्शन कराने वाले गुरु भगवंतों की तथा कल्याण मित्र की हितशिक्षा स्वस्थ चित्त से सुनना।	संगीत के सुर, विकथाएँ, निन्दा, चाड़ी-चुगली सुनना, फटाके फोड़ना, जोर-शोर से वार्जित्रों को बजाना।

इन्द्रियों का किसी भी विषय के साथ संयोग हो तब राग-द्वेष न होने देना, उसमें मध्यस्थ रहना, इसे प्रशस्त व्यापार कहते हैं।

अप्रशस्त मार्ग पर चलती इन्द्रियों से ज्ञानाचार दूषित होता है। इसलिए इन्द्रियों का यह अप्रशस्त प्रवर्तन ही ज्ञान का अतिचार है। दिनभर में ऐसे जो भी अतिचार लगे हों उनकी इस गाथा द्वारा निन्दा एवं गर्हा करनी है।

निन्दा, गर्हा करके अप्रशस्त भावों को छोड़कर पुन: अपने ज्ञान में स्थिर होकर, श्रावक अतिचार के मार्ग से लौटकर एक बार फिर पुण्योदय से प्राप्त इन्द्रियों का उपयोग केवल सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए करने का संकल्प करता है; और अपने संकल्प को सफल बनाने के लिए भगवान के वचनों का चिंतन मनन करके अपना समग्र जीवन प्रभु के वचनानुसार गुजारने का प्रयत्न करता है। जैसे कि आँखों का उपयोग **मुख्य**तया प्रभु दर्शन, सत्शास्त्र के वाचन एवं जीवदया के पालन में करता है। इसके सिवाय आँखों का उपयोग करना पड़े तो पूरी सावधानी पूर्वक, कहीं भी रागादि-भावों की वृद्धि न हो जाए इसकी पूरी सतर्कता रखकर करता है। आँखों की तरह सर्व इन्द्रियों के ऐसे व्यापार को प्रशस्त व्यापार कहते हैं। इस तरह इन्द्रियों को प्रशस्त मार्ग पर प्रवर्तित करने से ज्ञानाचार में अतिचार लगने की संभावना बहुत कम हो जाती है ।

जिज्ञासा : पाँचों इन्द्रियों को अपने अपने विषय में प्रवर्तमान कराना, उसमें ज्ञानाचार का अतिचार अर्थात् ज्ञानाचार विषयक दोष कैसे कह सकते हैं ?

तृप्ति : पुस्तक, पेन, पत्र आदि ज्ञान के साधन होने से उनका प्रयोग सिर्फ सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के अलावा उनका उपयोग हो तो वह ज्ञान की आशातना मानी जाती है जिससे ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है। उसी तरह पाँचों इन्द्रियाँ भी ज्ञान का साधन हैं। इसलिए, उनका उपयोग भी सम्यग् ज्ञान की प्राप्ति के लिए ही करना चाहिए। फिर भी पाँचों इन्द्रियों का उपयोग ज्ञान साधना के लिए न करते हुए विषय साधना के लिए करने से, ज्ञान के साधनों की आशातना-विराधना होती है। इसलिए, इन्द्रियों का दुरुपयोग ज्ञानाचार की विराधना रूप है और उससे ज्ञानावरणीय कर्म का बंध होता है।

चउहिं कसाएहिं अप्पसत्थेहिं - अप्रशस्त चार कषायों द्वारा (जिस कर्म का बंध किया हो।)

किसी के अपराध को न सहन करने का परिणाम क्रोध[2] है। जाति आदि से मैं कुछ विशेष हूँ ऐसा भाव मान है। न हो ऐसा दिखाने की प्रदर्शनमयी वृत्तिरूप कपटभाव माया है और ज्यादा से ज्यादा पाने की या संग्रह करने की तृष्णा लोभ है।

क्रोध, मान, माया, लोभ : ये चार कषाय जीव के परम शत्रु हैं। संसार के सर्व संक्लेश एवं दुःखों का एक मात्र कारण हैं। इनकी उपस्थिति में जीव कभी भी वास्तविक सुख नहीं पा सकता। यद्यपि ये कषाय दुःख के कारण हैं, तो भी उनका सदुपयोग करने में आए तो वे भी आत्महित में सहायक बन सकते हैं। इसलिए ही शास्त्रकारों ने आत्महित साधने की उनकी क्षमता के मुताबिक उनके दो प्रकार बताये हैं - १. प्रशस्त कषाय[3] २. अप्रशस्त कषाय।

---

2. ऊपर बताई हुई क्रोधादि चार कषायों की व्याख्या, उनके भेद-प्रभेद वगैरह की पूर्ण जानकारी सूत्र संवेदना भा.१ सूत्र-२ में से प्राप्त हो सकती है।

३ कषाय	प्रशस्त	अप्रशस्त
क्रोध	शिष्य या पुत्रादि को सुधारने के लिए, देव-गुरु व धर्म की हानि करने वाले को शिक्षा देने के लिए या अपने कर्म, कुसंस्कार या दोषों के प्रति विवेक पूर्वक किया गया क्रोध प्रशस्त क्रोध है।	अपनी मरजी मुजब न हो या अपनी ईष्ट वस्तु या व्यक्ति को कोई नुकसान पहुँचाता हो या कुछ अनिच्छनीय प्रसंगों के कारण जो गुस्सा आता है वह अप्रशस्त क्रोध है।
मान	उत्तम देव-गुरु-धर्म या कुल आदि मिलने पर मान अर्थात् ऐसी उत्तम चीज मिलने के बाद अब मैं हरगिज हीन प्रवृत्ति नहीं कर सकता ऐसा विवेक, स्वीकृत व्रतादि में स्वाभिमानपूर्वक निश्चल-अडिग रहना प्रशस्त मान है।	देव-गुरु की कृपा से, पुण्य योग से मिले रूप, ऐश्वर्य, कुल जाति आदि का अभिमान अथवा ज्ञान का, बल का या कुशलता का अभिमान करना अप्रशस्त मान है।
माया	धर्म की प्राप्ति के लिए, स्व-पर आत्मा के हित के लिए या प्रवचन की निन्दा को रोकने के लिए विवेकपूर्वक की हुई माया अथवा अपने मन एवं इन्द्रियों को विकारी बनने से ठगना भी प्रशस्त माया है।	भौतिक स्वार्थ को साधने के लिए कोई भी कार्य में माया, वक्रता, दूसरों को ठगने की वृत्ति तथा मात्र भाव बिना लोक में प्रिय बनने के लिए देव-गुरु की भक्ति अप्रशस्त माया है।

आत्महित में सहायक बने ऐसे कषायों को प्रशस्त कषाय कहते हैं और आत्महित में बाधक बने ऐसे कषायों को अप्रशस्त कषाय कहते हैं। इस गाथा में ऐसे अप्रशस्त कषाय द्वारा जो कर्म-बंध हुआ हो उसकी ही निन्दा की गई है, पर प्रशस्त कषाय की नहीं, क्योंकि हिंसक शस्त्र का सही उपयोग आता हो तो वह सुरक्षा का कारण बन सकता है, उपयोग करना आता हो तो विष भी औषध रूप बन सकता है एवं योग्य तरीके से वश करने में आए तो हिंसक साँप भी आजीविका का साधन बन सकता है, वैसे ही विवेकपूर्ण उपयोग किए हुए ये कषाय कर्मबंध के नहीं पर कर्मनाश के कारण बनकर आत्महित में सहायक भी बन सकते हैं।

इसीलिए साधक, जब तक सम्पूर्ण कषाय बिना जीने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सकता तब तक अपने कषायों के प्रवाह को बदलकर, उनको अप्रशस्त से प्रशस्त बनाने का प्रयत्न करता है; क्योंकि वह जानता है कि कषायों को समूल नाश करने का यही उपाय है। एक बार अप्रशस्त कषाय प्रशस्त बन गए तो प्रशस्त कषाय को निकालना सरल है। वे पालतू प्राणी की तरह बुलाने पर आते हैं और काम पूर्ण होते ही वापस चले जाते हैं। हाँ, उनका उपयोग तीक्ष्ण हथियार की तरह सावधानी से करना चाहिए।

लेज़र सर्ज़री करने वाला डॉक्टर, जैसे स्पर्श मात्र से जला देने वाली तीक्ष्ण लेज़र किरणों द्वारा भी अत्यंत विवेक एवं सावधानी पूर्वक, जहाँ जितने किरणों की ज़रूरत हो वहाँ उतने प्रमाण में ही उनका उपयोग करके, रोगयुक्त भाग को दूर करके रोगी को रोग मुक्त कर सकता है, उसी प्रकार साधक भी संसार में डुबाने वाले तीक्ष्ण कषायों द्वारा भी विवेक एवं सावधानीपूर्वक, जहाँ जितने कषायों की ज़रूरत हो वहाँ उतने प्रमाण में उनका उपयोग करके संसार सागर से पार हो सकता है।

कषाय	प्रशस्त	अप्रशस्त
लोभ	आत्मिक गुणों के विकास के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्रादि गुणों को विकसित करने का लोभ, धार्मिक कार्य करने का लोभ, यथाशक्ति तप-त्याग करने का लोभ प्रशस्त लोभ है।	ममता के बंधन को दृढ़ करें ऐसे धन-धान्यादि परिग्रह के लिए या प्रमाद के पोषण के लिए की गई इच्छाएँ अप्रशस्त लोभ कहलाती हैं।

साधक समझता है कि, संसार और उसकी सामग्री के प्रति उसका राग भयंकर है। फिर भी प्रारंभिक कक्षा में राग मुक्त जीवन जीना उसके लिए संभवित नहीं, इसलिए रागादि की परंपरा और उसकी वृद्धि को रोकने एवं रागादि को निर्बल कर, आत्महित साधने के लिए साधक राग के स्थानों को बदलता है। रागी पात्रों के बदले वीतरागी देव, उनके मार्ग पर चलने वाले सद्गुरु भगवंत तथा साधर्मिक आदि के साथ अपना राग जोड़ता है। उत्तम द्रव्यों से वीतराग की भक्ति करके वह वीतरागता के समीप जाने का प्रयत्न करता है, क्योंकि रागी पात्रों के साथ राग जोड़ने से, यदि उनकी तरफ से भी वैसा ही प्रतिभाव प्राप्त हो तो राग की वृद्धि होती है, जब कि वीतराग आदि के साथ राग जुड़ने से, बदले में विकृत भाव न मिलने के कारण राग की वृद्धि नहीं होती और वीतराग के प्रति प्रेम प्रकटने से वीतरागता के प्रति आकर्षण पैदा होता है, जो वीतरागता प्राप्त करने का विशिष्ट प्रयत्न करवाता है और अंत में साधक को वीतराग बनाता है । वैसे तो देव-गुरु के प्रति उत्पन्न हुआ राग भी अंततः तो साधना क्षेत्र में बाधक ही होता है । फिर भी वह राग संसार का राग तोडने में सहायक होता है और अंत में मल निकालने के लिए एरंडे के तेल की तरह स्वयं नष्ट हो जाता है । इस राग की ऐसी प्रवृत्ति होने के कारण ही वह राग प्रशस्त कहलाता है । उपरांत यह राग आज्ञाकारी सेवक जैसा होता है। इसलिए ज़रूरत हो तब उसे बुला सकते हैं और ज़रूरत न हो तब उसे वापस भी भेज सकते हैं। देव की तरह गुरु का राग भी संसार और संसार के संबंधों का त्याग करवाने में अति उपकारक बनता है । उस प्रशस्त राग को गुरु के उपदेश अनुसार अनुष्ठान करते करते ही तोड़ा जा सकता है और ऐसे प्रशस्त राग से भी मुक्त होकर मुमुक्षु निर्बंध अवस्था के सुख का अनुभव कर सकता है। इस तरह, भयंकर विष जैसे राग को भी यदि संस्कारित करके उपयोग करें तो वह भव रोग से मुक्त कराने वाली औषधि बन जाती है।

राग की तरह क्रोध भी भयंकर है। अपराधी पर क्रोध हो तो वह क्रोध स्व-पर को नुकसान करने वाला बनता है। उसके बदले अगर अपराध के मूल कारणभूत अपने कर्मों, दुर्गुणों एवं कुसंस्कारों के ऊपर क्रोध करें, तो क्रोध के कारण नष्ट होने से क्रोध को कहीं अवकाश ही नहीं मिलता। कभी ऐसा बने कि जवाबदारी के कारण सामने वाले व्यक्ति के हित को लक्ष्य में रखकर या शासन की रक्षा के लिए क्रोध करना भी पड़े, परंतु ऐसा क्रोध करने से पहले सामने वाले व्यक्ति की

भूमिका का विचार करके, उसकी जितनी भूल हो, जिस प्रकार वह सुधर सकेगा, वह सोचकर उतनी ही मात्रा में उचित रीति से क्रोध किया जाए तो वह क्रोध सामने वाले व्यक्ति को सुधारने में निमित्त बनता है और इसलिए ही उसको प्रशस्त क्रोध कहते हैं।

इससे विपरीत शिष्य की या पुत्र की भूल देखकर आवेश में आ जाए, विवेक रहित वचनों का प्रहार शुरू हो जाए, अपना संयम गँवा दें, सामने वाले व्यक्ति के हित की भावना के बदले 'मेरा कहा क्यों माना नहीं ?' ऐसा मान का भाव आ जाए तो समझना कि ये कषाय प्रशस्त नहीं है। **चाहे तुमने अच्छे भाव से किया हो, तो भी कषाय करने का तरीका अनुचित होने के कारण, उसमें विवेक या सावधानी नहीं होने के कारण, वह कषाय प्रशस्त भाव से किया हुआ होने पर भी प्रशस्त नहीं रहता।** इस तरीके से कषायों की प्रशस्तता के विषय में गंभीरता से सोचना चाहिए, नहीं तो कभी प्रशस्त लगता हुआ कषाय भी अप्रशस्त बन कर स्व-पर के हित को हानि पहुँचाने का कार्य कर सकता है।

जैसे कि अपने ५०० साधुओं को चक्की में पीसने वाले जैन धर्म के द्वेषी पालक मंत्री पर किया हुआ स्कन्धकसूरि का क्रोध। ४९९ शिष्यों को चक्की में पीसने तक समता को धारण करने वाले स्कन्धकसूरि ने जब पालक मंत्री बाल मुनि को पिसने लगा तब विनती की कि 'पहले मुझे पीसो, बाद में बाल मुनि को'। पालक ने जब इस विनती का स्वीकार नहीं किया तब स्कन्धकसूरि को लगा कि 'मेरी इतनी सी बात को भी स्वीकारा नहीं, ठुकरा दिया ?' ४९९ शिष्यों को निर्यामणा कराके मोक्ष तक पहुँचाने वाले स्कन्धकसूरि भी यहाँ चूक गए, मान के अधीन बन गए एवं पालक पर क्रोधित हो गये। इस क्रोध के कारण नियाणा कर बैठे और मृत्यु के बाद व्यंतर देव बने। इस प्रसंग में क्रोध करने के बाह्य निमित्त यानि कि क्रोध का विषय या स्थान तो प्रशस्त ही था पर उसमें अप्रशस्त मान मिलने के कारण प्रशस्त क्रोध भी अप्रशस्त बन गया। देखा जाए तो अगर यह क्रोध किसी के हित को लक्ष्य में रखकर पालक को सुधारने के उद्देश्य से उचित तरीके से किया जाता तो वह प्रशस्त ही माना जाता, परंतु स्कन्धकसूरिजी के क्रोध के मूल में किसी के अहित को रोकने का या किसी का हित करने का प्रशस्त भाव होने के बजाय अप्रशस्त मान मिला हुआ था। अतः वह प्रशस्त न रहकर अप्रशस्त बन गया ।

प्रशस्त एवं अप्रशस्त कषायों की इन मर्यादाओं को जानकर श्रावक सतत अपनी इन्द्रियों, कषाय तथा योग को अप्रशस्त मार्ग से मोड़कर प्रशस्त बनाने का प्रयत्न करता है । उसके द्वारा अपने रागादि कषायों को घटाने का प्रयत्न करता है। ऐसा होते हुए भी निमित्त मिलने पर कभी अनादिकाल से अभ्यस्त कुसंस्कार जागृत हो जाते हैं और उसके कारण आत्मा का अहित हो, कषायों की वृद्धि हो, ऐसे मार्ग पर साधक मुड़ जाता है। इसकी वजह से वह छोटे-छोटे निमित्तों में भी निरर्थक क्रोध करता है। धन-सम्पत्ति आदि के लिए लोभ करता है। अपने रूप, सौन्दर्य, धन आदि का गर्व करता है। ऐसी सर्व काषायिक प्रवृत्तियों को अप्रशस्त कषाय की प्रवृत्ति कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान के मार्ग से चलित होकर ही जीव ऐसे अप्रशस्त कषायों के अधीन बनता है। इसलिए कषायों का अप्रशस्त व्यवहार ज्ञानाचार को कलंकित करता है। इस पद का उच्चारण करते वक्त दिनभर में अप्रशस्त कषाय से जो भी अतिचार लगे हों उनकी निन्दा और गर्हा करनी हैं।

अप्रशस्त योग का प्रतिक्रमण :

मूल में स्पष्ट शब्दों द्वारा तीन योगों का उल्लेख नहीं किया है, तो भी इन्द्रिय एवं कषाय के साथ-साथ उपलक्षण से यहाँ मन, वचन और काया रूप तीन योगों से होने वाले दोषों की भी निन्दा, गर्हा करनी हैं। इन योगों का उपयोग भी प्रशस्त एवं अप्रशस्त ऐसे दो प्रकार का होता है। उसमें शुभ विचार, शुभ चिंतन या शुभ ध्यान में मन को जोड़ना 'प्रशस्त मनोयोग' कहलाता है। आत्म कल्याण के मार्ग में उपयोगी वाणी के व्यवहार को 'प्रशस्त वचन योग' कहते हैं एवं प्रभु भक्ति, गुरु भक्ति या अन्य कोई भी उचित कार्यों में की हुई काया की प्रवृत्ति को 'प्रशस्त काय योग' कहते हैं। इससे विपरीत आर्त्त या रौद्रध्यान का कारण बने ऐसा चिंतन आदि करना, कर्कश अहितकारी वाणी बोलना, अनुचित क्रिया में काया का प्रवर्तन करना इत्यादि को मन, वचन, काया के व्यापार को अप्रशस्त मन, वचन, काया का योग कहते हैं ।

यह गाथा बोलते हुए ऐसे अप्रशस्त योग से भी जो कर्म बांधा हो, उसकी भी निन्दा, गर्हा करनी है।

रागेण व दोसेण व तं निंदे तं च गरिहामि - (अप्रशस्त) राग से अथवा द्वेष से (जो कर्म बांधा हो) उसकी मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

राग अर्थात् आसक्ति एवं द्वेष अर्थात् अरूचि। निश्चय नय से[4] **'संसारवर्ती कोई भी पदार्थ अच्छा भी नहीं है एवं बुरा भी नहीं है',** इस प्रकार के शास्त्र वचनों को समझने वाला श्रावक, संसार में कहीं भी राग-द्वेष न हो जाए इसके लिए सतत सावधान रहता है। फिर भी बलवान चारित्र मोहनीय कर्म को परवश जीव निमित्त मिलने पर राग में रंग जाता है एवं द्वेष के अधीन बनता है और नए नए कर्म को बांधकर दु:खी होता है। अप्रशस्त इन्द्रियाँ, कषाय एवं योग जैसे ज्ञान की आशातना स्वरूप थे, वैसे अप्रशस्त राग-द्वेष भी ज्ञान के दुरूपयोग रूप होने के कारण, उन्हें टीकाकार ने ज्ञानाचार की मलिनता स्वरूप ही बताया है।

जिज्ञासा : 'नाणम्मि' सूत्र में काल-विनय आदि ज्ञान के आचारों का वर्णन है। उनका परिशीलन करते हुए यह समझ में आता है कि इन आचारों का पालन न करना ही अतिचार है। इस गाथा में काल-विनय आदि का ध्यान न रखने के अतिचार न बताते हुए अप्रशस्त इन्द्रिय, रागादि कषाय एवं योग को ज्ञान का अतिचार बताया, उसका क्या कारण है ?

तृप्ति : 'नाणम्मि' सूत्र में श्रुतज्ञान की प्राप्ति तथा वृद्धि के साधनों को ज्ञानाचार कहा है एवं उनको न पालना उसे अतिचार कहा है। जब कि यहाँ प्राप्त हुई ज्ञान शक्ति का शुभ मार्ग में उपयोग नहीं करना या विपरीत तरीके से अप्रशस्त कार्यों में उपयोग करना, उसको ज्ञान का अतिचार कहकर, 'ज्ञानावरणीय कर्मबंध' का कारण बताया है। कहा है कि जो ज्ञान होने पर भी रागादि में प्रवर्तता है उसका ज्ञान वास्तव में ज्ञान[5] ही नहीं होता लेकिन विपर्यास होता है। ऐसा विपरीत ज्ञान ही व्रत-नियम की मर्यादा का उल्लंघन करवाकर कर्मबन्ध का कारण बनता है। इस अपेक्षा से ही जो रागादि ज्ञान को मलिन करते हैं वैसे अप्रशस्त राग और द्वेष को ज्ञान के अतिचार रूप बताया हैं।

---

4. **निश्चयात्किञ्चिदिष्टं वाऽनिष्टं वा नैव विद्यते ॥९-३॥** - अध्यात्मसार

5. **तज्ज्ञानमेव न भवति, यस्मिन्नुदिते विभाति रागगणः।**
तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम्॥ **- वन्दारूवृत्ति**
जिनका उदय होने पर भी रागादिक का समूह मर्यादा के बाहर नियम का उल्लंघन करके आगे चला जाए वह ज्ञान ज्ञान ही नहीं है। ज्ञानरूप सूर्य की किरणों के आगे अतिचार रूप अंधकार को रहने की शक्ति ही कहां से हो सकती है!

इस गाथा का उच्चारण करते वक्त श्रावक सोचता है कि,

'कर्म के उदय से प्राप्त हुई पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन थीं। इनके द्वारा आत्म हितकर ज्ञान प्राप्त कर मैं मेरा कल्याण कर सकता था, परंतु अनादिकालीन अज्ञान एवं मोह के अधीन बनकर मैंने उनको गलत मार्ग में प्रवर्ताया है। राग-द्वेष, चार कषाय एवं मन-वचन-काया के योगों का भी मैंने दुरुपयोग किया है। उससे मैंने मेरी ज्ञान शक्ति को कुंठित किया है, आत्महित का हनन किया है एवं स्वयं ही दुःख की गर्त में गिरा हूँ।

अनंत ज्ञान शक्ति के धारक हे प्रभु ! आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरे अज्ञान को दूर करो। जिससे मैं रागादि की मलिन वृत्ति से लौट सकूँ एवं आपके प्रभाव से मिली हुई शक्तियों का सन्मार्ग में उपयोग करने की मुझे सद्बुद्धि प्राप्त हो। अगर ऐसा हो तो ही मेरी निन्दा, गर्हा या प्रतिक्रमण सम्यक् बन सकता है।'

चित्तवृत्ति का संस्करण :

सम्यग्ज्ञान से इन्द्रियों, कषाय, योग एवं रागादि को नियंत्रण में रखने के लिए निम्नोक्त मुद्दों पर बारबार चिंतन करना चाहिए।

- इन्द्रियाँ और मन ही बंध एवं मोक्ष का कारण बनती हैं। उनका सदुपयोग मुझे संवर, निर्जरा, करवाकर मोक्ष तक पहुँचा सकता है और उनका दुरुपयोग मुझे सातवीं नारकी तक धकेलकर भयंकर दुःखों का भाजन बना सकता है।
- समझदार व्यक्ति इन्द्रियों और मन का विवेकपूर्ण उपयोग करके वर्तमान में भी सुखी हो सकता है और भावी को भी उज्ज्वल बना सकता है।
- कषाय कातिल जहर जैसा है। एक बार के उसके अनुचित प्रयोग से भी अनंतकाल तक दुःखी होना पड़ता है।
- एक बार क्रोध करने से एक साधु चंडकौशिक सर्प बन गया।
- एक बार मान करने से प्रभु वीर को भी अनेक बार नीच गोत्र में जन्म लेना पड़ा।
- माया के कारण मल्लीनाथ प्रभु को स्त्री बनना पड़ा।
- लोभ के कारण मम्मण के क्या हाल हुए ? अगर एक बार कषाय करने से इनके ऐसे हाल हुए तो बारबार कषाय करने से मेरा क्या हाल होगा ?

- कषाय ग्रस्त होने से मेरा आचरण सामान्य जन और तिर्यंच जैसा हो जाता है।
- अगर धर्म समझकर भी मैं क्रोधादि करूँगा तो धर्म की निन्दा होगी, लोगों की धर्म से आस्था डगमगा जाएगी।
- अग्नि तो दूसरों को जलाती है पर कषाय दूसरों को जलाने से पहले मुझे ही राख कर देता है।
- इन्द्रियाँ, मन, कषाय, राग-द्वेष और योग की अप्रशस्त प्रवृत्ति न हो इसलिए मुझे पल-पल की सावधानी रखनी आवश्यक है।
- जब भी मुझे पता चले कि मैं कषाय के अधीन हो गया हूँ तब मैं अगर उनसे मुक्त न हो पाऊँ तो उन्हें प्रशस्त बनाने का सघन प्रयत्न करूँ। इसके लिए मुझे हर पल निरीक्षण करके सोचना होगा कि,
  - ✦ मुझे कौन से कषाय परेशान करते हैं ? उनकी मात्रा कितनी है ?
  - ✦ किस स्थान में या कौन से विषय के प्रति जुड़ने से कषाय पुष्ट होने के बदले निर्बल बन सकते हैं ?
  - ✦ किस तरह उनका उपयोग करने से स्व-पर का हित होगा ?
  - ✦ प्रशस्त विषय के प्रति कषायों का प्रवर्तन हो तब भी विवेक एवं सावधानी रखने के लिए मुझे क्या करना चाहिए ?

इन सब बातों में मुझे मेरी वृत्ति किस ओर ले जा रही है उसका निर्णय करना हैं और आज से उसे सिर्फ भगवान के वचनों के अनुसार ढ़ालना है। आज से मेरे जीवन का एक ही लक्ष्य होगा, दोषों और कषायों से मुक्त होना।

दर्शनाचार

अवतरणिका :

ज्ञानाचार के अतिचार बताए, अब दर्शनाचार में जो बाह्य तीन कारणों से अतिचारों का सेवन हुआ हो, उसका प्रतिक्रमण करने की इच्छा से कहते हैं:

गाथा :

आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणे अणाभोगे।
अभिओगे अ निओगे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं।।५।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

अनाभोगे अभियोगे नियोगे च आगमने निर्गमने।
स्थाने चङ्क्रमणे दैवसिकं सर्वम् प्रतिक्रामामि।।

गाथार्थ :

अनाभोग से = नहीं सोचने के कारण; 'सम्यक्त्व व्रत का मैंने स्वीकार किया है' वैसा उपयोग नहीं रहने से; अभियोग से = राजा आदि के दबाव से; अथवा नियोग से = अधिकार के वश होकर अथवा फर्ज से; (मिथ्यादृष्टियों के महोत्सव में अथवा उनके मंदिर में) आने में, जाने में, उनके स्थान में खड़े रहने में अथवा यहाँ-वहाँ घूमने में, दिवस दौरान सम्यग्दर्शन के विषय में जिस किसी भी दोष का सेवन हुआ हो, उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

जगतवर्ती सब भाव जैसे हैं वैसे ही देखना एवं वैसी ही श्रद्धा करना, वह **सम्यग्दर्शन** है। जगत के सर्व भावों का यथार्थ दर्शन मोहाधीन जीव स्वयं नहीं कर सकता। इसलिए उन भावों को जानकर उनमें श्रद्धा करने के लिए सर्वप्रथम, 'सर्व वस्तुओं के जानकार, सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा ही मेरे देव हैं, उनके वचनानुसार चलने वाले निर्ग्रन्थ गुरु भगवंत ही मेरे गुरु हैं एवं श्री जिनेश्वर भगवंत द्वारा बताया हुआ धर्म ही तत्त्वभूत है', ऐसी दृढ श्रद्धा पैदा करनी चाहिए। जैसे जगतवर्ती पदार्थों को यथार्थ रूप से जानना सम्यग्दर्शन है वैसे ही ऐसी यथार्थ जानकारी में कारणभूत बने वैसी देव-गुरु-धर्म के प्रति अडिग श्रद्धा भी सम्यग्दर्शन है।

मोक्ष के अनन्य साधन रूप इस सम्यग्दर्शन गुण को प्रकटाने के लिए एवं प्रकट हुए इस गुण को टिकाने (स्थिर करने) के लिए, मिथ्यात्वियों के स्थानों में नहीं आना जाना वगैरह बाह्याचार का एवं निःशंकितादि अंतरंग आचारों का अवश्य पालन करना चाहिए। यदि ऐसा न हो सके तो किस तरह से अतिचार लगते हैं, वह इन दो गाथाओं मे बताते हैं। उसमें इस गाथा में बाह्य अतिचार बताए गए हैं।

आगमणे निग्गमणे, ठाणे चंकमणे अणाभोगे, अभिओगे अ निओगे[1] - 'मैंने सम्यक्त्व व्रत स्वीकार किया है,' ऐसा उपयोग नहीं रहने से, अधिकार के वश से या कर्त्तव्य से (मिथ्यादृष्टियों के महोत्सव मे या उनके मंदिर में) जाने-आने से, उनके स्थान मे खड़े रहने से या उनके स्थान में यहाँ-वहाँ घूमने फिरने से (जो कोई दोष लगा हो)।

जीव भावुक द्रव्य है। उसको जैसे जैसे निमित्त मिलते हैं उन उन रूपों मे वह ढल जाता है। इसलिए महामूल्यवान सम्यग्दर्शन को स्वीकार करके उसको टिकाने के लिए खूब जागृत रहना पड़ता है। सम्यक्त्व मलिन न हो जाए इसलिए मिथ्यात्वियों के स्थान में आना-जाना नहीं चाहिए एवं उनके परिचय में भी नहीं आना चाहिए। इसलिए इन सब को सम्यक्त्व विषयक अतिचार स्वरूप बताया है।

---

1. **अणाभोगे अभिओगे अ निओगे** - इन तीनों शब्दों में सप्तमी विभक्ति है, परंतु ये तृतीया के अर्थ में है।

अणाभोगे - उपयोग न रहने के कारण।

'मैंने सम्यक्त्व व्रत का स्वीकार किया है, इसलिए इस व्रत को टिकाने या श्रद्धाभाव को दृढ़ रखने के लिए मुझे मिथ्यामतियों के स्थान पर नहीं जाना चाहिए' ऐसा उपयोग नहीं रहने के कारण मिथ्यादृष्टि के महोत्सवों में या मन्दिरों में **आगमणे निग्गमणे** अर्थात् आना-जाना हुआ हो, **ठाणे** अर्थात् वहाँ खड़े रहना पड़ा हो या **चंकमणे** अर्थात् उस स्थान में यहाँ-वहाँ घुमने का हुआ हो; इन सब कारणों से मेरे व्रत में जो मलिनता हुई हो, मेरी श्रद्धा थोड़ी भी डिगी हो, उन सब दोषों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

अभिओगे अ - दबाव से।

राजा आदि अधिकार प्राप्त लोगों के दबाव या रोब को अभियोग कहते हैं।

स्वयं सम्यक्त्व व्रत का स्वीकार किया है ऐसा पूर्ण ख्याल होते हुए भी, अभियोग के कारण मिथ्यामतिओं के स्थान में जाना-आना पड़े, रहना पडे या वहाँ घूमना पडे तो वह भी सम्यक्त्व व्रत में अतिचार रूप है। अभियोग के निम्नोक्त छः प्रकार हैं।

१. राजाभियोग	-	राजा का दबाव
२. गणाभियोग	-	लोक-समूह का दबाव या कुटुम्ब का आग्रह
३. बलाभियोग	-	अधिक बलवान का दबाव
४. देवाभियोग	-	देवताओं का दबाव
५. गुरु-अभियोग	-	माता-पितादि बुजुर्गों का दबाव
६. वृत्तिकांताराभियोग	-	जंगल आदि मे कोई प्राणांत कष्ट आये, अथवा आजीविका के निर्वाह करने में भारी मुश्किल आये, ऐसे 'विकट प्रसंग'।

ऐसे किसी भी दबाव से मिथ्यात्वियों के स्थान में जाने-आने इत्यादि से इस व्रत में कोई दोष लगा हो तो उन सब दोषों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

निओगे - कर्त्तव्य से।

स्वयं जिस राजकीय, सामाजिक या नौकरी-धंधे के पद पर आरूढ़ हो, उस पद के फर्ज या अधिकार को नियोग कहते हैं। उससे मिथ्यादृष्टियों के स्थानों में

आने-जाने आदि से सम्यग्दर्शन में जो अतिचार लगे हों उनका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं - दिन भर में मुझ से सम्यक्त्व के बाह्य आचारों के विषय में जिस किसी दोष का सेवन हुआ हो, उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

जिज्ञासा : मिथ्यात्वियों के स्थान में जाने, आने या खड़े रहने से 'सम्यक्त्व व्रत' कैसे दूषित होता है ?

तृप्ति : मिथ्यात्वियों की दृष्टि भ्रामक होती है। वे सत्य तत्त्व से परिचित नहीं होते हैं। इस कारण उनके आचार, विचार एवं उच्चार, सत्य मार्ग से मन को चल-विचल करनेवाले होते हैं। उनके कुछ आचार बाह्य दृष्टि से रम्य लगते हैं परंतु परिणाम से दारूण होते हैं। जब कि जैनमत के कुछ आचार सामान्य से तो रम्य नहीं लगते, परंतु परिणाम से तो मधुर फल देने वाले होते हैं। जैसे कि जैन धर्म में बताई हुई पारिष्ठापनिका समिति का पालन अर्थात् व्रतधारी को बताई हुई मल-मूत्र विसर्जन की क्रिया आज के आधुनिक वर्ग को अच्छी न भी लगे, तो भी उसका फल सुन्दर है, क्योंकि ये क्रिया दूसरे जीवों को भी पीड़ा नहीं पहुँचाती एवं खुद के लिए भी पीड़ाकारी नहीं बनती, जब कि अन्य दर्शनवालों की शरीर शुद्धि की क्रिया बहुत से जीवों के लिए और अपनी आत्मा के लिए भी पीड़ाकारी बनती है।

इसके अतिरिक्त जैनों के उपवास आदि तप कष्टकारी होते हुए भी कर्मक्षय के कारण होते हैं, जबकि अन्य धर्म के 'फराली' उपवास, नवरात्रि आदि पर्व में होने वाले गरबा आदि ऊपर से अच्छे लगते हैं, परंतु परिणाम से भयंकर होते हैं।

ये बातें सब समझ सकते हैं, फिर भी कभी एक बार मिथ्यामतियों के चमत्कार देखकर 'यह अच्छा है', 'इसमें कुछ तथ्य है' ऐसा भाव जागृत होने की संभावना रहती है, जिससे जीव जिनमत की श्रद्धा से चलित भी हो सकता हैं। इससे बचने के लिए सावधानीपूर्वक ऐसे स्थानों का त्याग करना हितकारी है एवं उस में ही आत्मा का कल्याण हैं। इसी कारण कहा गया है कि जिस प्रकार उच्च कुलवधुओं का अनीति के धाम में आवागमन करना हितावह नहीं, उसी प्रकार सम्यग्दृष्टियों के लिए परधर्मी स्थानों में जाना-आना आदि योग्य नहीं है।

अवतरणिका :

दर्शनाचार विषयक बाह्य अतिचार बताए। अब अंतरंग अतिचारों को बताते हुए कहते हैं -

गाथा :

संका कंख विगिच्छा पसंस तह संथवो कुलिंगीसु।
सम्मत्तस्सइआरे पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।६ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

शङ्का काङ्क्षा विचिकित्सा, कुलिङ्गिषु प्रशंसा तथा संस्तवः।
सम्यक्त्वस्य अतिचारान्, दैवसिकं सर्वं प्रतिक्रामामि ।।६।।

गाथार्थ :

तत्त्व के विषय में शंका करना[१], मिथ्यात्वियों के चमत्कार देखकर उनके मत की अभिलाषा करना[२], धर्म के विषय में फल का सन्देह करना[३], कुलिंगीओं की प्रशंसा करना[४] तथा कुलिंगीयों का परिचय करना[५] : सम्यक्त्व संबंधी इन पाँच अतिचारों में से दिन भर में जिन अतिचारों का सेवन हुआ हो उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

सम्यग्दर्शन[1] सर्व सुख का मूल है । इस गुण के अभाव में ही जगत के जीव दुःखी होते हैं । इसकी प्राप्ति से ही जीव के सुख का प्रारंभ होता हैं । इसलिए इस गुण को प्रकट करने, टिकाने या दृढ करने के लिए, जैसे मिथ्यात्वी के स्थानों में आगमन आदि बाह्य अतिचारों से बचना चाहिए, वैसे इस गाथा में बताए गए शंका आदि अतिचारों से भी सावधानीपूर्वक दूर रहना चाहिए ।

संका : शंका-संशय, भगवान के वचन में शंकित होना।

सर्वज्ञ, वीतराग, परमात्मा द्वारा कहे हुए जीवादि नव तत्त्व, उनके स्वरूप, उनके भेद-प्रभेद, उनके स्वभाव-प्रभाव, उनके प्रमाण, अवस्थान आदि किसी

1. सम्यक्त्व की विशेष समझ के लिए सूत्र स. भा. १ नमुत्थुणं सूत्र के अभयदयाणं आदि पाँच पद भी देखिए।

भी विषय में आंशिक तरीके से या सर्वांश से, 'यह इस तरह होगा कि नहीं', ऐसा विकल्प होना या करना, उसको शंका कहते हैं। जैसे कि भगवान ने कहा है- 'हम सब आत्मा हैं, निश्चित गतियों में से आए हैं एवं निश्चित गतियों में जानेवाले हैं, अपने-अपने पुण्य-पाप के अनुसार सुख-दुःख पाएँगे।' इस विषय में शंका करना या आत्मा, पुण्य-पाप आदि तत्त्व दिखाई तो देते नहीं इसलिए होंगे कि नहीं ? यदि हैं तो वे सर्वव्यापक होंगे कि शरीर व्यापी ही होंगे? जीव हो तो हलन-चलन की क्रिया दिखाई देनी चाहिए । जब कि पृथ्वी, पानी वगैरह में हलन-चलन तो नहीं होता फिर भी उन्हें जीव कैसे मान सकते हैं ? भगवान कहते हैं कि निगोद में एक शरीर में अनंत जीव होते है, परंतु वह कैसे संभव है ? और आलू निगोद आदि में जीव तो दिखाई नहीं देते, तो उसमें अनंत जीव हैं ऐसा कैसे मान सकते हैं ? इस प्रकार की मन में शंका करना सम्यग्दर्शन में दोष रूप है। दृढ़ श्रद्धावान श्रावकों के मन में ऐसी शंका नहीं होती, परंतु श्रद्धा दृढ़ न हो एवं अश्रद्धा को उत्पन्न करने वाली अधिक बातें सुनने को मिलें तो ऐसी शंका होने की संभावना रहती है। यह शंका ही सम्यक्त्व व्रत का प्रथम अतिचार है।

किसी सद्गुरु के मुख से शास्त्र श्रवण कर आत्मा, पुण्य-पाप आदि तत्त्व हैं ऐसा बोध हुआ, थोड़ी श्रद्धा भी प्रकट हुई, तो भी प्रत्येक क्रिया करते हुए यह क्रिया आत्मा के लिए हितकारक हैं या अहितकारक हैं, इस कार्य से मेरा परलोक बिगड़ेगा या सुधरेगा, ऐसा विचार न आता हो, तो समझना चाहिए कि आत्मादि तत्त्वों के विषयों में ज्ञान हुआ हैं, लेकिन दृढ़ श्रद्धा नहीं हुई हैं, भीतर में कही शंका होने की संभावना हैं। इसी तरह से सुख दुःख के निमित्तों में अपने पुण्य-पाप का विचार न करते हुए, अन्य निमित्तों को दोष दिया जा रहा हो, तो भी समझना चाहिए कि कर्म के ऊपर श्रद्धा होते हुए भी कहीं पर इस विषय में शंका है ही। वह श्रद्धा दृढ़ नहीं है । इसलिए ऐसे दोषों से बचने एवं श्रद्धा को मजबूत करने के लिए शंका नाम के दोष को टालना ही चाहिए। इस दोष को टालने के लिए नाणम्मि सूत्र में वर्णित निःशंकित आचार का पालन अवश्य करना चाहिए।

कंख - कांक्षा - अभिलाषा। अन्य मत की इच्छा ।

जिस मार्ग पर जिस तरह से चलने से आत्म कल्याण होता है, उस मार्ग पर उसी तरह से चलने को ही भगवान जिनेश्वर देव ने धर्म कहा है; एवं जिस मार्ग पर

जिस तरह चलने से आत्मा का कल्याण नहीं, पर अकल्याण हो, उस मार्ग पर उस तरह से चलने को जिनेश्वर देव ने अधर्म कहा हैं। ऐसा होते हुए भी, अन्य मत में बाह्य आडम्बर, प्रतिकूलता का अभाव, अनुकूलता भरा आचरण एवं दिखता हुआ सांसारिक लाभ आदि देखकर, यदि अकल्याणकारक मार्ग पसंद आ जाए एवं उस तरफ मन आकर्षित हो जाए तो उसे कांक्षा कहते हैं।

अन्यमत के चमत्कारों को देखकर या उनके साधना मार्ग की सानुकूलता देखकर, 'अनुकूलतावाला' एवं तत्काल फल देने वाला यह धर्म अच्छा है। अनुकूलतापूर्वक धर्म करके भी मोक्ष मिल सकता है, अतः कष्टकारक जैन धर्म करने से तो सुविधावाला, सरल चर्यावाला, दूसरा कोई धर्म क्यों न करें ?' इस प्रकार अन्य धर्म पालने की इच्छा, वह कांक्षारूप दोष है। यह दोष भी 'भगवान ने कहा है वही सत्य है' ऐसी श्रद्धा का नाश करता है। इसलिए यह सम्यक्त्व व्रत का दूसरा अतिचार है। इस दोष को दूर करने के लिए नाणम्मि में बताए हुए निःकांक्षा नामक आचार का पालन करना चाहिए ।

विगिच्छा - वितिगिच्छा - धर्म के फल में सन्देह/जुगुप्सा।

धर्माचरण करने से फल प्राप्ति होगी क्या ? ऐसा सन्देह होना या करना, वह वितिगिच्छा नाम का सम्यग्दर्शन का तीसरा अतिचार है। जैसे कि ऐसा सोचना कि 'धर्म की सुन्दर आराधना करके पंडितमरण को पाकर देवलोक में गया हुआ कोई भी वापस नहीं आता, तो तप आदि का फल देवलोक आदि है या नहीं ?'

वितिगिच्छा[2] का दूसरा अर्थ है जुगुप्सा।

तत्त्व की जानकार आत्मा समझती है कि आत्मा की शोभा गुण सम्पत्ति से है, सुन्दर वस्त्र या सुशोभित देह से नहीं। सुशोभित देह तो राग का कारण होने से कभी ब्रह्मचर्य व्रत को हानि भी पहुँचाता हैं। इस तत्त्व को समझते हुए मुनि भगवंत ब्रह्मचर्य व्रत की सुरक्षा के लिए देह या वस्त्र की विभूषा नहीं करते, पर उसको मलिन ही रखते हैं। **'वस्त्र आदि की मलिनता मुनि का भूषण है, दूषण नहीं'** ऐसा सर्वज्ञ, वीतराग भगवंत ने कहा है फिर भी, पौद्गलिक आसक्ति के

2. **वितिगिच्छा** के स्थान पर **विउच्छ** पाठ भी है, इसका अर्थ **विद्-जुगुप्सा** = तत्त्व के जानकार की जुगुप्सा।

कारण ऐसे सर्वज्ञकथित उत्तम आचार की जुगुप्सा करना, वितिगिच्छा नाम का सम्यक्त्व का तीसरा अतिचार है। इस तत्त्व को नहीं समझने वाले अज्ञानी मल परिषह को सहन करते हुए मुनि भगवंत की जुगुप्सा-दुर्गंच्छा करके अपने सम्यक्त्व को मलिन करते हैं।

पसंस - कुलिंगियों की प्रशंसा।

जिनका आचार, विचार और वेष शिवसुख प्राप्ति में बाधक है उनको कुलिंगी कहते हैं। कुलिंग के साथ जुड़ा हुआ आचार, विचार वगैरह का पालन करने वाले को भी कुलिंग[3] कहते हैं। ऐसे कुलिंग के व्यवहार सामान्य से देखने पर पहली नजर में शायद ठीक भी लगते हैं। परंतु अच्छे दिखते हुए वे आचार, विचार या उच्चार मोक्ष मार्ग में बाधक बनते हैं। इसलिए उनकी प्रशंसा करना उन्मार्ग की प्रशंसा है, ऐसी उन्मार्ग की प्रशंसा से अनेक आत्माएँ सन्मार्ग से भ्रष्ट हो उन्मार्ग में चली जाती हैं, सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व से जुड़ जाती हैं एवं उसमें स्थिर भी हो जाती हैं; एसे कुलिंगियों के आचारादि की प्रशंसा करने से इन सब दोषों में निमित्त बनने के कारण साधक स्वयं भी बोधिदुर्लभ बनता हैं। इसलिए, कुलिंगी की प्रशंसा करना यह सम्यक्त्व का चौथा अतिचार हैं। कभी मिथ्यादृष्टिओं के कष्ट, मंत्र, चमत्कार आदि देखकर मंद श्रद्धावाले जीव प्रभावित हो जाते हैं और तब उनका यह धर्म कितना सुन्दर है, उनके गुरुओं में कितनी शक्ति है आदि बोलने द्वारा मिथ्यादृष्टियों की प्रंशसा हो जाती हैं, जिससे सम्यक्त्व मलिन होता है एवं उससे गाढ़ मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का बंध होता हैं। इसलिए इस दोष से बचने के लिए श्रावक को खास विवेकी बनना चाहिए।

तह संथवो कुलिंगीसु - तथा कुलिंगियों का संस्तव परिचय (वार्तालाप)।

कुलिंगियों का अर्थात् मिथ्यात्वियों का परिचय करना, उनके साथ रहना, बोलना, चलना, भोजन आदि करना। ऐसे मिथ्यात्वियों के परिचय भी सम्यक्त्व का दोष हैं, क्योंकि परिचय बढ़ने से, उनकी क्रियाओं को देखने से या उनकी बातें सुनने से श्रद्धा विचलित होने की संभावना रहती हैं। कई बार इस कारण से ही साधक सत्य धर्म से भ्रष्ट भी हो जाता हैं। इसीलिए निर्मल सम्यग्दर्शन गुण को टिकाने के लिए इस पाँचवें अतिचार के सेवन को भी टालना ज़रूरी हैं।

3. कुत्सितं लिङ्गं विद्यते येषां ते कुलिङ्गिनः तेषु।

कुलिंगियों की प्रशंसा एवं परिचय जैसे वर्जित हैं, वैसे ही जैन कुल में जन्म लेने के कारण बाह्य दृष्टि से जैन होते हुए भी जो नास्तिक हो, आत्मादि विषय में जिनको विश्वास नहीं है एवं मात्र भौतिक सुख में ही जो रचे-पचे रहते है, वैसे नास्तिक लोगों का परिचय या उनके ऊपरी नजर से दिखते औदार्यादि गुणों की प्रशंसा करना वह भी सम्यग्दर्शन को दूषित करता हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि आत्मा को ऐसी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए।

सम्मत्तस्सइआरे पडिक्कमे देसिअं सव्वं : दिन के दौरान सम्यक्त्व के विषय में जो कोई भी अतिचार लगा हो उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

सम्यक्त्व के विषय में इस गाथा में बताए हुए पाँच अतिचारों के सिवाय भी जो कोई छोटे-बड़े अतिचार दिन भर में लगे हों, उन सब अतिचारों को स्मरण में लाकर साधक को उनकी आत्मसाक्षी से निन्दा एवं गुरु समक्ष गर्हा करनी हैं। निन्दा एवं गर्हा द्वारा श्रावक उन अतिचारों से वापस लौटकर सम्यग्दर्शन के शुभ भावों में एवं शुभ आचारों में स्थिर होता है। यही उसके लिए सम्यग्दर्शन के अतिचारों का प्रतिक्रमण हैं।

इन दोनों गाथाओं का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'सर्व सुख के साधन भूत एवं सर्व गुणों के आधार तुल्य इस सम्यग्दर्शन गुण को प्राप्त करने, एवं प्राप्त किए हुए को टिकाने के लिए मुझे अत्यंत सावधान रहना ज़रूरी था। बाह्य आचार एवं अंतरंग विचारों में पूरी सावधानी रखनी ज़रूरी थी। किसी की बातों एवं विचारों से प्रभावित होकर मुझे भ्रमित होने की ज़रूरत नहीं थी। तो भी प्रमाद के कारण, असावधानी के कारण या मिथ्यात्वियों की बातों को सुनने के कारण, मैंने इस निर्मल गुण को मलिन किया है। मेरे सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले सब दोषों को याद करके मैं उनकी निन्दा, गर्हा करता हूँ एवं पुनः उन गुणों में स्थिर रहने के लिए ही, आपत्तिकाल में भी निर्मल सम्यक्त्व गुण को टिकाकर रखने वाले आर्द्रकुमार, महाश्रावक सद्दालक, महाराजा श्रेणिक वगैरह सत्पुरुषों एवं सुलसा, दमयंती, सीता जैसी महासतियों के चरणों में मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ । उनके जैसा सत्त्व मुझमें प्रकट हो ऐसी प्रार्थना कर पुनः इस गुण में स्थिर होने का प्रयत्न करता हूँ।'

चित्तवृत्ति का संस्करण :

इस गाथा में बताए हुए अतिचारों को जानकर छोड़ना तो चाहिए ही, परंतु इसके उपरांत सम्यग्दर्शन गुण को प्रकट करने के लिए एवं प्रकट किए हुए इस गुण को निर्मल रखने के लिए नीचे बताए हुए मुद्दों पर खास ध्यान देने की ज़रूरत है।

- किसी भी वस्तु या परिस्थिति को कभी एक ही दृष्टि से नहीं देखना चाहिए, परंतु अनेक दृष्टियों से उसका विचार करना चाहिए। किसी भी वस्तु या परिस्थिति को एकांत दृष्टि से देखने से कदाग्रह प्रकट होता है। कदाग्रह ही मिथ्यात्व हैं। उसके बदले अनेकांत दृष्टि से परिस्थिति या प्रसंग देखने में आए तो अन्य की अपेक्षाओं का ख्याल आने से राग-द्वेष जन्य कोई कदाग्रह नहीं होता, बल्कि समता एवं समभाव बना रहता है, जो सम्यक्त्व का प्रथम लिंग है।
- कोई भी धर्म क्रिया, आत्मा के रागादि दोषों को टालकर, वीतराग भाव की तरफ जाने के लिए होती है। क्रिया करते करते आत्मा के कौन से दोष टले एवं आत्मा विभाव दशा को टालकर अपने स्वभाव की तरफ कितनी अभिमुख बनी, इसका सतत निरीक्षण चालू रखना चाहिए; क्योंकि खुद के गुण-दोषों का यथार्थ दर्शन ही सम्यग्दर्शन है।
- शास्त्राभ्यास इस तरह से करना चाहिए कि जिससे हेय-उपादेय का विवेक ज्वलंत बने एवं आत्मादि तत्त्वों के प्रति रुचि, श्रद्धा, तीव्र बन जाए; क्योंकि तत्त्व रुचि ही सम्यग्दर्शन है।
- सम्यग्दर्शन की कारणभूत प्रभुदर्शन आदि क्रियाएँ, ऐसे उपयोगपूर्वक करनी चाहिए कि जिससे भगवान में रहे हुए गुणों की तरफ आकर्षण बढ़े और आत्म स्वरूप का दर्शन हो; क्योंकि स्वस्वरूप के दर्शन के लिए किया हुआ प्रयत्न ही आत्मा को सम्यग्दर्शन तक ले जाता है।

इसके उपरांत जिस तरीके से श्रद्धा दृढ़ हो उस तरीके से बारंबार तत्त्वों का चिंतन करना दर्शनाचार है एवं ऐसे आचार का पालन न करना, निर्विचारक रहना या विपरीत आचरण करना, ये सब सम्यक्त्व के अतिचार हैं।

चारित्राचार

अवतरणिका :

ज्ञानाचार तथा दर्शनाचार के अतिचारों का वर्णन करके अब चारित्राचार विषयक अतिचार बताते हैं -

गाथा :

छक्काय-समारंभे पयणे अ पयावणे अ जे दोसा।
अत्तट्ठा य परट्ठा उभयट्ठा चेव तं निंदे ।।७ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

आत्मार्थं परार्थम् च उभयार्थं च पचने पाचने च।
षट्कायसमारम्भे ये दोषा: तान् निन्दामि ।।७ ।।

गाथार्थ :

अपने लिए, दूसरे के लिए या दोनों के लिए आहार पकाने एवं पकवाने में छःकाय जीवों की हिंसा जिसमें है वैसे आरंभ-समारंभ करने में जो दोष लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

विशेषार्थ :

चारित्राचार के अतिचारों की विचारणा करने के पूर्व चारित्र क्या है, उसे देखें - संचय किए हुए कर्मों को खाली करना चारित्र है अथवा ज्ञान एवं श्रद्धापूर्वक पाप व्यापारों का त्याग करना चारित्र है अथवा स्व-पर को पीड़ा न हो वैसा जीवन जीना, उसका नाम चारित्र है।

यह चारित्र दो प्रकार का है - सर्वचारित्र एवं देशचारित्र।

सर्वसंग के त्यागी साधु-साध्वीजी भगवंतों को सर्वविरति रूप सर्वचारित्र होता है, जब कि सर्वसंग के त्याग की भावना होते हुए भी वैसी शक्ति के अभाव में जो आंशिक पाप व्यापार का त्याग करते हैं, ऐसे श्रावक श्राविकाओं को देशविरति रूप देशचारित्र होता है। देशचारित्र को स्वीकार करने वाले श्रावक-श्राविकाएँ गृहवास में रहते हैं, इसलिए उनको अनिवार्य रूप से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति वगैरह की हिंसा करनी पड़ती है। इस हिंसा संबंधी जो कोई दोष लगा हो, उसकी निन्दा इस गाथा में की गई है।

छक्काय-समारंभे - छःकाय जीवों के समारंभ विषयक जो दोष लगा हो।

छक्काय समारंभे : छ:काय के जीवों के समारंभ के विषय में।

छक्काय अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति एवं त्रस जीवों का समूह एवं **समारंभ** अर्थात् हिंसा। इन छ:काय जीवों की हिंसा, छ:काय समारंभ है।

गृहस्थ जीवन जीने वाले श्रावक को संसार चलाने के लिये अनेक प्रवृतियाँ करनी पड़ती हैं। उनमें हिंसादि पाप ज़रूर लगता है, तो भी उन सर्व क्रियाओं में रसोई की क्रिया ऐसी है कि जिसके करने एवं करवाने में सभी प्रकार के जीवों का समारंभ[1] याने हिंसा होने की संभावना रहती है। इस गाथा में सिर्फ सभारंभ शब्द हिंसा के लिए प्रयोग किया गया है। तो भी तुलादण्डन्याय[2] से उसके आगे-पीछे रहे हुए संरंभ एवं आरंभ इन दोनों शब्दो का अर्थ भी ग्रहण कर लेना है।

1. संरंभ, समारंभ एवं आरंभ शब्द की व्याख्या के लिए देखिए इस सूत्र की गाथा नं.३
2. तुलादंडन्याय याने जिस तरह तराज़ु को बीच में से उठाने पर उसके दोनों बाजु के पल्लो का ग्रहण हो जाता है वैसे ही यहां संरंभ, समारंभ और आरंभ ऐसे तीन शब्दों में से बीच के समारंभ शब्द का ग्रहण करने से आसपास के संरंभ और आरंभ इन दोनों शब्दों का समावेश हो जाता है।

जिज्ञासा : इस सूत्र की तीसरी गाथा में 'आरंभ' की निन्दा बता दी थी तो फिर पुनः 'आरंभ' की निन्दा क्यों बताई ?

तृप्ति : पहले जो आरंभ की निन्दा बताई थी, वह अनेक प्रकार के आरंभ की निन्दा बताई थी जब कि यहां अपने जीवन निर्वाह के लिए रसोई क्रिया में जो आरंभ होता है, उसकी निन्दा की गई हैं।

पयणे अ पयावणे अ जे दोसा, अत्तट्ठा य परट्ठा उभयट्ठा[3] चेव - अपने लिए, अन्य के लिए या अपने-पराये दोनों के लिए आहार पकाने की क्रिया करने में या अन्य से करवाने में जो दोष लगा हो।

श्रावक अपनी भूमिका के अनुसार रसोई करने-करवाने की क्रिया का त्याग नहीं कर सकता, फिर भी उसको रसोई की क्रिया करते समय बहुत जयणा[4] रखनी जरूरी है। जयणा - जैन पारिभाषिक शब्द है। अत्यंत प्रयत्नपूर्वक और अति उपयोगशील होकर जीव बचाने का प्रयत्न करने को जयणा कहते हैं। पानी छानकर ही उपयोग में लेना, लकड़ा, गोबर, कंडे या चूल्हा देखकर, प्रमार्जन करके ही उपयोग में लेना, बर्तन आदि भी देखने, पोंछने, प्रमार्जन करने के बाद ही उनका उपयोग करना। पानी या वनस्पति आदि जरूरत से लेश मात्र भी अधिक उपयोग में न आ जाए उसकी सावधानी रखना। किसी त्रस जीव की हिंसा ना हो इसलिए अनाज वगैरह छानकर, बीनकर, देखने के बाद ही चूल्हे के ऊपर चढ़ाना, ऐसी अनेक प्रकार की जयणा रखना श्रावक का कर्त्तव्य है। ऐसा होते हुए

---

3. अर्थ दिपीका में अतट्ठा य परट्ठा य का ऐसा अर्थ भी बताया है :

अतट्ठा - कोई मुग्ध श्रावक स्वयं पुण्य कमाने के हेतु, साधु भगवंत को बोहराने के लिए (रसोई की क्रिया रूप पाप करे)।

परट्ठा - दूसरे के लिए अर्थात् माता-पिता आदि अन्य किसी की पुण्य प्राप्ति के हेतु से महात्माओं को बोहराने के लिए (रसोई बनाने का कार्य करके खुद पाप बांधे) एवं 'च' शब्द से साधु के प्रति द्वेष होने के कारण जब कोई साधु का व्रत भंग करवाने के लिए ही रसोई बनाने आदि की क्रिया करे तब...

4. **जयणा – यतना – रागद्वेषरहितोऽशठव्यापारः। तदुक्तम्**
रागद्दोसविउत्तो जोगो असढस्स होइ जयणा ।
रागद्दोसाणुगओ, जो जोगो सा अजयणा उ ।।१।।
अतः जयणा याने रागद्वेष से रहित निष्कपट व्यवहार। **- नवपद प्रकरण**

भी प्रमादादि दोषों के कारण उपरोक्त जयणा का पालन न करने से जो निरर्थक हिंसा हुई हो या यतना करते हुए भी अनिवार्य तौर पर जो हिंसा करनी पड़ी हो; इन दोनों कारण से जो पाप लगा हो...

तं निंदे - उसकी मैं निन्दा करता हूँ।

रसोई की क्रिया करते समय हिंसा द्वारा मैंने जिस पाप कर्म का बंध किया है, उसकी मैं निन्दा करता हूँ। जीवों को पीड़ा देने वाला यह कार्य मैंने गलत किया है ऐसा स्वीकार करता हूँ । गृहस्थ जीवन चलाने के लिए रसोई करनी व करवानी अनिवार्य है तो भी यह क्रिया करते समय जो जयणा का भाव सुरक्षित रखना चाहिए, वह मैं नहीं रख सका हूँ। जीवत्व की दृष्टि से मेरे जैसे ही मेरे बन्धुओं को पीड़ा देते हुए हृदय मे जो दुःख होना चाहिए, हृदय कंपना चाहिए, वो भी आहारादि की आसक्ति के कारण नहीं हो सका। सहृदय उस पाप की मैं निन्दा करता हूँ।

जिज्ञासा : इस गाथा में **'अतिचार'** शब्द का उल्लेख न करते हुए **'दोष'** शब्द का उल्लेख किया है एवं **'पडिक्कमामि'** शब्द का प्रयोग न करते हुए **'निंदे'** शब्द का प्रयोग किया है, उसका क्या कारण है?

तृप्ति : सोचने से ऐसा लगता है कि, व्रत की मलिनता को अतिचार कहते हैं, परंतु श्रावक रसोई न करने का व्रत नहीं स्वीकार सकता, इसलिए रसोई क्रिया में हुई हिंसा से उसे व्रत मालिन्य रूप अतिचार नहीं लगता; फिर भी उसमें अयतना होती हैं। अत: वह दोष रूप है, इसलिए 'अतिचार' की बजाय 'दोष' शब्द का उल्लेख किया होगा एवं प्रतिक्रमण अर्थात् पाप से वापस लौटना, रसोई के विषय में श्रावक के लिए ऐसा प्रतिक्रमण संभव नहीं हैं। इसलिए यहाँ 'पडिक्कमामि' शब्द का उल्लेख न करते हुए 'निंदे' शब्द का प्रयोग किया होगा, ऐसा लगता है।

इस गाथा का उच्चारण करते समय श्रावक सोचता है कि -

'वैराग्य मज़बूत करके, सत्त्व का प्रकर्ष करके, आठ वर्ष की उम्र में मैंने संयम जीवन स्वीकार किया होता तो छः काय की हिंसा कां यह पाप करने का दिन मेरे जीवन में नहीं आया होता। संयम स्वीकार नहीं किया इसलिए ही हिंसादि यह पाप करने पड़ रहे हैं और ये पाप करते हुए भी करुणादि जो भाव स्थिर रखने चाहिए वो भी मैं नहीं रख सका। वास्तव में मुझे धिक्कार हैं! प्रभु ! कब ऐसा धन्य दिन

आयेगा कि मैं संयम जीवन को स्वीकार कर सर्वथा हिंसा से बच कर, अहिंसक भाव रूप मेरे अपने भावों में स्थिर होकर आत्मानन्द अनुभव कर पाऊँगा।'

अवतरणिका :

देशविरति रूप चारित्र बारह व्रत स्वरूप है। इन व्रतों को तीन विभागों में बाँटकर उनका पालन करते हुए जो अतिचार लगे हों उनका सामुदायिकरूप से प्रतिक्रमण करते हुए कहते हैं -

गाथा :

पंचण्हमणुव्वयाणं गुणव्वयाणं च तिण्हमइआरे।
सिक्खाणं च चउण्हं पडिक्कमे देसिअं सव्वं।।८।।

अन्वयसहित संस्कृत छाया :

पञ्चानाम् अणुव्रतानां त्रयाणां च गुणव्रतानाम्।
चतुर्णां शिक्षाणां अतिचारान् दैवसिकं सर्वम् प्रतिक्रामामि।।८।।

गाथार्थ :

पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों एवं चार शिक्षा व्रतों संबंधी दिनभर में (लगे हुए) सर्व अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

पंचण्हमणुव्वयाणं (अइयारे) - पाँच अणुव्रतों के (अतिचारों का)।

१. महाव्रत की अपेक्षा छोटे एवं पालने में सुगम व्रत को अणुव्रत कहा जाता है अथवा २. जिस व्रत का क्षेत्र मर्यादित है, उसको अणुव्रत कहते है अथवा ३. अनु=पीछे, जो व्रत सम्यक्त्व प्रकट होने के बाद पीछे से प्राप्त होते हैं उन्हें अणुव्रत कहते हैं।

ये अणुव्रत पाँच प्रकार के हैं :

१. स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत : स्थूल हिंसा नहीं करनी।
२. स्थूल मृषावाद विरमण व्रत : स्थूल झूठ नहीं बोलना।
३. स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत : स्थूल चोरी नहीं करना।

४. स्थूल मैथुन विरमण व्रत : स्वस्त्री/स्वपुरुष में संतोष एवं परस्त्रीगमन परपुरुषगमन का त्याग करना।

५. परिग्रह परिमाण व्रत : परिग्रह वृत्ति पर काबू रखकर परिग्रह का प्रमाण निश्चित करना, उसकी एक मर्यादा बाँधना।

गुणव्वयाणं च तिण्हमइआरे : तीन गुणव्रतों के अतिचारों का।

श्रावक के लिए पाँच अणुव्रत पाँच मूल व्रतों के समान हैं। इन मूल व्रतों को गुण करने वाले अर्थात् उनकी पुष्टि करने वाले व्रतों को गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रत निम्नांकित तीन प्रकार के हैं -

६. दिग्परिमाण व्रत : हरेक दिशा में निश्चित मर्यादा से अधिक नहीं जाना।

७. भोगोपभोग विरमण व्रत : भोग-उपभोग की मर्यादा बाँधना।

८. अनर्थदंड विरमण व्रत : कोई भी विशिष्ट कारण के बिना अर्थात् जीवन जीने के लिए ज़रूरी न हो वैसे कारण बिना आत्मा दंडित हो, आत्मा दुःखी हो वैसा कार्य न करने का संकल्प करना।

सिक्खाणं च चउण्हं (अइआरे) - चार प्रकार के शिक्षाव्रतों के (अतिचारों का)।

जिन व्रतों के पालन से समता आदि गुणों का तथा सर्वविरति रूप संयम जीवन का शिक्षण मिले, उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं अथवा गुण वृद्धि के लिए जिनका बारंबार अभ्यास करना है उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। उसके चार प्रकार निम्नोक्त हैं:-

९. सामायिक व्रत : सर्व पाप व्यापारों का त्याग करके दो घड़ी तक समता भाव में रहने की प्रतिज्ञा को सामायिक कहते हैं। 'एक वर्ष में कम से कम इतनी सामायिक करूँगा।' ऐसा संकल्प, 'सामायिक व्रत' नाम का प्रथम शिक्षाव्रत है।

१०. देसावगासिक व्रत : छट्ठे व्रत में एवं बाकी के व्रतों में रखी हुई छूटों को मर्यादित करना, 'देसावगासिक' नाम का दूसरा शिक्षाव्रत है।

११. पौषधोपवास व्रत : धर्म की पुष्टि करनेवाली उपवास युक्त क्रिया को पौषधोपवास कहते हैं । एक वर्ष में निर्धारित पौषध करने का संकल्प 'पौषधोपवास' नाम का तीसरा शिक्षाव्रत है।

१२. अतिथि संविभाग व्रत : अतिथि अर्थात् साधु मुनिराज आदि को शुद्ध आहार, पानी का संविभाग याने दान देने के बाद ही उस आहार आदी को उपयोग में लेना 'अतिथि संविभाग' नाम का चौथा शिक्षाव्रत है।

पाँच अणुव्रत तथा तीन गुणव्रत यावज्जीव अर्थात् जीवन भर के लिए भी लिये जाते हैं, जबकि शिक्षाव्रत मर्यादित[1] समय के लिए ही स्वीकारे जाते हैं।

(अइयारे) पडिक्कमे देसिअं सव्वं - (इन बारह व्रतों में) दिवस संबंधी जो कोई अतिचार लगा हो, तो उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

बारह व्रतों के विषय में विस्तृत अतिचारों को आगे बताया जाएगा। यहाँ इतना खास ध्यान में रखना है कि शक्ति होते हुए भी इन व्रतों को स्वीकार न किया जाए अथवा स्वीकार करके बाह्य-अंतरंग जयणा का पालन न किया जाय तो अतिचार है।

यह गाथा बोलते हुए श्रावक इन सब अतिचारों को सामान्य रीति से स्मृति में लाकर दोष से दूषित बनी आत्मा की निन्दा करते हुए सोचता है कि,

'मैं कितना प्रमादी हूँ कि गुरु भगवंतों के समझाने पर भी मैंने महा मूल्यवान इन व्रतों का स्वीकार नहीं किया, एवं स्वीकार किया भी तो उनका स्मरण भी नहीं किया, एवं कभी स्मरण किया तो भी उनका पालन मात्र बाह्य से किया, परंतु व्रत पालन द्वारा आंतरिक परिणति को पलटाने का प्रयत्न नहीं किया। ये मैंने गलत किया है। इससे मैने मेरी आत्मा का ही अहित किया है। इसी कारण अब इन दोषों से विमुख होता हूँ एवं व्रत में स्थिर होता हूँ।'

---

1. तत्राणुव्रतानि गुणव्रतानि च प्रायो यावत्कथितानि शिक्षाव्रतानि पुनरित्वरिकाणि।
- हितोपदेश

प्रथम व्रत

अवतरणिका :

अब चारित्र विषयक प्रथम अणुव्रत के अतिचारों का प्रतिक्रमण करते हुए कहते हैं -

गाथा :

पढमे अणुव्वयम्मी, थूलग-पाणाइवाय-विरईओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ।।९ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

प्रमादप्रसङ्गेन अप्रशस्ते अत्र प्रथमे अणुव्रते ।
स्थूलक-प्राणातिपात-विरतितः अतिचरितम् ।।९ ।।

गाथार्थ :

प्रमाद के कारण अप्रशस्त भाव प्रवर्तते हुए, इस प्रथम अणुव्रत में स्थूल प्राणातिपात की विरति का उल्लंघन करने से, (दिन भर में) जो कोई विपरीत आचरण हुआ हो (उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।)

विशेषार्थ :

पढमे अणुव्वयम्मी - प्रथम अणुव्रत में ।

सम्यक्त्वमूलक बारह व्रतों में **'स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत'** प्रथम व्रत है। यह सब व्रतों में श्रेष्ठ एवं मुख्य व्रत है। इसलिए ही इस व्रत को प्रथम व्रत कहते हैं। इस व्रत के पालन से जो 'अहिंसक भाव' प्रकट होता है एवं उसकी जो उत्तरोत्तर वृद्धि होती है, **वह अहिंसक भाव ही वास्तव में आत्मा का शुद्ध भाव है,** क्योंकि इस शुद्धभाव से युक्त आत्मा रागादि भावों द्वारा स्वप्राण की भी हिंसा नहीं करती और अन्य को भी पीड़ा नहीं देती । पर आत्मा जब कर्म और कषाय के अधीन बनकर अशुद्ध बन जाती है, तभी वह स्व-पर की भावहिंसा का कारण बनती है । शुद्ध अहिंसक भाव की सुरक्षा के लिए ही अन्य व्रतों का विधान है । खेत में पके हुए फल की सुरक्षा के लिए जैसे बाड़ की आवश्यकता होती है, वैसे ही 'अहिंसक भाव' की सुरक्षा के लिए ही बाकी के ग्यारह व्रतों का पालन बताया गया हैं।

थूलग-पाणाइवाय-विरईओ - स्थूल प्राणातिपात की विरति का उल्लंघन करने से।

थूलग अर्थात् स्थूल, बड़ा। **पाण** अर्थात् प्राणों को धारण करने वाले जीव। **अइवाय** अर्थात् विनाश एवं **विरई** अर्थात् रूकना, अटकना या विराम पाना । इस तरह सामान्यतया मन-वचन-काया से जीवों की स्थूल हिंसा से अटकना अर्थात् वापस लौटने का संकल्प, स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत है।

हिंसा के प्रकार -

जैन शासन में हिंसा के दो प्रकार बताए गए हैं :

१) द्रव्य हिंसा २) भाव हिंसा।

१) द्रव्य हिंसा - जीवों के द्रव्यप्राणों का नाश करना यह जीव की द्रव्य हिंसा है। जीवों में अधिक से अधिक दस प्राण[1] होते हैं। उनमें से किसी भी प्राण का नाश करना या उसको हानि पहुँचाना द्रव्य हिंसा है।

---

1. स्पर्शेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय एवं श्रोत्रेन्द्रिय ये पाँच इन्द्रिय, मन-वचन एवं काया ये तीन बल, तथा आयुष्य एवं श्वासोश्वास - इस तरह जीवों के अधिक से अधिक दस प्राण होते हैं। उनमें एकेन्द्रिय जीवों के ४, बेइन्द्रिय के ६, तेईन्द्रिय के ७, चउरिन्द्रिय के ८, असंज्ञी पंचेन्द्रिय के ९ एवं संज्ञी पंचेन्द्रिय के १० प्राण होते हैं।

इस द्रव्य हिंसा के भी दो प्रकार के भेद हो सकते हैं : १. अपने द्रव्य प्राणों को हानि पहुँचाना **स्व-द्रव्य हिंसा** और २. दूसरों के द्रव्य प्राणों को हानि पहुँचाना **पर-द्रव्य हिंसा**।

२) भाव हिंसा - ज्ञान, दर्शन, चारित्र या समतादि गुण, वे आत्मा के भाव प्राण हैं। इन प्राणों को हानि पहुँचाना या उनका नाश करना भाव हिंसा है।

यह भाव हिंसा दो प्रकार की है - १) राग, द्वेष अथवा कषाय के अधीन होकर अपने समता आदि भावों का नाश करना, **स्व-भाव हिंसा** है एवं २) अन्य के राग, द्वेष अथवा क्रोधादि में निमित्त बनकर अन्य की समता आदि का हरण करना, **पर-भाव हिंसा** है।

भाव हिंसा कषाय रूप है। इससे आत्मा को इस भव में एवं परभव में भी पीड़ा होती है। जहाँ स्व-भाव प्राण की हिंसा होती है वहाँ अन्य के द्रव्य-प्राण की हिंसा की संभावना बहुत बढ़ जाती है, क्योंकि जहां कषायादि की अधीनता होती है वहाँ खुद के माने हुए सुख के लिए अन्य के द्रव्य प्राण की उपेक्षा होने की पूरी संभावना रहती है।

इस अपेक्षा से शास्त्रकारों ने द्रव्य हिंसा[2] से भाव हिंसा को अधिक अनर्थकारी कहा है और कभी-कभी तो भाव-हिंसा से बचने के लिए द्रव्य-हिंसा को गौण भी किया है । जैसे एक स्थान में ज्यादा रहने से साधु-साध्वीजी में राग होने की संभावना है । अतः भगवान ने राग नामक भाव हिंसा से बचने के लिए साधुओं के लिए नवकल्पी विहार का विधान किया है और उस दौरान नदी भी उतरनी पडे तो उसको जयणापूर्वक उतरने की छूट भी दी है ।

भाव हिंसा से बचने के उपाय :

भाव हिंसा से बचने के लिए, कर्म के उदय से, जो भी निमित्त मिले उसमें थोड़ा भी राग या द्वेष नहीं करना चाहिए। क्रोधादि कषायों से मन को विकृत नहीं

---

2. आतमभाव हिंसनथी हिंसा, संघला ए पापस्थान,
तेह थकी विपरीत अहिंसा, तास विरहनुं ध्यान॥८-२४॥ - ३५० गाथा का स्तवन

करना चाहिए एवं किसी भी गलत संकल्प-विकल्प में नहीं पड़ना चाहिए, परंतु निर्विकल्प भाव में रहने का सतत प्रयत्न करना चाहिए और जब तक निर्विकल्प अवस्था में स्थिर न हो सके तब तक शुभ भावों में स्थिर रहने का प्रयत्न करना चाहिए, तो ही भाव प्राण की सुरक्षा हो सकती है।

यही बात समझाने के लिए महामहोपाध्याय यशोविजयजी महाराज ने भी कहा है कि -

ऐकताज्ञान निश्चयदया, सुगुरू तेहने भाखें,
जेह अविकल्प उपयोगमां, निज प्राणने राखे॥४-९॥

- १२५ गाथा का स्तवन

राग, द्वेष अथवा ममता आदि भावों के स्पर्श बिना शुद्ध ज्ञानगुण में जो लीनता प्राप्त होती है अर्थात् मात्र शुद्ध ज्ञान की धारा में उपयोग की जो एकाग्रता बनी रहती है, वही निश्चय नय से दया है - ऐसा सद्गुरू भगवंत कहते हैं। इसी कारण से जो सर्व विकल्पों को त्यागकर निर्विकल्प भाव में रहता है, वह ही निश्चय नय से अपने भाव प्राणों की रक्षा कर सकता है।

जो भाव प्राण की उपेक्षा करके केवल द्रव्य अहिंसा के लिए परिश्रम करते हैं, वे वास्तव में जैन शासन की हिंसा, अहिंसा को समझ ही नहीं पाए हैं। इस बात को स्पष्ट करते हुए इसी स्तवन में आगे बताया है कि 'जो पर प्राण[3] की दया पालता है, उसकी दया मात्र व्यवहारिक है वास्तविक नहीं है, क्योंकि स्व-दया बिना अन्य की दया कोई कैसे पाल सकता है ? अर्थात् स्व-भाव प्राण की उपेक्षा करने वाला सही अर्थ में द्रव्य दया का भी पालन नहीं कर सकता।

व्रत की प्रतिज्ञा :

श्रमण भगवंत सर्वथा प्राणातिपात विरमण व्रत स्वीकार करके, खुद की और अन्य की भाव हिंसा से बचने के लिए अत्यंत सावधान रहते हैं और वे अपने

3. जेह राखे पर प्राण ने, दया तास व्यवहारे,
निज दया विण कहो पर दया, होवे कवण प्रकारे ? ॥४-१०॥

भाव प्राणों की सुरक्षा के लिए ही द्रव्य अहिंसा का भी विशिष्ट तौर से पालन करते हैं। इसलिए वे महाव्रतों को स्वीकार करके समिति और गुप्ति का सर्वदा सेवन करते हैं।

हिंसा का अनर्थकारी स्वरूप जानने वाला श्रावक समझता है कि, 'जीवन इस प्रकार से जीना चाहिए कि जिसमें किसी भी प्रकार की हिंसा हो ही नहीं; परंतु अभी मुझ में ऐसे सत्त्व, वैराग्य आदि गुण नहीं है कि मैं सर्वथा द्रव्य और भाव हिंसा का त्याग कर सकूँ, तो भी सर्व प्रकार की हिंसा को त्यागने का सत्त्व मुझ में प्रकट हो, इसलिए मैं मेरी शक्ति के अनुरूप व्रत स्वीकार करूँ'। ऐसी भावना से संपूर्ण अहिंसक भाव को प्राप्त करने के लक्ष्यपूर्वक बादर जीवों की हिंसा से बचने के लिए श्रावक इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता है, **'मैं इस जीव को मारूँ, ऐसा संकल्प करके निरपराधी, त्रसजीवों की निष्कारण, निरपेक्ष भाव से हिंसा नहीं करूँगा।'** ऐसी प्रतिज्ञा का स्वीकार ही स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत हैं। शास्त्र में इसे सवा वसा की अर्थात् १०० प्रतिशत की अपेक्षा ६.२५ प्रतिशत की दया कहते हैं। वह इस तरह -

सवा वसा की दया :

इस जगत में जीव दो प्रकार के हैं : त्रस और स्थावर। जो जीव अपनी इच्छानुसार सुख-दुःख के संयोगों में हलन-चलन कर सकते हैं, उन्हें त्रस जीव कहते हैं; जो जीव इस तरह हलन-चलन नहीं कर सकते, उन्हें स्थावर जीव कहते हैं। ये स्थावर जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के भेद से पाँच प्रकार के हैं एवं बेइन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव त्रस हैं। इन सभी प्रकार के जीवों में से जीवन निर्वाह के लिए स्थावर की हिंसा अनिवार्य बन जाने से श्रावक उस का त्याग नहीं कर सकता। इसलिए उनमें जयणा (सावधानी, छूट) रखकर वह त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता है। इस प्रकार त्रस और स्थावर दोनों की हिंसा में से मात्र त्रस जीवों की हिंसा का त्याग होने से १०० प्रतिशत में से उसकी दया मात्र ५० प्रतिशत की हो जाती है।

श्रावक त्रस जीवों को भी 'इन्हें मैं मारूँ' ऐसे संकल्पपूर्वक हिंसा नहीं करता, तो भी अनेक प्रकार के आरंभ-समारंभ के कार्य उसे करने पड़ते हैं, जैसे कि रसोई बनाना आदि। ऐसे आरंभ-समारंभ करते हुए श्रावक से त्रस जीवों की हिंसा होने की संभावना रहती है। इस कारण से श्रावक 'संकल्पपूर्वक मैं त्रस जीवों को नहीं मारूंगा' ऐसा नियम कर सकता है, परंतु आरंभ-समारंभ के कारण त्रस जीवों की हिंसा से भी पूर्णतया नहीं बच सकता। इसलिए आरंभ की प्रवृत्तियों में जयणा करते हुए संकल्पपूर्वक अर्थात् इरादे पूर्वक, जान बूझकर त्रस जीवों को नहीं मारना ऐसा व्रत स्वीकारता है। इससे ५० प्रतिशत में से उसकी दया २५ प्रतिशत की हो जाती है।

'संकल्पपूर्वक त्रस जीवों को नहीं मारूँगा', ऐसा व्रत भी श्रावक सर्वथा स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि जिम्मेदारी के स्थान पर बैठे हुए श्रावक का यह फर्ज बनता है कि चोरी आदि विनाशकारी अनैतिक प्रवृत्ति करनेवाले या अन्य प्रकार के अपराधियों को सज़ा देना या उनके प्रति दंडात्मक कार्यवाही करना। इस कारण श्रावक उन अपराधी जैसे चोर, डाकू, नौकर-चाकर या अपने पुत्र-परिवार को दंडादि रूप हिंसा करने में जयणा रखते हुए निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा का नियम करता है। इस प्रकार उसकी दया २५ प्रतिशत से १२.५ प्रतिशत की हो जाती है।

तथापि निरपराधी सब जीवों की हिंसा का त्याग भी श्रावक नहीं कर सकता क्योंकि कभी निरपराधी ऐसे पुत्र-परिवार, दास-दासी या पशु-पक्षी को भी गलत प्रवृत्ति से बचाने के लिए धमकाना पड़े या ताडन-तर्जन करना पड़े। इसलिए, इन कारणों से इतनी छूट रखकर, **'संकल्प पूर्वक, निरपराधी त्रस जीवों की निष्कारण हिंसा नहीं करूंगा।'** ऐसा नियम श्रावक स्वीकारता है। इस तरह से उसकी दया १२.५ प्रतिशत में से ६.२५ प्रतिशत हो जाती है।

इस प्रकार उसका व्रत मुनि की १०० प्रतिशत की दया के सामने मात्र ६.२५ प्रतिशत या रूपये में एक आना जितना रहता है। पूर्वकाल में रूपये के बीस वसा होते थे। उसके आधार पर वर्तमान की शास्त्रीय भाषा में कहना हो तो श्रावक की

इस दया को सवा वसा की दया[4] कहते हैं। तो भी हिंसा के संपूर्ण त्याग की भावना वाला होने से श्रावक स्थावर की भी निरर्थक हिंसा नहीं करता।[5]

यहाँ इतना खास ध्यान में रखना है कि पहला अणुव्रत मात्र इतने ही जीवों की हिंसा के त्याग रूप नहीं है, परंतु जिन जीवों की हिंसा नहीं करने की प्रतिज्ञा न की हो उन जीवों के विषय में भी जयणापूर्वक अर्थात् कम से कम हिंसा से कार्य किस तरीके से हो सके, वैसे उपयोगपूर्वक जीवन जीने स्वरूप हैं। सतत हिंसा से बचने का भाव ही श्रावक को सर्वविरति रूप लक्ष्य तक पहुँचा सकता हैं।

शास्त्रों में कहा है कि, श्रावक को जो आरंभादि करने पड़ते हैं, उसमें यदि श्रावक दयावान बन यतना न करता हो, तो उसको पंचेन्द्रिय तक के जीवों के वध की संभावना रहती है। इसलिए जयणा का अर्थ हिंसा करने की छूट नहीं है, परंतु छूट रखे हुए विषय में अत्यंत उपयोग वाला बनना है। व्रत की इस गंभीरता को समझते हुए श्रेणिक महाराजा, कृष्ण वासुदेव जैसे महान श्रावक अविरति के उदय के कारण ही इन व्रतों का स्वीकार नहीं कर सके।

4.

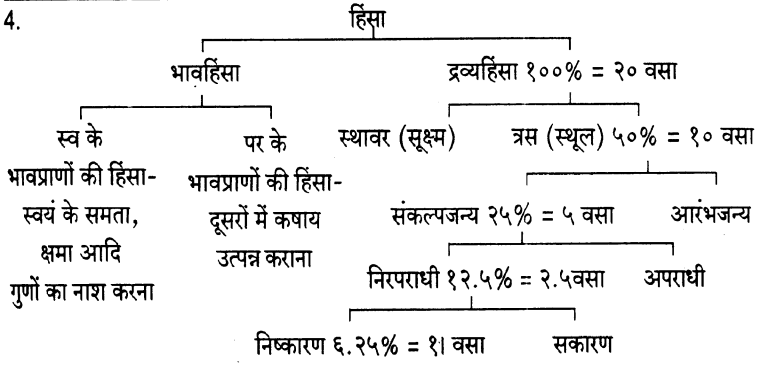

इस तरह महाव्रत की २० वसा की दया की अपेक्षा से अणुव्रत में मात्र १। वसा की दया होती है अर्थात् श्रावक जीवन में रूपये में एक आना या सिर्फ ६.२५% जितना अहिंसा का पालन होता है।

5. **निरर्थिकां न कुर्वीत, जीवेषु स्थावरेष्वपि।**
हिंसामहिंसाधर्मज्ञः, काङ्क्षन् मोक्षमुपासकः ।। - योगशास्त्र २-२१

मोक्ष की इच्छावाला, अहिंसा धर्म का ज्ञाता, श्रावक निष्प्रयोजन स्थावर जीवों की भी हिंसा नहीं करता, तब त्रस जीवों की जयणा के लिए सोचना ही क्या ?

शास्त्र में दूसरी तरह से जीव हिंसा के २४३ प्रकार बताए हैं। जैसे कि, पाँच स्थावर, तीन विकलेन्द्रिय तथा एक पंचेन्द्रिय सहित नव प्रकार के जीवों को मन-वचन-काया से गुणा करके २७ भेद होते हैं, उनको करना-करवाना एवं अनुमोदन रूप तीन प्रकार से गुणा करके ८१ भेद होते हैं और उनको भूत-भविष्य-वर्तमान तीन काल के साथ गुणा करने से २४३ भेद होते हैं। उसमें से श्रावक उत्कृष्टता से त्याग करे तो भी तीन काल, तीन योग, दो करण एवं बेईन्द्रियादि चार प्रकार के त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करता हैं। इससे ३x३x२x४ = ७२ प्रकार की हिंसा का ही त्याग कर सकता है और वो भी मात्र सवा वसा। सोचने से ऐसा लगता है कि २४३ प्रकारों में से मात्र ७२ प्रकार की हिंसा का त्याग करना और वो भी मात्र सवा वसा ही करना, तो क्या फल मिलेगा ? परंतु शास्त्रकार कहते हैं कि **इस साधारण दिखते हुए त्याग के पीछे भी सर्वविरति तक पहुँचने की जो भावना है, उस भावना से ही अत्यधिक फल मिलता है।**

आयरिअमप्पसत्थे इत्थ पमायप्पसंगेणं[6] - प्रमाद के कारण अप्रशस्त भाव का उदय होते हुए इस प्रथम व्रत विषयक जो कोई विपरीत आचरण किया हो (उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

व्रत का विशुद्ध पालन करने की पूर्ण भावना होने पर भी प्रमाद के कारण व्रत में दोष लग जाते हैं । प्रमाद अंतःकरण की एक दुर्बलता है । लोक व्यवहार में लापरवाही, शिथिलता, चित्त की विक्षिप्तता, उत्साह हीनता, आलस्य, उपेक्षा वृत्ति, असावधानी आदि प्रमाद के पर्याय हैं । पर शास्त्रकार कहते हैं कि मोक्षमार्ग के प्रति उद्यम की शिथिलता या मंदता ही प्रमाद है । अतः 'स्थूल हिंसा नहीं करना', ऐसा व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक को कोई भी प्रवृत्ति करते हुए सोचना चाहिए कि 'यह प्रवृत्ति मेरे व्रत के अनुरूप है या नहीं ?' यह क्रिया करते वक्त मैं जयणा के भाव के प्रति जागृत रहा कि नहीं ? ऐसी सावधानी न रखना प्रमाद है।

---

6. **आयरियं** - आर्ष प्रयोग है। उसका संस्कृत **अतिचरितम्** होता है। अतिचर अर्थात् मर्यादा का उल्लंघन करना।

प्रमाद के प्रकार : आत्मा का अहित करने वाला प्रमाद[7] अनेक प्रकार का है। उनको ध्यान में रखते हुए शास्त्रकारों ने प्रमाद के पाँच एवं आठ प्रकार बताए हैं। उनमें से पाँच प्रकार इस प्रकार हैं।

१) मद्य : मद्य का अर्थ मदिरा होता है, लेकिन यहाँ मद्य शब्द से जिससे नशा हो ऐसी किसी भी वस्तु के उपयोग को या केफीन पदार्थ के सेवन को मद्य नामक प्रमाद कहा है, क्योंकि उस नशे के कारण व्यक्ति अपनी शान-भान गँवा बैठता है। कई बार तो, मैंने इस प्रकार का व्रत लिया है, वह भी भूल जाता है और कभी सर्वथा विवेक खोकर व्रत की मर्यादा भी चूक जाता है।

२) विषय : शब्द, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श : पाँचों इन्द्रियों के इन पाँच विषयों में आसक्ति करना 'विषय' नामक प्रमाद है। इस प्रमाद के अधीन हुआ जीव अपने कल्पित भौतिक आनंद प्राप्त करने में अन्य जीवों को निरर्थक कितना त्रास होगा, यह सोच भी नहीं सकता। अत: वह अपनी विषयों की तृष्णा को संतुष्ट करने के लिए वनस्पतियों का विनाश करना, पानी में तैरना, फटाके फोड़कर आतिशबाजी करना, अग्नि जलाना इत्यादि कार्य करके अन्य जीवों को अकारण पीड़ा देता हैं अथवा उनकी हिंसा करता हैं।

३) कषाय : क्रोध, मान, माया, लोभ रूपी कषायों एवं हास्यादिरूपी नोकषायों के अधीन होना 'कषाय' नाम का प्रमाद है। इस प्रमाद के परवश हुआ जीव मन, वचन, काया की प्रवृत्ति करने से पहले, इस प्रवृत्ति से मेरा या अन्य का क्या अहित होगा, उसका लेश मात्र भी विचार नहीं कर पाता।

४) विकथा : आत्मा का अहित करने वाली कथा को विकथा कहते हैं। वह चार प्रकार की होती है: देशकथा, राजकथा, स्त्रीकथा एवं भक्त कथा। इसके अतिरिक्त धर्मरत्न प्रकरण में दर्शनभेदिनी, चारित्रभेदिनी एवं मृदुकारिणी कथाओं

---

7. मोक्षमार्गं प्रति शिथिलोद्यमो भवत्यनेन प्राणीति प्रमादः, किंविशिष्टः 'अष्टविधः' अष्टप्रकारः, तथा चोक्तम् -

अज्ञानं संशयश्चैव, मिथ्याज्ञानं तथैव च । रागद्वेषावनास्थानं, स्मृतेः धर्मेष्वनादरः ।।१।।
योगदुष्प्रणिधानं च, प्रमादोष्टविधः स्मृतः । तेन योगात्प्रमत्तः स्यादप्रमत्तस्ततोन्यथा ।।२।।

प्रमाद के आठ प्रकार हैं : १. अज्ञान, २. संशय, ३. मिथ्यात्व, ४. राग, ५. द्वेष, ६. मतिभ्रंश, ७. धर्म का अनादर-उपेक्षा एवं ८. मन-वचन-काय का अशुभ व्यापार।

- नवपद प्रकरण

का भी विकथा के नाम से उल्लेख किया है। मानव जीवन में आनंद-प्रमोद के बहुत सारे स्थान होने पर भी उन सब में से मानव के लिए विकथा एक अति रसप्रद स्थान रहा है। उसमें लीन होकर मानव कितना समय व्यर्थ गँवा देता है, उसका उसे भान भी नहीं रहता। और तो और इन विकथाओं में अपने होश खोकर जीव इन कथाओं द्वारा अपना या अन्य का किस प्रकार नुकसान होता है वह भी सोच नहीं सकता। निन्दा, अभ्याख्यान, असत्य आदि पाप भी इन विकथाओं के कारण लगते हैं।

५) निद्रा : जरूरत से ज्यादा सोना 'निद्रा' नामक प्रमाद है। निद्रा में सुख मानने वाला घोर निद्रा के कारण व्रत का उपयोग चूक जाता हैं।

ये पाँच प्रमाद तो प्रमाद हैं ही, परंतु इनके अतिरिक्त व्रतपालन में लापरवाही, शक्ति होते हुए भी व्रत का अस्वीकार, स्वीकार के बाद शुद्ध पालन के लिए प्रयत्न का अभाव, शुद्ध पालन करते हुए लक्ष्य के साथ संबंध न होना तथा लक्ष्य की प्रतीति होते हुए भी प्रगति कितनी हुई इस विचार का अभाव, ये सब भी प्रमाद ही कहलाते हैं।

आत्मा के लिए प्रमाद अत्यन्त अहितकारी है। प्रमाद के वश पडे हुए जीव का निश्चित पतन होता है। प्रमाद के कारण चौदह पूर्वधर भी निगोद में गए हैं। इस प्रमाद के अधीन होने से अप्रशस्त-अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं, जो व्रत मर्यादा का उल्लंघन करवाते हैं। व्रतधारी श्रावक को अपने जीवन में प्रमाद प्रवेश न हो, उसके लिए अति सावधान रहना चाहिए।

यहाँ यह भी ख्याल रखने योग्य है कि प्रमाद के वश होकर जो वध आदि होते हैं वे व्रत को दूषित करते हैं पर प्रमाद बिना, जयणा के भाव पूर्वक प्रभुभक्ति, साधर्मिक भक्ति आदि आत्महितकारी कार्यों में जो हिंसा आदि होती है उससे व्रत दूषित नहीं होता।

व्रतपालन का फल :

अहिंसा का पालन करने से जो फायदा होता है एवं उसका पालन न करने से जो नुकसान होता है, उसका विचार कर, श्रावक को अत्यन्त जागृत रहकर इन

व्रतों का पालन करना चाहिए, जिससे भविष्य में प्रमाद के वश होकर व्रतों में अतिचार लगने की संभावना घट जाए।

जीवदया का पालन करने से निरोगी शरीर, सुंदर रूप, निर्विकारी यौवन, दीर्घ आयुष्य, निष्कलंक यश-कीर्ति, न्यायोपार्जित धन, पूज्य भाव धारण करने वाले पुत्र, विश्वसनीय परिवार, आज्ञा का ऐश्वर्य याने जब आज्ञा करे तब सब उसको स्वीकारे और सब को वह आज्ञा प्रिय लगे ऐसी ठकुराई आदि उत्तम सुख प्राप्त होते हैं।[8]

जबकि जीवदया का पालन नहीं करनेवाले का जीवन, स्वजनादि का वियोग, शोक, अल्पआयु, अकाल मरण, दुःख, दौर्भाग्य और महारोग आदि दुःखों से भरा हुआ होता है। वे लूले, लंगड़े, कुष्टरोग वाले होते हैं और नरक-तिर्यंच जैसी गतियों में परिभ्रमण करते हुए महा अनर्थों की परंपरा को प्राप्त करते हैं।

अवतरणिका :

अब प्रमादादि के कारण प्रथम व्रत में जो अतिचार होने की संभावना है, उसके मुख्य पाँच प्रकार बताते हैं :

गाथा :

वह-बंध-छविच्छेए, अइभारे भत्त-पाण वुच्छेए।
पढम-वयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं।।१०।।

अन्वयसहित संस्कृत छाया :

वध-बन्ध-छविच्छेदे, अतिभारे भक्त-पानव्यवच्छेदे।
प्रथमव्रतस्य दैवसिकं सर्वान् अतिचारान् प्रतिक्रामामि।।१०।।

---

8. **जं आरुग्गमुदग्गमप्पडिहयं आणेसरत्तं फुडं,**
रूवं अप्पडिरूवमुज्जलतरा कित्ती धणं जुव्वणं।
दीहं आउ अवंचणो परियणो पुत्ता सुपुण्णासया,
तं सव्वं सचराचरं मि वि जए नूणं दयाए फलं।।१।।

- संबोध प्र., श्रा. व्रताधि. गा. १२

पाणिवहे वट्टंता, भमंति भीमासु गब्भवसहीसुं।
संसारमंडलगया, नरयतिरिक्खासु जोणीसुं।।१।।

- संबोध प्र. श्रा. व्रताधि. गा. १२

गाथार्थ :

१. (द्विपद-चतुष्पद प्राणियों को निर्दयता पूर्वक) मारना, २. रस्सी आदि से बाँधना, ३. शरीर अथवा चमड़ी को काटना, ४. शक्ति से अधिक भार लादना और ५. उनको खानापानी न देना : ये प्रथम व्रत के पाँच अतिचार हैं। दिनभर में ऐसे जो भी अतिचारों का सेवन हुआ हो, उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

व्रत स्वीकार करने के बाद, व्रत को मलिन करे ऐसी प्रवृत्तियाँ अनाभोग से (बिना सोचे), सहसात्कार से, या सापेक्ष भाव से की हों तो वे व्रत संबंधी अतिचार कहलाते हैं। सापेक्ष भाव से की हों अर्थात् व्रत की मर्यादा की रक्षा करने का परिणाम होने पर भी दोष का सेवन हुआ हो - जैसे कि ऐसा सोचना कि 'मैंने स्थूल जीवों की हिंसा नहीं करने का नियम लिया है, परंतु किसी को किसी भी प्रकार से पीड़ा न देनी, ऐसा नियम नहीं लिया। अत: जीवों को सामान्यतया मारने आदि से व्रत भंग नहीं होता', ऐसा मानकर, अगर कोई वधादि किए जाए तो व्रत का नाश नहीं होता परंतु अतिचार तो लगता ही है, परंतु व्रत निरपेक्ष बनकर, जान-बूझकर, क्रूरता से वधादि करने से व्रत टिक नहीं सकता। **इस प्रकार प्रत्येक व्रत में इतना खास ध्यान रखना है कि व्रत की सापेक्षता हो तब तक अतिचार माना गया है और व्रत की निरपेक्षता हो तब व्रत भंग होता है।**

प्रथम व्रत को मलिन करने वाले वधादि बड़े पाँच अतिचार निम्न प्रकार के हैं:

वह - वध।

वध करना अर्थात् मारपीट करना, ताड़न-तर्जन करना। यहां 'वध' शब्द का प्रयोग प्राणघात अर्थ में नहीं हुआ है। प्राणघात व्रत का अतिचार नहीं, परंतु अनाचार है, क्योंकि प्राणघात करने से व्रत भंग होता है। विषय-कषाय के अधीन होकर किसी भी जीव का ताड़न-तर्जन करना अथवा उसको पीड़ा पहुँचाना, वह वध है। क्रोधादि कषाय के वश होकर निष्कारण गाय, भैंस आदि पशुओं को तथा नौकर, चाकर, पुत्र, परिवार या पत्नी को मारना, लकड़ी आदि से पीटना, उनके हृदय को ठेस पहुँचे ऐसी वाणी का प्रयोग करना अथवा उनका अशुभ चिंतन

करना ये सब प्रथम व्रत के अतिचार हैं, क्योंकि ऐसा करने से जीवों को द्रव्य एवं भाव से पीड़ा होती है।

श्रावक को अपना जीवन इस तरीके से जीना चाहिए कि उसके प्रभाव से ही आसपास के सब परिवार जन आदि यथायोग्य रीति से अपने यथोचित कर्तव्य बजाएँ। ऐसा होते हुए भी कभी अपने परिवार आदि को कर्तव्य से चूकते हुए देखें, तब उनको उनके कर्तव्य में जोड़ने या विनयादि गुणों में स्थित कराने हेतु, उग्र भाषा में हित शिक्षा देना, डांटना, ठपका देना या खुद की संतान आदि को सुधारने के लिए उन्हें मारना, ये सब सकारण वध है। ऐसे वध में यद्यपि द्रव्य हिंसा है तो भी भाव हिंसा नहीं है। इसलिए ऐसी प्रवृत्ति से व्रत मलिन नहीं होता।

बंध - प्राणियों को रस्सी वगैरह से बाँधना।

क्रोधादि कषाय के अधीन होकर पुत्र, परिवार या पशुओं को बिना कारण किसी भी प्रकार से बंधन में रखना या अपने नियंत्रण में रखना प्रथम व्रत विषयक दूसरा अतिचार है।

परंतु यहाँ यह खयाल में रखना है कि क्रोधादि कषाय के अधीन होकर निष्कारण बंध करने से ही अतिचार लगता है, परंतु कोई कारण से सापेक्ष भाव से बंध करने से अतिचार नहीं लगता। यद्यपि श्रावक के दास, दासी, पुत्र, परिवार आदि ऐसे ही होते हैं कि उनको बाँधने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती, फिर भी कभी पुत्रादि अनर्थकारी मार्ग पर जाते हों तो उनको रोकने के लिए सापेक्ष भाव से कोई बंधन या नियंत्रण करना पड़ता है। इस कारण किया हुआ बंध अतिचार रूप नहीं, परंतु उस समय अपने अध्यवसाय न बिगड़े, उसकी अति सावधानी रखनी चाहिए।

छविच्छेए - शरीर के अंगों को छेदना।

छवि अर्थात् शरीर, **छेह** अर्थात् छेदना, काटना। नाक, कान बिंधना या काटना छविच्छेद है। कषाय के अधीन होकर या ममता के कारण 'यह मेरा पशु है', ऐसी पहचान के लिए उसके नाक, कान बींधने से, गलकंबल, पूंछ आदि काटने से या उस पर अग्नि से निशान लगाने पर अतिचार लगता है, परंतु किसी रोग के कारण डाम देने से या चमड़ी उतरवाने से, चिकित्सा के लिए कभी सर्जरी

वगैरह करनी पड़े तो उससे व्रत में अतिचार नहीं लगता, क्योंकि वहाँ दुष्ट भाव नहीं होता।

अइभारे - अतिभार उठवाने में।

जहाँ तक मुमकिन हो वहाँ तक श्रावक को नौकर-चाकर या पशु आदि रखने ही नहीं चाहिए, और यदि रखने भी पड़े तब भी उनसे उनकी शक्ति अनुसार ही कार्य करवाना चाहिए, परंतु लोभादि कषाय के अधीन होकर, शक्ति एवं मर्यादा से अधिक भार उठवाने में या अधिक कार्य करवाने में इस व्रत सबंधी अतिचार लगता है, क्योंकि इस प्रकार के व्यवहार से 'यह जीव भी मेरे जैसा है', यह भाव नहीं टिकता और उसके सुख-दुःख के प्रति उपेक्षा का भाव भी आ जाता हैं।

भत्तपाणवुच्छेए - भोजन पानी में अंतराय करना।

श्रावक को भोजन करने से पहले जैसे सुपात्रदान संबंधी विचार करना चाहिए वैसे अपने नौकर-चाकर एवं पशु के आहार की चिंता भी करनी चाहिए। बीमारी आदि के कारण भोजन न देना इत्यादि प्रसंगों को छोड़कर, श्रावक को सबके आहार-पानी की व्यवस्था करने के बाद ही अपना भोजन करना चाहिए, ऐसा व्यवहार करते हुए भी कदाचित प्रमाद के कारण किसी को खिलाना-पिलाना रह जाए तो अतिचार लगता है।

इस प्रकार प्रथम व्रत संबंधी पाँच अतिचार बताए। उनके उपलक्षण से जीवों को पीड़ा हो वैसी मन, वचन, काया की कोई भी प्रवृत्ति करना वे सब इस व्रत के अतिचार माने जाते हैं।

जिज्ञासा - श्रावक को जीवों की स्थूल हिंसा नहीं करनी वैसा व्रत होता है। वधादि करने से जीवों की हिंसा नहीं होती तो व्रत में दोष कैसे लगेगा ?

तृप्ति - यह व्रत दया के परिणाम को प्रकट एवं स्थिर करने के लिए है। उसमें मात्र स्थूल हिंसा की प्रतिज्ञा ही नहीं; परंतु सूक्ष्म हिंसा से बचने की भावना एवं यथासंभव प्रयत्न करना भी आवश्यक हैं। अकारण ताडन, तर्जन वगैरह करने से दया के परिणाम नष्ट होते हैं। यद्यपि जीवों की हिंसा ना होने से व्रत भंग नहीं होता तो भी व्रत में मलिनता तो आती ही है, क्योंकि शुभ भाव को जागृत करने का व्रत का जो ध्येय है वह ऐसी क्रिया करने से निष्पन्न नहीं होता ।

पढ़म वयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं - प्रथम व्रत संबंधी दिन में लगे सर्व अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

इस तरह सर्व अतिचारों को स्मृति में लाकर उनका प्रतिक्रमण करता हुआ श्रावक सोचता है कि 'प्रथम व्रत का स्वीकार करके आज के दिन अति सावधानीपूर्वक जीने का संकल्प किया था। उसके लिए यथामति एवं यथाशक्ति प्रयत्न भी किया था, फिर भी प्रमादवश, नासमझी में, अनाभोग से, सहसात्कार से दिन में अनेक छोटे-बडे अतिचार लगे हैं, यह नि:संदेह बहुत बुरा हुआ है। पुन: ऐसा न हो इसके लिए उन दोषों की आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ। गुरूसाक्षी से उनकी गर्हा करता हूँ एवं उनसे वापस लौटने का प्रयास करता हूँ।'

इन दोनों गाथाओं का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'तलवार की धार पर चलना शायद सुलभ है, परंतु सर्वथा अहिंसा व्रत का पालन करना मुश्किल है। ऐसे व्रत के पालन का सामर्थ्य या शक्ति तो मुझ में नहीं ;परंतु मुझमें ऐसी शक्ति प्रकट हो ऐसा ध्येय रखकर स्थूल हिंसा न करना ऐसा व्रत मैंने स्वीकारा है। व्रत स्वीकार कर उसका विशुद्ध पालन करके संसार समुद्र पार करने की मेरी तीव्र भावना है; परंतु प्रमाद आदि शत्रु मेरे व्रत में दूषण लगाए बिना नहीं रहते। धन्य है उन महामुनियों को जो महाव्रतों को स्वीकार कर आजीवन उनका निरतिचार पालन करते हैं। धन्य है उन श्रावकों को जो स्थूल हिंसा से दूर रहने का व्रत लेकर मरणांत कष्ट सहन करने पड़े तो भी अतिचार की इच्छा भी नहीं करते। उनके चरणों में प्रणाम करके उनके जैसा व्रत पालन का सत्त्व मुझमें भी खिले इसलिए परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ एवं दृढ़तापूर्वक व्रत में स्थिर होता हूँ।

चित्तवृत्ति का संस्करण :

व्रत का ध्येय निष्पन्न करने के लिए श्रावक को निम्नोक्त मुद्दों के प्रति खास प्रयत्न करना चाहिए:

- जिन जीवों की हिंसा संबंधी नियम लिया है, उनकी हिंसा तो नहीं ही करनी चाहिए, परंतु जिनका नियम न हो वहाँ भी निरर्थक स्थावर या त्रस जीवों की हिंसा ना हो उसका खयाल रखना चाहिए।

- हलन-चलन की या लेने-रखने इत्यादि की कोई भी क्रिया करते हुए जीव हिंसा न हो या किसी का मन ना दु:खे एवं अपने या अन्य के काषायिक भावों में वृद्धि न हो, इसकी हमेशा जागृति रखनी चाहिए।
- अकारण होनेवाली हिंसा से बचने के लिए वॉटर-पार्क (जल-उद्यान), हिल-स्टेशन जैसे आनंद-प्रमोद के स्थानों का सर्वथा त्याग करना चाहिए।
- हिंसक प्रवृतियों में रत परिचितों से हमेशा दूर ही रहना चाहिए।
- व्रत लेने के बाद सतत उसका स्मरण करना चाहिए। विस्मृति अथवा अन्यमनस्कता भी व्रत के अतिचार हैं।
- इस व्रत के यथायोग्य पालन के लिए कुमारपाल महाराजा अपने हाथी-घोड़े आदि को छानकर पानी देते थे एवं घोड़े आदि की जीन के ऊपर पूंजणी बंधवाते थे। उनके जैसे श्रावकों को याद करके प्रमाद भाव त्याग कर अपने जीवन व्यवहार को भी अत्यंत जयणा प्रधान बनाना चाहिए।
- घर में हिंसा के भरपूर साधन तो होते ही हैं फिर भी जितनी हिंसा से बचना मुमकिन हो उतनी हिंसा से बचने के लिए जीवदया या रक्षा के साधन जैसे कि, पूंजनी, चरवली, मुलायम झाड़ू आदि भी घर में रखने चाहिए। संखारादि[9] का उपयोग करना चाहिए। अहिंसा के पालन के लिए घर में ७ छलनियाँ[10] एवं १० चँदरवें[11] रखने चाहिए। कचरा साफ करने के लिए

---

9. संखारा जैन पारिभाषिक-शास्त्रीय शब्द है। पानी छालने के बाद छलनी में जो कचरा या जीव-जन्तु इकट्ठे होते है उसे संखारा कहते है। इस संखारे के जीव अपना आयुष्य शांति स पूर्ण कर सकें इसलिए उन्हे एक छोटे भाजन में वही पानी लेकर रख देना चाहिए या तो जिस कूएँ में से पानी लाया हो उसी कूएँ में वापस रख देना चाहिए।

10. **७ छलनी :** १. पानी छानने के लिए, २. घी छानने, ३. तेल छानने, ४. लस्सी/छ छानने ५. दुध छानने, ६. उबला हुआ पानी छानने और ७. आँटा छानने।

11. **चंदरवें :**

१. जिन भवन, २. पौषध शाला, ३. सामायिक शाला, ४. भोजन गृह, ५. वलोणा करने के स्थान पर, ६. खांडणे के स्थान पर, ७. पिसने या पुरस्कारी करने के स्थान पर, ८.चूले पर, ९. पाणीयारे पर, १०. सोने के स्थान पर.

वेक्यूम-क्लीनर का उपयोग नहीं करना चाहिए। जीवों को पीड़ा हो ऐसे बरछट झाड़ू आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए। फिनाइल, एसीड, डी.डी.टी., चूहे की दवा आदि का उपयोग नहीं करना चाहिए। पेस्ट-कंट्रोल नहीं करवाना चाहिए, साफ-सफाई करते हुए जयणा का पूरा खयाल रखना चाहिए। लीलफुग न हो इसका खयाल रखना चाहिए। छिद्ररहित घट्ट जाड़े कपड़े से पानी छानना चाहिए और अनछने पानी का उपयोग कभी नहीं करना चाहिए । छानने के बाद बचे हुए पोरा आदि जीवों की सावधानीपूर्वक रक्षा करनी चाहिए। घर के प्रत्येक नलादि पर छलनी बांधनी चाहिए, जहाँ से अनछना पानी ही आता हो वैसे शॉवर, फ्लश, गीझर आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। प्रत्येक अनाज, मिठाई, हर प्रकार की सब्ज़ी, सुपारी, इलायची आदि मुखवास, पान, भाजी-फलों, फल आदि प्रत्येक चीजे परिमित, ताज़ी एवं त्रस जीवों की हिंसा न हो उस तरीके से सावधानी पूर्वक व्यवहार में लानी चाहिए। जयणा न पाल सकें ऐसी घंटी, मिक्श्चर, ग्राइण्डर, बाज़ारू आटे आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

द्वितीय व्रत

अवतरणिका :

अब द्वितीय व्रत का स्वरूप तथा उसके अतिचार बताते हैं -

गाथा :

बीए अणुव्वयम्मी, परिथूलग-अलिअवयण-विरईओ।
आयरियमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं ।।११।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

प्रमादप्रसङ्गेन अप्रशस्ते, अत्र द्वितीये अणुव्रते।
परिस्थूलक-अलीकवचनविरतितः अतिचरितम् ।।११।।

गाथार्थ :

प्रमाद के कारण अप्रशस्त भाव प्रवर्तते हुए दूसरे अणुव्रत में झूठ बोलने की विरति (का उल्लंघन करने) से इस व्रत विषयक (दिनभर में) जो कोई विपरीत आचरण हुआ हो (उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

विशेषार्थ :

बीए अणुव्वयम्मी, परिथूलग- अलिअवयण-विरईओ - दूसरे अणुव्रत में स्थूल झूठ बोलने की विरति (का उल्लंघन करने) से।

द्वितीय व्रत का स्वरूप :

सम्यक्त्वमूलक बारह व्रतों में द्वितीय व्रत **'स्थूलमृषावादविरमण व्रत'** है। **स्थूल**[1] अर्थात् बड़ा एवं **मृषावाद** का अर्थ झूठ बोलना है।

क्रोध से या लोभ से, भय से या हास्य से[2] अथवा किसी भी प्रकार के कषाय अथवा नोकषाय के वश होकर स्व-पर पीड़ाकारी झूठ बोलना तो असत्य है ही, परंतु ऐसे कषाय के अधीन होकर बोला हुआ सत्य वचन भी मृषावाद[3] है।

---

1. तत्र द्विविधो मृषावादः स्थूलः सूक्ष्मश्च। तत्र परिस्थूलवस्तुविषयोऽतिदुष्टविवक्षासमुद्भवः स्थूलः, विपरीतस्त्वितरः, न च तेनेह प्रयोजनम्, श्रावक-धर्माधिकारात् स्थूलस्य प्रक्रान्तत्वात्।

   असत्य वचन दो प्रकार का है : १. स्थूल असत्य और २. सूक्ष्म असत्य। उस में बड़ी बहुमूल्य वस्तुओं के प्रति बोला जानेवाला या जो बोलने से, बोलने वाले एवं अन्य को बहुत नुकसान हो, ऐसा असत्य वचन अति दुष्ट आशय से बोला जाता है। इसलिए उसे 'स्थूल असत्य' कहते हैं एवं इसके विपरीत मात्र हँसने के लिए या मजाक आदि के लिए झूठ बोले तो वह 'सूक्ष्म असत्य' है। - श्रा. ध. वि. प्र. गा ८९

2. **से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं वएज्जा** - पक्खिसूत्र

3. **अलियं न भासिअव्वं, अत्थि हु सच्चं पि जं न वत्तव्वं।**
   सच्चं पि तं न सच्चं, जं परपीडाकरं वयणं ।।१।।
   - श्री संबोध प्र. श्राद्धव्रताधि. गा. १६

   जिस प्रकार झूठ नहीं बोलना चाहिए, उसी प्रकार कभी-कभी सत्य भी बोलने योग्य नहीं होता, क्योंकि स्वरूप से सत्य होते हुए भी जो वचन दूसरों को पीड़ा दे वे सत्य नहीं होते।
   जेण भासिएण अप्पणो वा परस्स वा अतीववाघाओ अइसंकिलेसो वा जायते, तं अट्ठाए वा अणट्ठाए वा ण वएज्ज त्ति।। - आवश्यकचूर्णि पृ. २८५

   जो वचन बोलने से खुद को अथवा दूसरों को अतिशय व्याघात हो अथवा अत्यन्त संक्लेश का अनुभव हो, उन वचनों को सकारण या निष्कारण किसी भी प्रकार नहीं बोलने चाहिए।
   प्रियं पथ्यं वचस्तथ्यं सूनृतव्रतमुच्यते।
   तत् तथ्यमपि नो तथ्यमप्रियं चाऽहितं च यत् ।।१-२१।। - योगशास्त्र

   प्रिय, पथ्य एवं तथ्य वचनों को सुनृत (सत्य) व्रत कहते हैं। जो अप्रिय या अहितकर हो वह तथ्य (सत्य) भी तथ्य (सत्य) ही नहीं।

यह व्रत प्रथम व्रत की बाड़ जैसा है। बाड़ से जैसे धान्य की रक्षा होती है, वैसे ही झूठ न बोलने से अपने तथा अन्य के द्रव्य या भाव प्राणों की सुरक्षा होती है और झूठ बोलने से अन्य को तो पीड़ा होती ही है, साथ में खुद को भी पीड़ा होती है, क्योंकि झूठ बोलने वाला स्वयं भी निर्भय और निश्चिंत नहीं रह पाता।

व्रतधारी की भाषा :

असत्य का ऐसा स्वरूप होने से 'सर्वथा मृषावादविरमण' व्रत को स्वीकारने वाले श्रमण-श्रमणी भगवंत अनावश्यक एक शब्द भी नहीं बोलते। ज़रूरत हो तब भी मुनि भगवंत भगवान की आज्ञा का विचार करके, 'हित'[4] अर्थात् अपना एवं अन्य का भला हो ऐसी, 'मित' अर्थात् कम से कम शब्दों में भाव व्यक्त हो जाए ऐसी और 'मधुर' अर्थात् सुनते ही जो सामने वाले व्यक्ति को अच्छी लगे ऐसी मीठी एवं उत्तम पुरुषों को शोभा दे ऐसी भाषा का बहुत सोच-समझपूर्वक प्रयोग करते हैं। इस प्रकार बोलते हुए भी कहीं मानादि कषाय के भाव का स्पर्श न हो जाए इसका पूरा ख्याल रखते हैं। इसके अतिरिक्त जिस बात का पूर्ण बोध हो वह बात भी 'पूर्वापर' का अर्थात् आगे पीछे का विचार करके, उसमें कोई शंका न रहे, उस तरीके से व्यक्त करते हैं।

श्रावक को इस प्रकार की उत्तम भाषा का ज्ञान होता है और वैसी भाषा के प्रति उसे आदर एवं बहुमान भी होता है, इसलिए उसकी भी दिली तमन्ना होती है कि 'मैं जो कुछ भी बोलूँ वह मेरे और अन्य सबके हित के लिए ही हो।' वाणी विषयक ऐसी उत्तम भावना होते हुए भी संसार में इस प्रकार की वाणी का व्यवहार करने से श्रावक को व्यवसाय आदि अनेक कार्यों में बाधा पहुँच सकती है और उसका ऐसा सत्त्व भी नहीं होता कि अपना संसार छोड़कर मुनि जैसी ही भाषा बोलने की प्रतिज्ञा कर सके, इसलिए सर्वथा मृषावाद विरमणव्रत को लक्ष्य बनाकर, उसके योग्य सत्त्व प्रकट करने के लिए श्रावक स्थूल मृषावाद विरमण व्रत स्वीकार करता है।

---

4. हित मित मधुर अतुच्छता, गर्वरहित मित वाच;
पूर्वापर अविरोधी पद, वाणी वदे मुनि साच - पद्मविजयकृत भाषासमिति की सज्झाय
महुरं निउणं थोवं, कज्जावडियं अगव्वियमतुच्छं
पुव्विं मइसंकलियं, भणंति जं धम्मसंजुत्तं ।।८०।। - उपदेशमाला
मधुर, निपुण, अल्प, कार्य के लिए ज़रूरी हो उतना याने प्रमाणोपेत्त, गर्वरहित सभ्य एवं बोलने से पहले संकलित किए हों ऐसे धर्मयुक्त वचन ही मुनि उच्चारते हैं।

द्वितीय व्रत की प्रतिज्ञा :

इस व्रत का स्वीकार करता हुआ श्रावक ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि **'मुझे किसी भी जीव को बचाने के अलावा, पेट में पाप रखकर, जिससे अत्यंत संक्लेश हो, किसी का जीवन जोखिम में आ जाए, किसी का विश्वास भंग हो ऐसा बडा झूठ नहीं बोलना है।'**

जिज्ञासा : 'सत्य ही बोलना' - ऐसी प्रतिज्ञा न करते हुए 'मुझे झूठ नहीं बोलना' ऐसी प्रतिज्ञा करने के पीछे क्या कारण हैं ?

उत्तर : सत्य कभी कड़वा एवं किसी जीव का अहित करनेवाला भी हो सकता है। जैसे कि जब शिकारी पूछता है 'प्राणी किस ओर गया ?' तब उसके प्रश्न का यदि सही उत्तर दे तो प्राणी का जीवन खतरे में पड़ जाए। अत: ऐसे अवसर पर सत्य न बोलते हुए मौन रखना ही योग्य है। इसलिए 'सत्य ही बोलना' ऐसी प्रतिज्ञा न करते हुए दीर्घदर्शी महापुरुषों ने 'असत्य नहीं बोलना' ऐसी प्रतिज्ञा बताई हैं।

बड़ा झूठ :

'बड़ा झूठ नहीं बोलना' ऐसी श्रावक की प्रतिज्ञा विषयक जो पाँच बड़े झूठ माने गए हैं, उनको शास्त्रों में इस प्रकार से बताया गया है : १. कन्यालीक, २. गवालिक, ३. भूम्यलिक, ४. न्यासापहार एवं ५. कूटसाक्षी।

१. कन्यालीक : कन्या संबंधी झूठ बोलना।

अपनी या अन्य की कन्या संबंधी लेन-देन का प्रसंग आने पर श्रावक को तटस्थ रहना चाहिए। कन्या जैसी है वैसा ही उसका निरूपण करना चाहिए, जिससे बाद में किसी को पश्चात्ताप का या वैर होने का प्रसंग न आए। ऐसा होने पर भी राग के अधीन होकर कन्या के लेन-देन में, अयुक्त (नठारी), गुणहीन या कलंकित कन्या हो तो भी उसको अच्छी, गुणवान या लक्षणवंती कहना और द्वेष के अधीन होकर भली, गुणवत्ता, लक्षणवंती कन्या को खराब, गुणहीन, लक्षणहीन कहकर किसी के साथ किसी का संबंध जोड़ देना या होते हुए संबंध को रोक देना, यह बड़ा झूठ हैं। इससे कई लोगों का जीवन बिगड़ जाता है, इसलिए ऐसा झूठ

किसी भी श्रावक को कभी भी नहीं बोलना चाहिए। कन्या के उपलक्षण से वर संबंधी या अन्य किसी भी द्विपद संबंधी भी ऐसा झूठ नहीं बोलना चाहिए।

२. गवालीक : गाय संबंधी झूठ नहीं बोलना।

गाय के लेन-देन के अवसर पर, अपने स्वार्थ के लिए कम दूध देने वाली गाय को बहुत दूध देने वाली एवं बहुत दूध देने वाली गाय को कम दूध देने वाली कहना इत्यादि चतुष्पद संबंधी तमाम प्रकार का असत्य बोलना, वह दूसरा बड़ा झूठ है, जिसे श्रावक को नहीं बोलना चाहिए।

३. भूम्यलिक : भूमि संबंधी झूठ।

स्वार्थ या लोभ के वश होकर अन्य की जगह को अपनी कहना एवं अपनी जगह को अन्य की कहना, उपजाऊ भूमि को बंजर कहना आदि भूमि संबंधी झूठ बोलना तीसरा बड़ा झूठ है।

इन तीनों झूठ के उपलक्षण से द्विपद (मनुष्य अर्थात् नौकर, चाकर आदि कोई भी मनुष्य या पक्षी आदि) संबंधी, चतुष्पद संबंधी एवं अपद (जर, जमीन, अलंकार संबंधी) झूठ नहीं बोलना ऐसी प्रतिज्ञा होती है।

जिज्ञासा : यदि कन्या आदि शब्द से द्विपद, चतुष्पद एवं अपद समझना हो तो दुनिया के लगभग सभी पदार्थों का इसमें समावेश हो जाता है, फिर शास्त्रों में इन तीन शब्दों का ही प्रयोग क्यों किया हैं ?

तृप्ति : साधारणतः तो द्विपद, चतुष्पद एवं अपद में दुनिया के लगभग सभी पदार्थों का समावेश हो जाता हैं। इसलिए मुमकिन हो तो श्रावक को किसी भी वस्तु विषयक झूठ नहीं बोलना चाहिए; तो भी कन्या, गाय या ज़मीन संबंधी बोला गया झूठ लोक में भी अति गर्हणीय है, निन्दा और विशेष अप्रीति का कारण है, इसलिए श्रावक को ऐसा झूठ तो नहीं ही बोलना चाहिए। ऐसा बताने के लिए टीकाकार ने इन तीन शब्दों का प्रयोग किया होगा, ऐसा लगता है।

४. न्यासापहार : 'न्यास' अर्थात् अमानत, उसका 'अपहार' करना अर्थात् उसका हरण करना।

किसी ने हमें संभालने के लिए दी हो ऐसी वस्तु को अमानत कहते हैं। उसको अपनी मानकर रख लेना एवं अमानत रखने वाले को कहना कि 'तुमने मुझे कोई

भी वस्तु रखने के लिए दी ही नहीं, अथवा मैंने तुझे वापिस दे दी थी, उसके बारे में मैं कुछ भी नहीं जानता, तू झूठ बोल रहा है'। इसे चौथा बड़ा झूठ कहते हैं। इससे सामने वाले व्यक्ति को अत्यंत दु:ख होता है। अकल्पनीय आघात लगता है एवं बहुत बार तो ऐसे आघात से उनकी मृत्यु होने की संभावना रहती है।

५. कूटसाक्षी : किसी की गलत साक्षी देना।

सम्पत्ति या सत्ता की लालच से, किसी के दबाव से या शर्म से, या रिश्वत मिलने से कोर्ट-कचहरी में या पंच के आगे किसी की झूठी साक्षी देना महा अनर्थ का मूल है। यह पाँचवाँ बड़ा झूठ है।

ये पाँचों असत्य क्लिष्ट आशय से बोले जाने के कारण इन्हें स्थूल असत्य कहते हैं। द्वितीय व्रतधारी श्रावक इन पाँच झूठ का त्याग करता हैं।

आयरियमप्पसत्थे इत्थ पमायप्पसंगेणं[5] - प्रमाद के कारण, अप्रशस्त भाव प्रवर्तते हुए इस व्रत विषयक (दिन भर में जो कोई) विपरीत आचरण किया हो (उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

आत्मा का अहित करे, व्रत की मर्यादा का भान भूला दे, ऐसे काषायिक भाव को अप्रशस्त भाव कहते हैं। वैसे तो व्रतधारी श्रावक ऐसे भाव अपने मन में न प्रकटे इसकी सावधानी रखता हैं, तो भी प्रमादवश असावधानी से मन में अप्रशस्त भाव पैदा हो जाते हैं और उनसे व्रत की मर्यादा भंग हो जाती है। ऐसा न हो इसलिए श्रावक को असत्य वचन के निम्नांकित कटु परिणामों का विचार करके मन को खूब तैयार करना चाहिए।

असत्य से नुकसान :

असत्य बोलने से भविष्य में गूंगापन, तोतलापन, जीह्वाछेद, अप्रियवादिता आदि हानि होती है। वर्तमान में झूठ बोलने वाला अन्य के अविश्वास का कारण बनता है और एक झूठ सौ झूठ बोलने के लिए मजबूर करता है। असत्यवादी निर्भय नहीं रह सकता। उसको भय बहुत सताता है। असत्य भाषा के ऐसे कटु फल को लक्ष्य में रखकर व्रतधारी श्रावक को कभी भी असत्य बोलना न पड़े इसके लिए खूब सजग एवं सावधान रहना चाहिए।

---

5. इस पद का विशेष वर्णन गाथा नं. ९ में देखिए।

अवतरणिका :

अब द्वितीय व्रत की मर्यादा का किस प्रकार उल्लंघन हो सकता है, वह सूचित करने के लिए द्वितीय व्रत के अतिचार बताते हैं -

गाथा :

सहसा-रहस्सदारे, मोसुवएसे अ कूडलेहे अ।
बीयवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।१२ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

सहसा-रहः-स्वदारेषु, मृषोपदेशे च कूटलेखे च।
द्वितीयव्रतस्य अतिचारान् दैवसिकं सर्वम् प्रतिक्रामामि ।।१२ ।।

गाथार्थ :

१. सहसा कथन करना २. रहस्य को प्रकट करना ३. स्वदारामंत्रभेद, ४. मृषा उपदेश एवं ५. कूटलेख ऐसे दूसरे व्रत के पाँच अतिचारों का दिन भर में जो आसेवन हुआ हो उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

व्रतधारी श्रावक असत्य के कटु फलों के बारे में सोचकर मन को ऐसा तैयार कर लेता है कि प्राय: उससे असत्य बोला ही ना जाए, तो भी प्रमाद के कारण अप्रशस्त कषायों के अधीन होकर अथवा अनाभोगादि से कभी किसी को आघात-उपघात हो ऐसे वचन बोलने में आए तो व्रत में अनेक प्रकार की मलिनता पैदा होती हैं। व्रत को मलिन करने वाले अनेक प्रकार के दोषों का संक्षेप करके, सामान्य से, इस गाथा में पाँच अतिचार बताए हैं।

सहसा[1] - सहसा अभ्याख्यान, बिना सोचे समझे एकाएक बोलना।

दूसरे व्रतधारी श्रावक को किसी के विषय में किसी भी प्रकार का अभिप्राय/

---

1. **सूचनात् सूत्रम्- अल्पाक्षरं बहव: अर्थप्रतिपादकं सूत्रम् -** 'मात्र सूचना देने वाला होता है वह सूत्र कहलता है। इस अर्थ से गाथा में **सहसा** शब्द से **सहसाभ्याख्यान, रह:** शब्द से रहोभ्याख्यान, **स्वदारा** शब्द से स्वदारा मंत्र भेद समझना है।

मंतव्य देने से पहेले या किसी बात का निरूपण करने से पहले उस विषय की तमाम आवश्यक जानकारी लेनी चाहिए, गंभीर चिंतन करना चाहिए, उसके बाद जो जैसा है वैसा यथार्थ कहना चाहिए। बिना सोचे-समझे किसी भी वस्तु विषयक या व्यक्ति विषयक 'यह ठीक है या खराब है' ऐसा किसी भी प्रकार का अभिप्राय नहीं देना चाहिए, क्योंकि बिना सोचे, एकाएक अभिप्राय देने से स्वीकार किया हुआ व्रत दूषित होने की संभावना है। यह व्रत विषयक प्रथम अतिचार है।

रहस् - रहस्य अभ्याख्यान, किसी की गुप्त बात प्रकट करना।

रहस् अर्थात् एकांत। एकांत में या गुप्त रीति से किसी के साथ कोई बात हुई हो, या किसी की एकांत में हुई बात सुनी हो, तो उसको कभी भी प्रकट नहीं करना चाहिए, अथवा किसी को गुप्त बात करते हुए देखने पर 'ये ज़रूर इसके बारे में ही बात करते होंगे या कोई षड्यंत्र रचते होंगे,' ऐसा अनुमान करके एक दूसरे को कहना, यह दूसरे व्रत का दूसरा अतिचार हैं। आँखों से देखा हुआ और कान से सुना हुआ भी कभी गलत हो सकता है, तो अनुमान से निश्चय किया गया सत्य ही है ऐसा कैसे कह सकते हैं ? इस कारण झूठ नहीं बोलने की प्रतिज्ञा वाले श्रावक बिना सोचे ऐसी एकांत में हुई बात का अनुमान करके कभी नहीं बोलते ओर यदि बोलें तो वह अतिचार हैं।

सदारे - स्वदारामंत्रभेद, अपनी पत्नी की गुप्त बात प्रकट करना।

अत्यंत प्रीति के कारण पत्नी ने अपने पति से या पति ने अपनी पत्नी से अपने जीवन की अत्यंत गुप्त बात कही हो तो दोनों को परस्पर इस बात को गुप्त ही रखनी चाहिए, सबके सामने उस बात को कभी भी प्रकट नहीं करनी चाहिए। इसी प्रकार अपने मित्र से की हुई गुप्त बात को भी सबके सामने प्रकट नहीं करनी चाहिए। गुप्त बात को प्रकट करने में तीसरा अतिचार लगता है।

आपस में प्रेम और विश्वास जब तक टिका हुआ है, तब तक ऐसा होने की संभावना कम होती है, परंतु संसार के स्नेह-संबंध स्वार्थी होते हैं। जब परस्पर एक-दूसरे की स्वार्थपूर्ति नहीं होती तब यह संबंध टूटते हैं और दोनों के बीच अप्रीति, अविश्वास और शंका उत्पन्न होती हैं। फिर तो स्नेह और राग का स्थान रोष ले लेता है। एसे समय में कषायाधीन श्रावक में भी भूतकाल में की हुई गुप्त

बातों को सबके सामने कहकर दूसरे को गिराने, हलका दिखाने आदि की हीन एवं पाशवी वृत्ति पैदा हो सकती हैं। कषायग्रस्त इस अवस्था में श्रावक भी ऐसा बोलने से सामने वाले व्यक्ति की क्या हालत होगी, इसका जरा भी विचार किए बिना गुप्त बात प्रकट करने की भूल कर सकता है। ऐसा करने से विश्वासघात होता है। सामने वाले व्यक्ति को अत्यंत दुःख होता है। कभी-कभी तो किसी व्यक्ति की अकाल मृत्यु भी हो जाती है। इसलिए श्रावक को सजग रहकर ऐसा कभी भी नहीं करना चाहिए ।

मोसुवएसे अ - और मृषा उपदेश - गलत उपदेश देना।

मृषा उपदेश देना अर्थात् गलत उपदेश देना। जैसे कि किसी को अहितकारी या गलत सलाह देना कि 'किसी का गलत सहन नहीं करना। एक बार तो स्पष्ट सुना ही देना जिससे बार-बार सुनना ना पड़े' - ऐसा उपदेश संक्लेश की वृद्धि के साथ दोषों का पोषक भी बनता है। इसलिए ऐसी सलाह को 'मृषा उपदेश' कहते हैं। मंत्र-तंत्र अथवा औषधि के बारे में खुद को कोई भी जानकारी न होने पर भी दूसरों को वह सिद्ध करने के उपाय बताना अथवा जिसमें हिंसा की बात हो ऐसे शास्त्रों को पढ़ाना आदि भी 'मृषा उपदेश' नामक चौथा अतिचार है।

गलत सलाह देना यह जैसे मृषा उपदेश कहलाता है, उसी प्रकार गलत तरीके से उपदेश देना भी मृषा उपदेश कहलाता है। जैसे कि सामने वाले व्यक्ति की योग्यता, उसका संयोग, उसकी भूमिका आदि का विचार किए बिना उससे दान-शील-तपादि धर्म की सूक्ष्म बातें करना, अनधिकारी व्यक्ति के सामने शास्त्र का रहस्य प्रकट करना इत्यादि। ऐसा उपदेश अच्छा होते हुए भी परिणाम नुकसानदायक होने से मृषा उपदेश कहलाता है।

इस प्रकार के सब कथनों में प्रत्यक्ष मृषावाद नहीं होता, तो भी 'स्व-पर के द्रव्य-भाव हिंसा से दूर रहने का इस दूसरे व्रत का जो मूल हेतु है वह तो ऐसे कथनों से नष्ट ही होता है। यद्यपि सापेक्षता से ऐसे उपदेश से व्रत नष्ट नहीं होता, फिर भी व्रत में मलिनता तो आती ही है, इसलिए इसको अतिचार कहते हैं।

कूडलेहे अ - कूट लेख, झूठे दस्तावेज तैयार करना।

ग्राहक को, समाज को या सरकार को ठगने के लिए करचोरी करनी, सम्पत्ति बचाने के लिए या अन्य किसी तरीके से फायदा उठाने के लिए झूठे लेख

लिखवाना, झूठे हिसाब-किताब लिखना, बेईमानी करना; मुद्दा, मोहर, अक्षर बदल देना इत्यादि 'कूट लेख' नामक पाँचवाँ अतिचार है।

आम तरीके से समझ में आता ही है कि झूठ नहीं बोलना तो लिख कैसे सकते हैं ? परंतु लोभादि कषाय के अधीन हुआ श्रावक सोचता है कि, 'मैंने झूठ नहीं बोलने का व्रत लिया है, झूठ नहीं लिखने का व्रत नहीं लिया'। ऐसा मानकर अगर वह गलत लिखता है तो उसकी व्रत पालन की इच्छा होने से उसका व्रत भंग नहीं होता पर ऐसी प्रवृत्ति उसके व्रत को मलिन तो करती ही है, इसलिए उसको अतिचार कहा है।

यहाँ इतना ज़रूर खयाल रखना है कि इन पाँचों अतिचारों का जो इरादेपूर्वक सेवन करता है, उसका तो व्रत भंग[2] ही होता है, परंतु जो अपने व्रत का स्वरूप जानता हो एवं अपनी मति से उसे ऐसा लगे कि इस क्रिया से मेरा व्रत भंग नहीं होगा और उस वक्त उसे वह क्रिया करनी ही पड़े, तो व्रत सापेक्ष भाव होने से उसका व्रत भंग नहीं होता, पर उस में अतिचार लगने से व्रत मालिन्य तो होता ही है। मुझे यह कार्य अभी करना ज़रूरी है । इसलिए व्रत सापेक्ष भाव से शायद इन दोषों का सेवन हो तो ही ये अतिचार की श्रेणी में आ सकते हैं।

बीयवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं - दूसरे व्रत संबंधी दिनभर में लगे सर्व अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

'दिनभर में दूसरे व्रत संबंधी छोटे बड़े किसी भी अतिचार का मुझ से सेवन हुआ हो तो उन सब अतिचारों को याद करके उनकी आलोचना, निन्दा एवं गर्हा करता हूँ और पुनः इन दोषों का सेवन न हो इसके लिए जागृत रहता हूँ' । ऐसा विचार करके श्रावक ऊपर बताए हुए सब अतिचारों का प्रतिक्रमण करता है।

---

2. **सहसब्भक्खाणाई जाणंतो जइ करिज्ज तो भंगो**
जइ पुणऽणाभोगाईहिंतो तो होई अइयारु त्ति ।।१।।

-हितोपदेशमाला गाथा. ४१७ वृत्तौ

सहसा अभ्याख्यान आदि को अतिचार जानकर भी यदि आचरण करे तो व्रत भंग ही है और यदि अनाभोग से आचरण करे तो अतिचार है।

इन दोनों गाथाओं का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

"'सत्य' आत्मा का स्वभाव है, तो भी मृषावाद का सर्वथा त्याग करके इस व्रत का पूर्ण पालन करना तो मेरे लिए संभव नहीं है। ऐसा होते हुए भी भव समुद्र से पार उतरने के लिए डूबता व्यक्ति जैसे तरापा या फली का सहारा लेता है, वैसे ही 'बड़ा झूठ नहीं बोलना', ऐसा व्रत मैंने स्वीकार किया है। इस व्रत को स्वीकार करके उसका विशुद्ध पालन करने के लिए मैंने किंचित् प्रयत्न किया है। ऐसा होते हुए भी अधीर स्वभाव से, वाचालता से अथवा कषाय की पराधीनता से दिनभर में व्रत मर्यादा का विस्मरण होने से या व्रत की मर्यादा यथोचित न समझने से जो कोई वाणी का अनुचित व्यवहार हुआ है, वह निश्चय ही गलत हुआ हैं। इससे मैंने मेरी आत्मा को कर्म एवं कुसंस्कारों से बाँधी है। ऐसी भूल पुनः न हो। इसके लिए सब भूलों को याद करके आत्मसाक्षी से उनकी निन्दा करता हूँ। गुरू समक्ष उनकी गर्हा करता हूँ और असत्य के इस पाप से मेरी आत्मा को वापस मोड़ता हूँ। पुनः ऐसा न हो इसके प्रति सावधान रहता हूँ।

धन्य है हरिश्चन्द्र एवं तारामती जैसे श्रावक-श्राविका को! जिन्होंने चंडाल के घर पानी भरने जैसे निम्न कोटि के कार्य को स्वीकार किया परंतु असत्य वचन तो न ही बोला। धन्य है सुदर्शन श्रेष्ठी को! जो सूली पर चढ़ने को तैयार हुए परंतु परपीडाकारी सत्यवचन भी नहीं ही बोला...। ऐसे महापुरुषों के चरणों में मैं वंदन करता हूँ एवं ऐसा सत्त्व मुझमें भी प्रकटे ऐसी प्रार्थना करके पुनः व्रत में स्थिर होता हूँ।"

चित्तवृत्ति का संस्करण :

दृढ़ता से व्रत का पालन करने के लिए इस गाथा में बताए हुए अतिचारों के प्रति सावधानी रखने के उपरांत भी पुनः झूठ बोलने में ना आए इसलिए श्रावक को निम्न विषयों पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

- अनावश्यक कुछ भी ना बोले और यदि बोलना पड़े तो भी बहुत सोच करके गंभीरतापूर्वक कम से कम बोले।
- झूठ तो बोलना ही नहीं है, परंतु सत्य भी यदि स्व-पर अहितकारक हो तो उसे भी नहीं बोलना।

- जब भी क्रोधादि कषायों की मात्रा अधिक प्रमाण में हो तब मौन धारण कर लेना।
- स्व-प्रशंसा एवं पर-निन्दा से दूर रहना।
- बोलने से पहले सोचना कि मेरे बोलने से अन्य को शारीरिक या मानसिक आदि पीड़ा तो नहीं सहनी पड़ेगी ?
- विकथा आदि से दूर रहना।
- पाँचों इन्द्रियों के बाह्य विषय तथा अन्य व्यक्ति संबंधी अपने मंतव्य देने में सावधानी रखना।
- कोई पूछे तो भी १) वैरभाव उत्पन्न करे, २) किसी की गुप्त बात प्रकट करे, ३) कठोर, ४) शंकास्पद, ५) हिंसात्मक एवं ६) निन्दा-चुगली जैसे वचन नहीं बोलना।

तृतीय व्रत

अवतरणिका :

अब तृतीय व्रत के स्वरूप तथा अतिचारों को बताते हैं -

गाथा :

तइए अणुव्वयम्मी, थूलग-परदव्वहरण-विरईओ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं।।१३।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

प्रमादप्रसङ्गेन अप्रशस्ते अत्र तृतीय-अणुव्रते।
स्थूलक-परद्रव्यहरण-विरतितः अतिचरितम्।।१३।।

गाथार्थ :

जब प्रमाद के वश होकर अप्रशस्त भाव प्रकट हुआ हो तब इस तीसरे अणुव्रत में अन्य की मालिकी के द्रव्य की स्थूल चोरी करने की विरति (का उल्लंघन करने) से दिनभर में जो कुछ विपरीत आचरण हुआ हो, (उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

विशेषार्थ :

तइए अणुव्वयम्मी, थूलग- परदव्वहरणविरईओ - तीसरे अणुव्रत में (दूसरे की मालिकी वाली वस्तु लेने स्वरूप) स्थूल चोरी करने की विरति (का उल्लंघन करने) से।

सम्यक्त्व मूलक बारह व्रतों में तीसरा व्रत **'स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत'** है। जिस प्रकार मृषाभाषा स्व-पर के लिए पीड़ाकारक होकर आत्मा के अहिंसक भावरूप मूल स्वभाव का नाश करती है, उसी तरह किसी की वस्तु छीन लेने से या चोरी करने से भी अपने एवं अन्य के द्रव्य-भाव प्राणों का विनाश होता हैं। इसलिए अहिंसक भावरूप अपने मूल स्वभाव को प्राप्त करने की इच्छावालें साधक को सर्वथा अदत्तादान विरमण व्रत का स्वीकार करना चाहिए।

तृतीय व्रत का स्वरूप :

अदत्त = नहीं दिया हुआ। **आदान** = ग्रहण करना। द्रव्य के मूल मालिक की अनुमति लिए बिना उसकी सम्पत्ति लेना या छीनकर उस वस्तु पर अपना अधिकार जताना, यह 'अदत्तादान' है। इस अदत्त का आदान चार प्रकार से होता है।

१) सोना, चांदी आदि वस्तुओं के जो मालिक हों, उनके दिए बिना सोना, चांदी, धन, संपत्ति आदि ले लेना, यह **'स्वामी अदत्त'** है।

२) जीव मात्र अपने शरीर का मालिक होता है। उस जीव की अनुमति बिना उसके शरीर का भोग करना, उसका नाश करना **'जीव अदत्त'** है।

३) परमात्मा को जीवन समर्पित करने के बाद, उनकी आज्ञा न हो ऐसा आधाकर्मी आदि दोष से दूषित आहार आदि लेना **'तीर्थंकर अदत्त'** है।

४) संयम जीवन स्वीकार कर, गुरू भगवंत के चरणों में मन-वचन-काया का सम्पूर्ण समर्पण करने के बाद, गुरू की आज्ञा विरुद्ध या आज्ञा बिना कार्य करना **'गुरू अदत्त'** है। ये चारों प्रकार के अदत्त आत्मा का अहित करते हैं। वे स्व-पर के प्राणों को हानि पहुँचाते हैं, इसलिए अदत्तादान से सर्वथा विरत बने हुए साधु इन चारों में से एक भी प्रकार के अदत्त को ग्रहण नहीं करते।

व्यवहारनय से इन चारों प्रकार का अदत्त ग्रहण न करना अदत्तादान विरमण व्रत है। जब कि निश्चयनय से सोचा जाए तो किसी भी परभाव को ग्रहण करना अदत्तादान ही है, क्योंकि आत्मा अपने भाव की मालिकी रखती है। आत्मा से अतिरिक्त सर्व भाव आत्मा के लिए पराये हैं, परभाव हैं। पराये भाव को आत्मा स्वीकारती नहीं या किसी को दे भी नहीं सकती, इसलिए निश्चय नय से परभाव का स्वीकार मात्र भी अदत्तादान माना जाता है। निश्चय नय की इस दृष्टि को लक्ष्य में रखकर हरेक साधक को आत्मा के लिए अनुपयोगी हो ऐसे भाव एवं ऐसे पुद्गलों का त्याग कर देना चाहिए तथा वर्तमानकाल में आत्महित के लिए जिन द्रव्यों की आवश्यकता हो उन्हें भी देव गुरु की आज्ञानुसार ही उपयोग में लेना चाहिए। ऐसा करने से ही इस व्रत का विशुद्ध पालन हो पाता है।

श्रमण भगवंत इस बात को लक्ष्य में लेकर चारों प्रकार के अदत्त का त्याग करके इस व्रत का अखंड पालन कर सकते हैं, पर श्रावक में ऐसा सत्त्व नहीं होता कि इन चारों प्रकार के अदत्तों का त्याग कर सके तो भी इस प्रकार का त्याग करने के सामर्थ्य को प्रकट करने के लिए इन चारों प्रकार के अदत्तों में से वह मात्र स्वामी अदत्त की प्रतिज्ञा करता है।

यह स्वामी अदत्त भी स्थूल एवं सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है। उसमें स्थूल से 'स्वामी अदत्त'[1] उसे कहते है कि जिस में वस्तु को लेने से 'यह चोर है' ऐसा व्यवहार होता है। जैसे कि किसी का धन आदि छीन लेना, किसी के घर, दुकान या होटल आदि स्थल से कुछ भी वस्तु उठा लेना, विश्वासघात करना आदि। सूक्ष्म से स्वामी अदत्त उसे कहते हैं कि, जिस में अदत्तको ग्रहण करने से समाज

---

1. **अदत्तस्य तत्स्वामिनाऽननुज्ञातस्य वस्तुनः समादानमदत्तादानम् तच्चस्थूल-सूक्ष्मभेदाद् द्विविधम्। तत्र वृक्षाद्यधिपतिमननुज्ञाप्य तच्छायाद्यवस्थानमपि सूक्ष्ममदत्तम्। एतश्च प्रायः सर्वविरतिविषयम्। स्थूलं तु सन्धिदानाद्यन्यद् वा यतश्चौरङ्कारनृपनिग्रहादयः प्रवर्तन्त इति॥४१८॥** - हितोपदेश

उसके स्वामी की अनुज्ञा बिना नहीं दी हुई वस्तु का ग्रहण अदत्तादान है। यह अदत्तादान स्थूल एवं सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है। जिसमें वृक्ष के मालिक की अनुज्ञा लिए बिना उसकी छाया में रहना भी सूक्ष्म अदत्तादान हैं। यह प्रायः सर्वविरति का विषय है, एवं स्थूल अदत्तादान अर्थात् सेंध लगाना आदि जिसके कारण चोर की तरह राजा का दंड आदि मिलता है।

'चोरी' का आरोप नहीं लगाता, वैसी लावारिस याने बिना मालिक की वस्तु या संपत्ति अथवा रास्ते में पड़ी हुई, अनायास प्राप्त हुई, कोई मामूली चीज़, वस्तु आदि बिना अधिकार के ले लेनी।

आयरिअमप्पसत्थे इत्थ पमायप्पसंगेणं - प्रमाद के कारण अप्रशस्त भाव का प्रवर्तन होते हुए यहाँ तृतीय व्रत में, जो कोई विपरीत आचरण किया हो (उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

इस व्रत को स्वीकार करने के बाद श्रावक को अत्यंत सावधान रहना चाहिए। अगर सावधानी नहीं रही तो, अकार्य करवाए ऐसे लोभादि कषायों से मन ग्रस्त हो जाता है और फलतः व्रत दूषित हो ऐसा आचरण हो जाता हैं। श्रावक को ऐसे अप्रशस्त भाव से बचने के लिए चोरी नहीं करने के लाभ एवं चोरी करने से इस भव एवं परभव में होने वाले कटु विपाकों का विचार करके, मन को ऐसा तैयार करना चाहिए कि जिससे कभी भी चोरी करने की वृत्ति ही पैदा न हो।

इस व्रत के पालन से सर्वत्र यश प्रवर्तता है। लोग ऐसे व्रतधारी व्यक्ति पर विश्वास रखते हैं जिससे वह स्वयं भी निर्भय रह पाता है और दूसरों को भी उससे भय नहीं होता। उसका धन, न्याय से कमाया होने के कारण कभी भी नाश नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस व्रत के पालन से ऐसा पुण्य बंध होता है कि भवांतर में स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति होती है और मनुष्य भव में वह व्यक्ति अनेक गाँव, नगर, शहर का स्वामी या चिरंजीवी राजा बनता है।

इसके बजाय इस व्रत को नहीं लेने से, लेने के बाद नहीं पालने से या अतिचारों के सेवन से, इस भव में अनेक मनुष्यों की तरफ से निन्दा, धिक्कार-तिरस्कार, पराभव या देश निकाला एवं फांसी आदि की सजा होती है तथा परभव में नरक, वहाँ से निकलने के बाद मनुष्य हो तो भी मच्छीमार आदि नीच कुल में जन्म लेना, द्ररिद्र, हीन-अंगी, बधिर, अंधा होना तथा तिर्यंच योनि में अनेक दुःखों से दुःखी होना पड़ता है। इसलिए व्रत पालन एवं व्रत न पालने के परिणामों को सोचकर अचौर्य व्रत में दोष न लगे उसका ख्याल रखना चाहिए।

अवतरणिका :

अब प्रमाद के वश होकर जब अप्रशस्त भाव का प्रवर्तन हो तब तीसरे व्रत को मलिन करे, ऐसी कौन सी प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं, उसको सूचित करने वाले पाँच अतिचारों की जानकारी इस गाथा में देते हैं।

गाथा :

तेनाहड-प्पओगे, तप्पडिरूवे विरूद्धगमणे अ।
कूडतुल-कूडमाणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।१४ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

स्तेनाहृत-प्रयोगे, तत्प्रतिरूपे विरुद्धगमने च।
कूटतुला-कूटमाने, दैवसिकं सर्वं प्रतिक्रामामि।।१४।।

गाथार्थ :

१) चोरी करके लाई हुई वस्तु का स्वीकार करना, २) चोर को चोरी के लिए प्रेरणा देना, ३) मूल्यवान वस्तु में अल्प मूल्यवान वस्तु मिलाना, ४) राज्य विरूद्ध काम करना एवं ५) गलत तौल और माप से लेना-देना। तीसरे व्रत के इन पाँच अतिचारों में से दिन भर में जो कोई भी अतिचार लगे हों उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

इस व्रत को स्वीकार करने वाले श्रावक ने चोरी की भयंकरता का विचार करके अपना मन ऐसा तैयार किया होता है कि प्राय: जो चीज अपनी ना हो उस पर अपनी नजर पड़े ही नहीं। ऐसा होते हुए भी प्रमाद में पड़ा हुआ श्रावक कभी लोभ के अधीन हो जाए तब उससे सीधे तरीके से नहीं परंतु तोड़मोड़कर चोरी जैसा व्रत को दूषित करने वाला कार्य हो जाता है। ऐसा कार्य सामान्यतया इन पाँच प्रकार से होता है :

तेनाहड-प्पओगे-चोरी की हुई वस्तु का स्वीकार करना या चोर को प्रेरणा देना।

तेनाहड=स्तेनाहृत - स्तेन = चोर, **आहृत**-लाया हुआ। चोरी की हुई वस्तु को ग्रहण करना।

चोरी किया हुआ सोना, चांदी या अन्य मूल्यवान चीजें, वस्तुओं को पकड़े जाने के डर से चोर अत्यंत कम कींमत में बेच देता है। इस स्थिति में कोई भी श्रावक लोभवश इन चीज-वस्तुओं को खरीद ले[1] तो उसे इस व्रत विषयक प्रथम अतिचार लगता है।

तेन-पओगे=स्तेन प्रयोग[2] - स्तेन = चोर। **प्रयोग** = प्रेरणा, उत्तेजना।

चोर को चोरी करने की प्रेरणा देना स्तेन प्रयोग है। चोर के साथ लेने-देने का व्यवहार रखना, चोरी करने के बाद उसकी प्रशंसा करना, चोरी के लिए ज़रूरी उपकरण देना, रहने के लिए आश्रय देना, अन्न-पानी देना आदि द्वारा चोर को चोरी करने की प्रेरणा देना, यह दूसरा अतिचार है।

'मुझे चोरी नहीं करनी', इस प्रकार के व्रत धारक श्रावक को चोरी की वस्तु लेना या सीधे या उल्टे तरीके से चोर का उत्साह बढ़े ऐसा कुछ भी करना, यह सब परमार्थ से आंशिक व्रतभंग स्वरूप होने से अतिचार रूप है।

तप्पडिरूवे - अच्छे माल में खराब या नकली माल की मिलावट करना।

असली के समान दिखाई देती हुई नकली वस्तु को असली कहकर बेचना, जैसे कि वेजीटेबल घी को 'यह शुद्ध घी है' ऐसा कहकर शुद्ध घी के भाव से बेचना। तांबा-पित्तल मिश्रित सोने को 'यह शुद्ध सुवर्ण है' ऐसा कहकर शुद्ध सोने के भाव बेचना। इस तरीके से नकली वस्तु को असली वस्तु के भाव बेचना, यह

---

1. **चौरश्चोरापको मन्त्री भेदज्ञ: काणकक्रयी।**
   अन्नद: स्थानदश्चेति चौर: सप्तविध: स्मृत: ।।
   चोरी करने वाला, चोरी कराने वाला, चोरी की चर्चा, विचारणा (मंत्रणा) करने वाला, चोरी के भेद का जानकार, चोरी के माल का खरीददार, चोर को अन्न-पानी देने वाला, चोर को आश्रय देने वाला ऐसे चोर के सात प्रकार हैं। - श्री तत्त्वार्थसूत्रगम सूत्र अ.७ सूत्र २२
2. **(तेण) पप्ओगे** - चोर को चोरी करने की प्रेरणा देना।
   सूत्र में जब कि **'पओगे'** ही शब्द है, तो भी **'सूचनात् सूत्रम्'** इस कथन से **'पओगे'** शब्द से स्तेन प्रयोग शब्द का ग्रहण करना है।

'तत्प्रतिरूप' नामक तीसरा अतिचार गिना जाता है, क्योंकि इस तरीके से सामान्य व्यक्ति को ठगा जाता है। ऐसे अनैतिक मार्ग से कमाया हुआ धन चोरी का धन माना जाता है। ऐसा धन जीवन में दु:ख, अशांति, उद्वेग के साथ नैतिक अध:पतन के अलावा कुछ भी नहीं देता।

विरूद्धगमणे अ - राज्य विरूद्ध आचरण में।

स्वयं जिस राज्य या देश में रहते हो, उसके शत्रु राज्य में, अपने देश के राजा की आज्ञा बिना व्यापार के लिए जाना या राजा की आज्ञा या कानून का उल्लंघन करना या राज्य प्रतिबंधित वस्तुओं का व्यापार करना, राज्य द्वारा निर्देशित कर नहीं भरना वगैरह कार्य करने से राष्ट्र द्रोह होता है। राज्य संबंधी ऐसी चोरी इस व्रत विषयक चौथा अतिचार है।

कूडतुल-कूडमाणे - गलत तोल, गलत माप।

अनाज वगैरह का वजन जिससे करते है ऐसे किलो आदि के बाट को तोल कहते है एवं कपड़ा वगैरह जिससे मापे जाते हों उसे माप कहते हैं। व्यापार करते समय जो व्यक्ति तोल-माप के गलत साधन को रखता है, वस्तु लेने के समय ज्यादा ले ले और देने के समय कम दे, तो ऐसे प्रसंगो में पर वंचना (ठगाई) होती है और अन्य का अहित होता है। ऐसे साधनों का उपयोग कर अनधिकृत अधिक लेने से और कम देने से इस व्रत में अतिचार लगते हैं।

इन पाँचों अतिचारों के उपलक्षण से जिस किसी प्रवृत्ति के कारण अन्य का अहित होता है, अनधिकृत धन घर में आता है वैसी सर्व प्रवृत्तियों को अतिचार स्वरूप समझ लेना चाहिए क्योंकि ऐसी सर्व प्रवृत्तियाँ व्रत को दूषित करती हैं।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं - तीसरे व्रत के विषय में दिनभर में जो कोई भी अतिचार लगा हो उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

'तीसरे व्रत के विषय में बिना सोचे-समझे, मेरे द्वारा जो किसी अतिचार का आचरण हुआ हो तो उन सबसे मैं वापस लौटता हूँ, उनका प्रतिक्रमण करता हूँ। जिस लोभ वृत्ति के कारण ऐसे अतिचार का सेवन किया है उससे निवृत्त होने के लिए अंत:करणपूर्वक उसकी निन्दा एवं गर्हा करता हूँ एवं ऐसा ना हो जाए

उसके लिए जागृति रखने का संकल्प करता हूँ।' ऐसा सोचकर श्रावक तीसरे व्रत के सब अतिचारों का प्रतिक्रमण करता है।

इन दो गाथाओं का उच्चारण करते समय श्रावक सोचता है कि,

'अचौर्य यह आत्मा का स्वभाव है तो भी सर्वथा अदत्तादान विरमणरूप तृतीय महाव्रत का पालन करना मेरे लिए छोटी सी उँगुली से मेरू पर्वत उठाने जैसा अतिदुष्कर कार्य है, तो भी एक छोटी नाव से संसार सागर पार करने के समान 'बड़ी चोरी नहीं करना' ऐसा मैंने व्रत लिया है। उस व्रत का विशुद्ध पालन करने के लिए यथाशक्ति प्रयत्न भी किया है। तो भी प्रमाद से, लोभ से एवं व्रत के प्रति लापरवाही से, मुझ से व्रत को मलिन करने वाले, कर-चोरी जैसे कई कार्य हुए हैं। यह मैंने गलत किया है। इससे मैंने मेरी मुक्ति दूर की है। जीवन की शांति गँवाई है। मेरे यह भव एवं परभव दोनों बिगाड़े हैं। इसलिए मैं इन पापों एवं पाप करवानेवाली अंतरंग हीन वृत्तियों का तिरस्कार करता हूँ। गुरू भगवंतों के समक्ष गर्हा करता हूँ एवं ऐसे भावों से मेरी आत्मा को वापस लाता हूँ'।

जीवन में पुनः पुनः ऐसे दोषोंका आसेवन ना हो इसके लिए प्राण जाए तो भी इस व्रत का अखंड पालन करने वाले अंबड परिव्राजक[3] एवं उनके ७०० शिष्यों के चरणों में मस्तक झुकाकर प्रणाम करता हूँ। मुझ में भी व्रत पालन का ऐसा सत्त्व प्रकट हो, ऐसी अंतःकरण पूर्वक प्रार्थना करता हूँ।

चित्तवृत्ति का संस्करण :

इस गाथा में बताए हुए अतिचारों का पुनः कभी भी आसेवन ना हो वैसा चित्त तैयार करने के लिए निम्न विषयों का विशेषतः चिन्तन करना चाहिए।

- धंधे में, लेन-देन में व्यवहार शुद्ध रखना।
- बही-खाते शुद्ध रखना।

---

3. अंबड परिव्राजक एक बार अपने ७०० शिष्यों सहित जंगल से गुजर रहे थे। उस समय प्यास से सबके प्राण कंठ तक आ गए थे। तभी एक पानी से भरा तालाब दिखा। पानी सामने था परंतु पानी देने वाला कोई नहीं था। सबको अदत्त नहीं लेना, ऐसा व्रत था। प्रत्येक को प्राण जाए वह मंजूर था किन्तु प्रतिज्ञा तोड़ने की इच्छा नहीं थी। इसलिए सबने अनशन स्वीकार लिया, आयुष्य पूर्ण करके स्वर्ग सिधारे।

- लोभ से कर-चोरी करने का मन हो तब लोभ के कड़वे फल या चोरी का महापाप एवं उसके भयंकर परिणाम तथा सरकारी भय आदि का विचार करना। भौतिक साधनों से बड़प्पन नहीं है, परंतु उदारता आदि गुण समृद्धि से बड़प्पन है, ऐसा सोच कर अपनी कमाई के अनुसार ही खर्च करने का आग्रह रखना, जिससे अधिक कमाने की वृत्ति से चोरी करने की कामना ही ना हो।
- जीवन पद्धति ऐसी अपनानी चाहिए कि कम से कम वस्तुओं से जीवन निर्वाह हो जाए और अधिकतर सामग्री एकत्रित करने या उस के लिए चोरी करने का मन ही न हो।
- बचपन से ही जीवन में छोटी भी चोरी करने से रूकना एवं बच्चों को भी रोकना, क्योंकि ऐसे कुसंस्कार ही भविष्य में बड़ी चोरी करने की प्रेरणा देते हैं और उसका आत्मविश्वास भी पैदा करते हैं।
- चोरी करके अन्याय से या अनधिकृत तरीके से कमाया हुआ धन जीवन में शांति नहीं देता, परंतु मन सतत भय, चिन्ता या मलिन विचारों से घिरा रहता है।
- चोरी के कारण दूसरे अनेक पाप करने पड़ते हैं।

चतुर्थ व्रत

अवतरणिका :

अब चौथे व्रत का स्वरूप तथा अतिचार बताते हैं।

गाथा :

चउत्थे अणुव्वयम्मी, निच्चं परदार-गमण-विरईओ।
आयरिअमप्पसत्थे, इत्थ पमायप्पसंगेणं।।१५।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

प्रमादप्रसङ्गेन अप्रशस्ते अत्र चतुर्थे-अणुव्रते, ।
नित्यं परदार-गमन-विरतितः अतिचरितम्।।१५।।

गाथार्थ :

प्रमाद के कारण अप्रशस्त भाव का जब प्रवर्तन होता हो तब इस चतुर्थ अणुव्रत में परस्त्रीगमन से सदा के लिए की गई विरति (का उल्लंघन करने) से दिन भर में जो कोई विपरीत आचरण हुआ हो (उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

विशेषार्थ :

चउत्थे अणुव्वयम्मी, निच्चं परदार-गमण-विरईओ - चौथे अणुव्रत के विषय में सदा के लिए परस्त्रीगमन की विरति (का उल्लंघन करने) से।

सम्यक्त्व मूलक बारह व्रतों में चतुर्थ व्रत **'स्थूल मैथुन विरमण व्रत'** है। जैसे चोरी स्व-पर पीडाकारक होने से अहिंसक भाव स्वरूप आत्मा के मूल स्वभाव को नष्ट करती है, उसी तरह मैथुन क्रिया भी रागादि भावों को उत्पन्न करवा कर स्व भावप्राण का तथा भोग की क्रिया द्वारा असंख्य त्रस आदि जीवों की हिंसा द्वारा पर प्राणों का नाश करके, हिंसा का प्रबल कारण बनती है। इसलिए यदि श्रावक अहिंसक भाव स्वरूप अपना मूल स्वभाव प्राप्त करना चाहता हो, तो उसे अब्रह्म का याने कि मैथुन का अवश्य त्याग करना चाहिए।

चतुर्थ व्रत का स्वरूप :

सम्यक्त्व मूलक बारह व्रतों में चौथा व्रत 'स्थूल मैथुन विरमण व्रत' है। स्त्री पुरुष युगल की कामक्रीड़ा मैथुन[1] क्रिया है। वेदमोहनीय कर्म के उदय से चित्त में उभरती प्रबल कामवृत्ति के संतोष हेतु एवं उससे उत्पन्न अन्य अनर्थों से बचने के लिए **अपनी पत्नी में संतोष मानकर - अर्थात् अपनी पत्नी में भी मर्यादा बाँधकर - अन्य सब स्त्रियों के संसर्ग का त्याग करना** स्वदारा संतोष-पर स्त्री गमन विरमण व्रत है।

ब्रह्मचर्य का स्वरूप :

निश्चयनय से परभाव में रमण करना अब्रह्म है और (मन एवं इन्द्रियों के विकारों से परे होकर) स्वभाव में रमण करना ब्रह्मचर्य है। इसलिए ब्रह्मचर्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि **ब्रह्मणि चर्यते इति ब्रह्मचर्यम्।** व्यवहारनय इतनी सूक्ष्मता से पदार्थ का विश्लेषण नहीं करता, इसलिए वह स्त्री-पुरुष के युगल जो काम क्रीड़ा करते हैं उसे अब्रह्म कहता है एवं उस क्रिया के त्याग को ब्रह्मचर्य कहते हैं।

---

1. **पुंस्त्रीरुपं मिथुनम्। मिथुनस्य भाव: कर्म्म वा मैथुनम्। तदपि द्विविधं स्थूलं सूक्ष्मं च। तत्र भेदद्वये इदं सूक्ष्मं यदुत - इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां मनोविकारजनितं किञ्चिद् विकृतिमात्र-मार्विर्भवति, न पुनर्वाक्कायिकी कुप्रवृत्ति:, इदं च प्राय: सर्वथाऽब्रह्मवर्जक:। स्थूलं तु दम्पत्यो: परस्परं सर्वाङ्गसम्भोग: ।।४२०।।** - हितोपदेश

मैथुन क्रिया सूक्ष्म एवं बादर दो प्रकार की है। उसमें वेद मोहनीय कर्म के उदय से जब इन्द्रियाँ एवं मन कुछ थोड़े भी विकारवाले होते हों, लेकिन वचन या काया से वैसी कोई भी कुप्रवृत्ति न होती हो तब उस विकार को सूक्ष्म मैथुन कहते हैं, तथा औदारिक शरीरवाली मानवीय स्त्रियाँ एवं वैक्रिय शरीरवाली देवांगनाओं के साथ मन, वचन, काया से जो संभोग क्रिया होती है, उसे स्थूल मैथुन कहते हैं।

अप्रमत्तभाव को प्राप्त करने वाले महामुनि ही निश्चयनय अनुमत शुद्ध ब्रह्मचर्यव्रत[2] का पालन कर सकते हैं। पाँचों इन्द्रियों के विषय सामने होते हुए भी वासनावृत्ति से सम्पूर्णतया परे रहकर आत्मभाव में लीन रहने का कार्य तो स्थूलभद्रजी जैसे कोई विरल महापुरुष ही कर सकते हैं।

सम्यग्दृष्टि श्रावक समझता है कि आत्मभाव में रमणता रूप ब्रह्मचर्य का पालन करना वही मेरा स्वभाव है, उसमें ही वास्तविक सुख है, मुक्ति का उपाय भी वही है; तो भी श्रावक जानता है कि उसमें इतना सामर्थ्य नहीं है कि इस व्रत का स्वीकार कर उसका अखंड पालन कर सके। अत: अपने में इस व्रत पालन का सामर्थ्य प्रकट हो, इसलिए वह 'स्वदारासंतोष-परस्त्रीगमन विरमण' रूप चौथे व्रत का स्वीकार करता है।

इस व्रत को स्वीकारने के बाद श्रावक सदैव सोचता है कि 'यह अब्रह्म की क्रिया तो वासनारूपी महाअग्नि को शांत करने के लिए जलते में घी डालने जैसी है। यह वास्तविक सुख नहीं, मात्र दु:ख की क्षणिक शांति है। सच्चा सुख तो ब्रह्मचर्य में है। मैथुन का सुख तो किंपाक फल जैसा है। किंपाक फल खाते समय मीठा लगता है, परंतु उसका परिणाम भयंकर होता है। इसी तरह बाह्य दृष्टि से मधुर लगता हुआ यह सुख परिणाम से भयंकर होता है। उपरांत जिस स्त्री में मेरा मन आसक्त होता है उसका अंतरंग स्वरूप तो मेरे जैसा ही है। बाहर से दिखता यह शरीर तो रक्त, मांस, हड्डी एवं विष्टा आदि का पिंड है। अशुद्धि भरे ऐसे पिंड में मुझे क्यों आसक्ति करनी चाहिए? इसलिए ही तो ज्ञानी पुरुषों ने काम-भोग या, आसक्ति को, शल्य, विष, सर्प आदि की तरह भावप्राण का घातक[3] कहा हैं।'

---

2. ब्रह्मचर्य की विशेष समझ के लिए देखें सूत्र संवेदना भाग-१ सूत्र-२

3. **सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।**
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दुग्गइं ॥२७॥-श्री इन्द्रिय-पराजय-शतक.

इस तरह से काम की भयंकरता को सोचते हुए श्रावक जहाँ तक संभव हो वहाँ तक इस प्रवृत्ति से पीछे हटता है और जब पीछे हटना मुमकिन न हो तब भी परिमित समय के लिए, मन की विरक्ति को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नपूर्वक स्वस्त्री (पत्नी) के संग में संतोष मानता हैं।

यह व्रत भी प्रथम व्रत का पूरक है, क्योंकि एक ही बार मैथुन क्रिया करने से २ लाख से ९ लाख गर्भज पंचेन्द्रिय तथा असंख्यात बेइन्द्रिय एवं असंख्यात सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय जीवों का विनाश होता है[4] एवं इस क्रिया से मन रागादि भावों से विशेष विकृत बनता है। मैथुन का त्याग करके ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से इस तरीके से होने वाली द्रव्य-भाव हिंसा से बचा जा सकता है।

---

४. **मेहूणसन्नारूढो नवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं**
तित्थयरेणं भणियं, सद्दहियव्वं पयत्तेणं ।।८६ ।। - संबोधसत्तरी

कामशास्त्र रचयिता वात्सायन भी कहते हैं कि

रक्तजाः कृमयः सूक्ष्माः, मृदुमध्याधिशक्तयः ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं, जनयन्ति तथाविधाम् ।।८० ।।

स्त्री के खून में से उत्पन्न हुए, अल्प-मध्य एवं विशेष शक्तिवाले, आंखों से दिख न सकें वैसे बारीक जीव-कीड़े (अपनी शक्ति प्रमाण) स्त्री की योनि में (गुह्य अंग में) एक प्रकार की (विषय की) खुजली उत्पन्न करते हैं।

योनियन्त्रसमुत्पन्नाः, सुसूक्ष्मा जन्तुराशयः ।
पीड्यमाना विपद्यन्ते, यत्र तन्मैथुनं त्यजेत् ।।७९ ।। - योगशास्त्र-प्रकाश २-७९

जिस मैथुन सेवन से स्त्री की योनि रूप यंत्र में उत्पन्न हुए अति बारीक जीवों के समूह संघर्ष में पिसकर मर जाते हैं, उस मैथुन का त्याग करना चाहिए।

इत्थीण जोणिमज्झे, गब्भगया चेव हुंति नवलक्खा ।
इक्को व दो व तिन्नि व, लक्खपुहुत्तं च उक्कोसं ।।
इत्थीण जोणिमज्झे, हवंति बेइंदिआ असंखा य ।
उप्पज्जंति चयंति य, समुच्छिमा तह असंखा ।।
इत्थीसंभोगे समगं, तेसिं जीवाण हुंति उद्दवणं ।। - संबोधप्रकरण गा. ७३-७४-७६

स्त्रियों की योनि में गर्भज (मनुष्य) उत्कृष्टता से ९ लाख जीव उत्पन्न होते हैं, अर्थात् एक, दो, तीन से लेकर अधिकतम लक्ष पृथक्त्व पैदा होते हैं। इसके अलावा असंख्यात बेइन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं एवं संमूर्च्छिम (मनुष्य) भी असंख्यात उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। स्त्री संभोग से उन सब जीवों का एक साथ नाश होता हैं।

आयरिअमप्पसत्थे इत्थ पमायप्पसंगेणं - प्रमाद के कारण अप्रशस्त भाव का उदय होने से इस चतुर्थ व्रत के विषय में दिनभर में जो कुछ भी विपरीत आचरण किया हो (उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

व्रत पालने का दृढ संकल्प किया हो तो भी अनादिकाल से अभ्यस्त प्रमाद कभी सभी व्रत की मर्यादा का भंग करवा देता है एवं अप्रशस्त भाव प्रकट करता है । अभ्यस्त अप्रशस्त भावों से जिन अतिचारों का सेवन हो जाता है, उनसे बचने के लिए विशेष प्रकार से ब्रह्मचर्य के पालन से होने वाले लाभ एवं अब्रह्म से होने वाले नुकसान का विचार करके, मन को ऐसा तैयार करना चाहिए कि वो प्रमाद में पड़े ही नहीं।

ब्रह्मचर्य पालन का फल और अब्रह्म से होने वाला नुकसान :

करोड़ों स्वर्णमुद्रा के दान से या सुवर्णमय जिन भवन बनवाने की अपेक्षा से निर्मल ब्रह्मचर्य के पालन में शास्त्रकारों ने ज़्यादा लाभ कहा हैं। जो ऐसे दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करता है, उसे देवता भी नमन करते हैं।

उत्तम ठकुराई, लंबा आयुष्य, सुंदर संस्थान, सुदृढ़ संहनन, बेजोड़ धन-धान्यादि ऋद्धि, राज्य, निर्मल कीर्ति, तेजस्वी इन्द्रियाँ, निर्विकारी बल, महा-पराक्रमी वृत्ति, स्वर्ग का सुख एवं अन्त में अल्प समय में मोक्ष, ये सब निर्मल ब्रह्मचर्य पालन से प्राप्त होते हैं।

कामांध पुरुषों को इस भव में वध, बंधन, फाँसी, नाक कटाना, गुप्तेन्द्रिय का छेद, धन का नाश आदि अनेक दुःख सहन करने पड़ते हैं और परभव में वे छेदी हुई गुप्तेन्द्रियों वाले नपुंसक, कुरूपी, दुर्भागी, रोग वाले होते हैं । उनको नरक में भी अनेक तरह के दुःसह दुःखों को भुगतना पड़ता हैं।

दुराचारिणी स्त्रियाँ अन्य भव में विधवापन, लग्न की वेदी में ही वैधव्य, वंध्यापन, मरे हुए बालक को जन्म देना, विषकन्या होना (स्पर्शमात्र से दूसरे को जहर चढ़े ऐसे शरीरवाली) वगैरह दुष्ट स्त्रीपना पाती हैं।

इन सब बातों का विचार करके साधक को प्रमाद का त्याग कर निर्मल ब्रह्मचर्य के पालन में तत्पर बनना चाहिए।

अवतरणिका :

अब चौथे व्रत को दूषित करने वाली वृत्ति और प्रवृत्ति को बताने वाले पाँच अतिचार बताते हैं :

गाथा :

अपरिग्गहिआ-इत्तर-अणंग-विवाह-तिव्व-अणुरागे ।
चउत्थवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।१६ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

अपरिगृहीता-इत्वर-अनङ्ग-विवाह-तीव्रानुरागान् ।
चतुर्थव्रतस्य दैवसिकं सर्वम् अतिचारान् प्रतिक्रामामि ।।१६ ।।

गाथार्थ :

(१) अपरिगृहीतागमन, (२) ईत्वरपरिगृहितागमन, (३) अनंगक्रीड़ा, (४) परविवाह, एवं (५) तीव्र अनुराग। चौथे व्रत के इन पाँच अतिचारों में से दिन भर में जो अतिचार लगे हों उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

'स्वदारा संतोष-परस्त्री गमन विरमण' व्रत को स्वीकार करने के बाद श्रावक को उस व्रत के पालन के लिए सतत सावधान रहना चाहिए। काम-वासनाओं का नाश करने के लिए सदैव भोग की भयंकरता का विचार करना चाहिए। ऐसा होते हुए भी तीव्र वेद के उदयकाल में बहुत बार वह मन एवं इन्द्रियों का संयम खो बैठता है। ऐसी परिस्थिति में, कभी उसके द्वारा व्रत को मलिन करने वाले अतिचारों का आसेवन हो जाता है जिसके सामान्यतया निम्न बताए गए पाँच प्रकार हैं :

अपरिग्गहिआ - अपरिगृहीतागमन।

जिस स्त्री को किसीने ग्रहण न किया हो वैसी कुमारी कन्या, वेश्या या विधवा स्त्री के साथ भोग करने को शास्त्रीय भाषा में अपरिगृहितागमन कहा जाता है । यह स्त्री किसी की नहीं, इसलिए परदारा नहीं - दूसरे की स्त्री नहीं, ऐसा मानकर तीव्र भोगासक्ति के वक्त स्व स्त्री से संतोष न होते हुए, ऐसी स्त्री के साथ दुःखार्द्र

हृदय से गमन करना, यह इस व्रत विषयक 'अपरिगृहीतागमन' नामका प्रथम अतिचार हैं।

इत्तर - ईत्वरपरिगृहितागमन।

ईत्वर अर्थात् अल्प समय। निर्धारित समय तक पैसों से रखी हुई रखैल स्त्री का भोग करना, वह 'ईत्वरगृहितागमन' नाम का दूसरा अतिचार हैं।

जिसने 'परदारागमन की विरति' स्वीकारी हो, उसके लिए ये दोनों प्रवृत्तियाँ अतिचार स्वरूप हैं। परंतु जिसने 'स्वदारासंतोष-परदारागमन विरति' स्वीकारी हो, उसके लिए तो रखैल या विधवा, वेश्या आदि भी स्वदारा से अन्य होने से यह प्रवृत्ति अनाचार ही है।

अणंग - अनंगक्रीड़ा करना।

अनंग अर्थात् काम। उसको जागृत करने वाली अर्थात् काम वासना को उत्तेजित करनेवाली विविध क्रीड़ा करना, अथवा भोग के मुख्य अंग को छोड़कर स्तन, ओष्ठ आदि अंगों का चुम्बन, आलिंगन आदि कामोत्तेजक चेष्टाएँ करना 'अनंगक्रीड़ा' नामक तीसरा अतिचार हैं। ऐसी क्रियाएँ चतुर्थ व्रत को दूषित करती हैं।

यहाँ इतना ध्यान में रखना चाहिए कि ये तीन अतिचार श्रावक अवस्था में नहीं होते, तो भी तीव्र वेदोदय के समय में कभी ये कार्य हो जाएँ तो व्रत भंग नहीं माना जाता, तथापि श्रावक के लिए ये अतिचार योग्य तो नहीं ही है। किसी भी संयोग में श्रावक को ये अतिचार न लगे, इसके लिए बहुत सावधान रहना चाहिए।

विवाह - अपनी संतान के सिवाय अन्य का विवाह आदि करना, करवाना।

अपनी संतान का भी दायित्व यदि कोई लेता हो तो उसके विवाह आदि कार्य भी श्रावक न करे। परंतु जवाबदारी लेने वाला कोई न हो, अपनी संतान कुमार्ग पर न जाए, कोई अनर्थ न कर बैठे, इसके लिए अपनी संतान का विवाह करना पड़े तो करे, परंतु अन्य का विवाह तो न ही करे। ऐसा होते हुए भी किसी के प्रति स्नेह के कारण या विशेष संबंधों के कारण अन्य के विवाह में रस ले तो इस व्रत में 'परविवाहकरण' नाम का चौथा अतिचार लगता है।

तिव्व-अणुरागे - तीव्र कामराग करना।

अशुचि भावना, अन्यत्व भावना आदि का चिंतन करता हुआ श्रावक अपनी

पत्नि में भी तीव्र आसक्ति न हो ऐसी सावधानी रखता है, तो भी प्रबल निमित्त के कारण कभी विषय भोग में तीव्र आसक्ति हो तो वह इस व्रत का पाँचवाँ अतिचार है। इस अतिचार से बचने के लिए श्रावक को किसी भी स्त्री में आसक्ति न हो, इसका ध्यान रखना चाहिए।

पुरुषप्रधान धर्म होने से यहाँ पुरुष आश्रित व्रत तथा उसके अतिचार बताए हैं, परंतु उनके उपलक्षण से स्त्रियों के लिए 'स्वपुरुषसंतोष' एवं 'परपुरुषगमन विरमण व्रत' भी समझ लेना चाहिए। परपुरुष के साथ रागादि की अधीनता से किए गए व्यवहार से भी व्रत मलिन होता हैं। अत: अतिचार रूप ही है।

इस प्रकार स्त्री एवं पुरुष के इस व्रत विषयक प्रमुख पाँच अतिचार बताए। इसके अलावा रागादि भाव से किसी स्त्री, पुरुष या बालक को देखना, उनका स्पर्श करना, उस संबंधी मन में कोई विकृत विचारणा करना, वाणी का अनुचित व्यवहार करना, स्वप्न में किसी दोष का सेवन करना इत्यादि छोटे-बड़े विभिन्न अतिचारों का भी व्रतधारी श्रावक को ध्यान रखना चाहिए।

चउत्थवयस्सइआरे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं - दिनभर में लगे हुए चौथे व्रत के अतिचारों का मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

'चौथे व्रत के विषय में ऊपर बताए हुए छोटे-बड़े किसी भी अतिचारों का दिन भर में सेवन हुआ हो तो उनको याद करके, उसके प्रति घृणाभाव प्रकट करके, मैं उन सब अतिचारों से वापस लौटता हूँ, पुन: वैसा न हो ऐसा संकल्प करता हूँ।' इस तरह सोचकर श्रावक सब अतिचारों का प्रतिक्रमण करता है।

ब्रह्मचर्य व्रत का खंडन महापाप है। उससे दुर्भाग्यपन, वंध्यापन प्राप्त होता है तथा दुर्गति का भाजन होना पड़ता है। काम की तीव्र आसक्ति से ही चक्रवर्ती का स्त्रीरत्न छट्ठी नरक में जाता है और द्रव्य से भी ब्रह्मचर्य व्रत को पालनेवाला चक्रवर्ती का अश्वरत्न स्वर्ग में जाता है।

ब्रह्मचर्य के पालन से वीर्य-शक्ति बढ़ती है, इन्द्रियाँ तेजस्वी बनती हैं; जब कि बार-बार मैथुन के सेवन से शरीर क्षीण होता है, इन्द्रियों की हानि होती है, वीर्य का नाश होता है।[5]

---

5. **कम्प: खेद: श्रमो मूर्छा भ्रमिर्ग्लानिर्बलक्षय:।**
राजयक्ष्मादयश्चापि, कामाद्यासक्तिजा रुज:।। - अर्थदीपिका

भागवत, पुराण, मनुस्मृति, वेदों जैसे जैनेतर ग्रंथों में भी मैथुन का सेवन पाप है, ऐसा बताकर उससे दूर रहने का उपदेश दिया है।[6]

इस तरह मैथुन की असारता एवं ब्रह्मचर्य की सार्थकता को सोचकर श्रावकों को यथाशक्ति अब्रह्म का सर्वथा त्याग करना चाहिए। यह संभव न हो तो भी भोगवृत्ति को संयम में रखनी चाहिए। पर्वतिथियाँ, कल्याणक के दिन, शाश्वती ओली, तीर्थ स्थानों एवं पर्युषण वगैरह पर्वों में तो ब्रह्मचर्य का अवश्य पालन करना ही चाहिए।

अपने ऊपर संयम रखते हुए भी कहीं प्रमाद, अनाभोग आदि से अतिचार लगा हो तो उससे मलिन बनी आत्मा को निन्दा, गर्हा द्वारा शुद्ध बनानी चाहिए।

इन दोनों गाथाओं का उच्चारण करते समय श्रावक सोचता है कि,

'ब्रह्मचर्य मेरा स्वभाव है। उसमें सब प्रकार का सुख है, तो भी मैं कायर हूँ, कुकर्मों से जकड़ा हुआ हूँ, कुसंस्कारों से व्याप्त हूँ। इसलिए अमृत के कुंड जैसे इस व्रत में मैं सदैव नहीं रह सकता। ऐसा होते हुए भी इस व्रत का यत्किंचित आस्वाद पाने के लिए मैं ने 'स्वदारासंतोष-परस्त्रीगमन विरमणव्रत' को स्वीकारा है। इस व्रत को स्वीकार कर, इसके पालन के लिए मैंने यत्किंचित प्रयत्न भी किया है, तो भी निर्बल निमित्तों के कारण, कभी मन एवं इन्द्रियाँ चंचल बनी हैं, कभी न देखने योग्य देखने में आया है, कभी नहीं करने योग्य किया है। हे भगवंत ! ये सब मैंने गलत किया है। इससे मैंने अपनी आत्मा को कलंकित किया है।

धन्य हैं सीता जैसी महासतियों को ! एवं धन्य है सुदर्शन जैसे महापुरुषों को! जिन्होंने इस व्रत को स्वीकार करके, मरणांत कष्ट सहन करके भी, व्रत को टिकाकर उसमें कहीं लेशमात्र भी आँच नहीं आने दी। धन्य है स्थूलभद्रजी जैसे

6. हे युधिष्ठिर ! एक रात्रि ब्रह्मचर्य पालन करने से जो सद्गति होती है, वह गति हजारों यज्ञ से भी हो सके या नहीं, ऐसा कहना शक्य नहीं है॥१॥

एक ओर चारों वेद एवं दुसरी ओर ब्रह्मचर्य, ये दो समान हैं। उसी तरह एक और सभी पाप एवं दुसरी ओर मदिरा तथा मांसजन्य पाप, ये दोनो भी समान हैं॥२॥

हर जगह क्लेश करवानेवाले, युद्ध करवा के मानवीओं को मरवानेवाले और पाप करने में तत्पर रहनेवाले नारदमुनि भी मुक्ति प्राप्त करते हैं। वह सच में ब्रह्मचर्य का ही महात्म्य हैं॥३॥ - अर्थदीपिका

महात्माओं को जिन्होंने काम के प्रबल निमित्तों के बीच भी तन, मन को विकृत नहीं होने दिया। विकारी निमित्तों के बीच भी आत्मभाव में स्थिर रहने वाले इन महापुरुषों के चरणों में मैं प्रणाम करता हूँ एवं अभिलाषा करता हूँ कि मुझ में भी उनके जैसा सत्त्व प्रकट हो और मैं भी आलोचना, निन्दा, गर्हा द्वारा लगे हुए दोषों की शुद्धि कर पुनः व्रत में स्थिर हो सकूँ।

चित्तवृति का संस्करण :

आज के जमाने में सहशिक्षण वाले स्कूल-कॉलेजों, टी.वी., इन्टरनेट, सिनेमा एवं अनेक अश्लील पत्रिकाओं के कारण इस व्रत का अखंडित पालन अत्यंत मुश्किल बन गया हैं। श्रावक को यह व्रत आसान नहीं है। इस व्रत को पालने के लिए श्रावक को सुदर्शन सेठ, विजयसेठ एवं विजया सेठानी तथा स्थूलभद्रजी जैसे महापुरुषों को सतत ध्यान में रखना चाहिए। काम-वासनाओं के स्वरूप का चिंतन करना चाहिए एवं उसके कटु फलों की विचारणा करके मन को वैराग्य से वासित रखना चाहिए, तो ही स्वदारा संतोष-परस्त्रीगमन विरमण व्रत का यथायोग्य पालन हो सकता है।

सर्वथा ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले श्रमणों के लिए जैसे ब्रह्मचर्य की नव वाड़ का पालन है, वैसे ही श्रावक के लिए भी अन्य स्त्री के साथ व्यवहार में इन मर्यादाओं का (वाड़ों का) पालन करना योग्य है, तो ही अच्छी तरह व्रत का पालन हो सकता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए यह ठान लेना चाहिए कि,

- किसी का स्पर्श कभी सुख नहीं दे सकता । स्पर्श के साथ मिली हुई अपनी कल्पनाएँ एवं विकृत भाव के कारण ही स्पर्श सुखकारक लगता है।
- एकबार मैथुन सेवन से असंख्य जीवों की हिंसा तो होती ही है, उससे रागादि के कुसंस्कार में तीव्रता भी बढती जाती है । इसीलिए भगवान ने हरेक व्रत में अपवाद बताए है; पर इस व्रत मे कोई अपवाद नहीं है ।

व्रतधारी श्रावक के लिए पालने योग्य मर्यादाएँ :

- परस्त्री या परपुरुष जहाँ अकेले हों उस स्थान में अधिक समय न रहना, एकांत में उनसे न मिलना, क्योंकि एकांत स्थान में काम-वासनाएँ जागृत होने की संभावना अधिक होती हैं।

- परस्त्री के साथ प्रयोजन बिना कभी बात न करना, बात करनी पड़े तो भी आँख से आँख मिलाकर बात न करना। जिस प्रकार सूर्य के सामने दृष्टि पड़ते ही आँख बंद करनी पड़ती है, उसी प्रकार पर स्त्री पर दृष्टि पड़े तो तुरंत ही नज़र हटा लेनी चाहिए।
- परस्त्री जहाँ बैठी हो उस आसन या शय्या पर पुरुष को दो घड़ी तक और जहाँ पर पुरुष बैठा हो उस आसन या शय्या पर स्त्रियों को तीन प्रहर तक नहीं बैठना चाहिए । इतने समय के अंदर बैठने से भी काम वासना जागृत हो सकती है।
- परस्त्री अथवा परपुरुष के अंग-उपांग भी कभी राग दृष्टि से नहीं देखने चाहिए।
- पर स्त्री-पुरुष का युगल जहाँ क्रीड़ा करता हो उस दीवार के पास भी नहीं रहना चाहिए। इस बात से यह तो समझा ही जा सकता है कि ऐसी फिल्में अथवा टी.वी. के पर्दे पर नाचती, कूदती या अन्य चेष्टा करती हुई पर स्त्रियों का रूप-रंग या अंगोपांग चतुर्थ व्रतधारी श्रावक तो न ही देखे।
- भूतकाल में अनुभव की हुई कामवृत्तियों के प्रसंगों या विकृत विचारों का कभी स्मरण न करे।
- कामवृत्ति को उत्तेजित करे ऐसे मादक आहार लेना ही नहीं चाहिए अर्थात् जिसमें घी, दूध वगैरह विगईओं का प्रमाण अधिक हो, वैसी मिठाईयाँ तथा वनस्पतियों का त्याग करना चाहिए। जब तक सर्वथा त्याग न हो, तब तक उनका उपयोग अति मर्यादित करना चाहिए।
- रूक्ष आहार भी मर्यादित प्रमाण में ही लेना चाहिए।
- स्व-पर के काम की उत्तेजना हो ऐसी शरीर की शोभा, तेलमर्दन, विलेपन या स्नानादि नहीं करना चाहिए।

व्रतधारी श्रावक को इन नौ नियमों का अवश्य पालन करना चाहिए। इन नौ में से किसी एक नियम का खंडन भी व्रत को दूषित करता है। इसलिए उसे अतिचार कहते हैं। आचार की ऐसी जागृति रखकर अतिचारों का वास्तविक प्रतिक्रमण करना हैं।

पंचम व्रत

अवतरणिका :

अब पाँचवे व्रत का स्वरूप तथा अतिचार बताते हैं।

गाथा :

इत्तो अणुव्वए पंचमम्मि आयरिअमप्पसत्थम्मि।
परिमाणपरिच्छेए,इत्थ पमायप्पसंगेणं।।१७।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

इत: प्रमादप्रसङ्गेन अप्रशस्ते अत्र पञ्चमे अणुव्रते,
परिमाणपरिच्छेदे अतिचरितम् ।।१७।।

गाथार्थ :

अब (चौथे व्रत के बाद) इस पाँचवे अणुव्रत के विषय में, प्रमाद में आसक्त होने से जब अप्रशस्त भाव का प्रवर्तन हो तब यहाँ पाँचवे अणुव्रत के विषय में प्रमाण का परिच्छेद करने रूप जो कोई विपरीत आचरण किया हो (उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

विशेषार्थ :

इत्तो अणुव्वए पंचमम्मि - अब पाँचवे अणुव्रत के विषय में।

सम्यक्त्व मूलक बारह व्रतों में पाँचवाँ व्रत **'स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत'** है। उसमें 'स्थूल' अर्थात् बड़ा, 'परिग्रह' अर्थात् संग्रह करने की वृत्ति एवं 'परिमाण' अर्थात् उसका प्रमाण निश्चित करना। इस प्रकार धन-धान्य आदि जो नव-प्रकार का परिग्रह होता है, उसे प्रमाणयुक्त करना अर्थात् अमुक वस्तु अमुक प्रमाण से अधिक नहीं रखना, वह 'स्थूल-परिग्रह-परिमाण-व्रत हैं। जैसे चीज़ें मर्यादित करना स्थूल परिग्रह परिमाण है, वैसे प्राप्त अथवा अप्राप्त वस्तुओं के प्रति मूर्च्छा[1] या ममत्व को घटाना सूक्ष्म परिग्रह परिमाण है।

पाँचवे व्रत का स्वरूप :

परिग्रह दो प्रकार का होता है : १) बाह्य परिग्रह, २) अंतरंग परिग्रह[2]। बाहर से दिखाई देते धन, धान्य, मकान आदि का संग्रह बाह्य परिग्रह है, उसे द्रव्य परिग्रह भी कहते हैं; और चार कषाय, नव नोकषाय एवं मिथ्यात्व इन १४ प्रकार के अंतरंग भावों का संग्रह अभ्यंतर परिग्रह है, उसे भाव परिग्रह भी कहते हैं।

ये दोनों प्रकार के परिग्रह रागादि भावों को उत्पन्न करके स्व-भाव-प्राण की हिंसा का निमित्त बनते हैं और धनादि की प्राप्ति, उनका रक्षण वगैरह करने में त्रस एवं स्थावर जीवों की हिंसा भी होती हैं। इस तरह परिग्रह पर-द्रव्य प्राण की हिंसा का भी निमित्त बनता है। इसलिए परिग्रह अहिंसक भाव रूप आत्मा के मूल स्वभाव को नष्ट करता है। अत: जो साधक स्वभाव को प्राप्त करना चाहता हो, उसे इन दोनों प्रकार के परिग्रह का त्याग करना चाहिए।

---

1. **मुच्छा परिग्गहो वुत्तो।** - श्रीदशवैकालिक
   प्राप्त या अप्राप्त कोई भी वस्तु के ऊपर ममत्व-मूर्च्छा रखना उसे परिग्रह कहा है।
2. **दुविहो परिग्गहो वि हु, थूलो सुहुमो य तत्थ परदव्वे।**
   मुच्छामित्तं सुहुमो थूलो उ धणाइ नवभेओ ।।४२३ ।। - धर्मसङ्ग्रहवृत्ति
   परिग्रह भी सूक्ष्म एवं स्थूल ऐसे दो प्रकार का है। उसमें परद्रव्य में मूर्च्छामात्र सूक्ष्म परिग्रह है एवं स्थूल परिग्रह धन-धन्यादि नौ प्रकार का है। (इस विषय की विशेष जानकारी गाथा नं. ३ में दी है।)

दोनों प्रकार के परिग्रह आत्मा के लिए बंधन रूप हैं। मानसिक अस्वस्थता उत्पन्न करके वे आत्मा को कर्म से बाँधते हैं, इसीलिए महामुनि भी बाह्य एवं अभ्यंतर दोनों प्रकार के परिग्रह से संपूर्ण मुक्त होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहते हैं। वे संयम साधना के लिए अनुपयोगी एक भी वस्तु अपने पास रखते ही नहीं। संयम साधना के लिए आवश्यक ऐसे वस्त्र, पात्र या उपधि वगैरह जो रखते हैं वे भी ज़रूरत से अधिक नहीं रखते। ज़रूरी चीज़ों में कहीं आसक्ति न हो उसकी खूब सावधानी रखते हैं। संयम साधना के लिए स्वीकार किए हुए वस्त्र, पात्र का उपयोग भी वे समभाव की वृद्धि के लिए करते हैं। शरीर की अनुकूलता के लिए कभी भी उनका उपयोग नहीं करते, और इन सबके लिए वे सदा अंतरंग जागृतिपूर्वक आत्म निरीक्षण करते रहते हैं।

ऐसा व्रत श्रावक को अत्यंत इष्ट है, परंतु उसमें इतना सत्त्व नहीं होता कि मुनि की तरह बाह्य एवं अभ्यंतर सब प्रकार के परिग्रहों का त्याग कर सके। अत: ऐसी शक्ति प्रकट करने के लिए वह 'स्थूल परिग्रह का परिमाण' करता है अर्थात् परिग्रह को सीमित करता हैं।

पाँचवे व्रत का स्वरूप :

धन, धान्य आदि नव प्रकार के परिग्रह तथा अन्य कोई भी सामग्री विषयक जो अमर्यादित इच्छा प्रवर्तमान है, उसे मर्यादित करने के लिए उन वस्तुओं को निश्चित मात्रा से अधिक नहीं रखना, वैसी प्रतिज्ञा करना, स्थूल परिग्रह परिमाण व्रत[3] है।

श्रावक समझता है कि असंतोष ही दु:ख का मूल है। असंतोष के कारण अनावश्यक वस्तुओं को प्राप्त करने का एवं प्राप्त की हुई वस्तुओं का संग्रह करने का मन होता है। जैसे-जैसे संग्रह बढ़ता है वैसे-वैसे उससे संबंधित आरंभ भी बढ़ता जाता है। आरंभ के कारण हिंसा बढ़ती है और हिंसा से कर्मबंध होता है एवं

---

3. **परिग्रहस्य कृत्स्नस्यामितस्य परिवर्जनात्। इच्छापरिमाणकृतिं, जगदु: पञ्चमं व्रतम्॥** - **धर्मसङ्ग्रह**

सब (नौ प्रकार के) पदार्थों के अपरिमित परिग्रह का त्याग करनेपूर्वक **इच्छा को मर्यादित करना,** उसको पंचम अणुव्रत कहते हैं।

कर्मबंध से जीव नरकादि दुर्गति का पात्र बनता है। इसलिए श्रावक सोचता है कि 'यदि मुझे ऐसी अनर्थ की परंपरा से बचना हो तो सर्वप्रथम मुझे अपने मन को संतोषी बनाना चाहिए। हृदय को इस बात से भावित करना चाहिए कि बाह्य वस्तुएँ मुझे कभी भी सुखी नहीं कर सकतीं। अत: मुझे जितना हो सके उतनी कम से कम वस्तुओं से जीवन-निर्वाह करना सीखना चाहिए एवं जीवन निर्वाह के लिए जो आवश्यक हो वैसी चीज़-वस्तुओं में भी आसक्ति न हो जाए उसकी सावधानी रखनी चाहिए।

ऐसी समझ होने पर भी श्रावक जानता है कि 'मेरा मन अति चंचल है, जो कुछ भी देखता हूँ मुझे उसे लेने का मन हो जाता है। इससे अनावश्यक संग्रह होता जाता है एवं संग्रह की हुई वस्तु के प्रति ममता भी बढ़ती जाती है। मेरी इस मलिन वृत्ति को अंकुश में लाने के लिए मुझे अवश्य इस व्रत को स्वीकार करना चाहिए।' ऐसा मानकर श्रावक इस व्रत का स्वीकार करता है।

जिज्ञासा : तनाव (टेन्शन) बिना शांति से जीवन जी सके इसलिए भी वर्तमान में बहुत से लोग कम धनादि रखते हैं, उनको परिग्रह-परिमाण-व्रतवाले कह सकते हैं कि नहीं ?

तृप्ति - शांति से जीने या तनाव मुक्त रहने के लिए जो परिमित धन-धान्यादि सामग्री रखते हैं, परंतु अंदर में पड़े हुए ममता के भावों को बाहर निकालने की जिनकी भावना नहीं होती, उनमें यह व्रत नहीं घटता। यह व्रत तो उन्हीं में घटता है जिनको ममता, असंतोष आदि दोष खटकते हैं और इन दोषों से मुक्त होने के लिए ही परिग्रह का परिमाण करते हैं। **इस व्रत में धनादि की संकोचवृत्ति का महत्त्व नहीं, परंतु निर्मम भाव की पोषक संकोचवृत्ति[4] का महत्त्व है। अतः बाह्य परिग्रह परिमाण भी आंतरिक परिग्रह को घटाने के लिए ही है।**

---

4. अपरिग्रह एव भवेद्वस्त्राऽभरणालङ्कृतोऽपि पुमान्,ममकारविरहित: सति ममकारे सङ्गवान् - योगशास्त्र (२-१०६)

ममता बिना वस्त्र, आभरण से शोभित पुरुष भी परिग्रह रहित है, जब कि नग्न (अति दरिद्री या सर्व पदार्थों का त्यागी) होता हुआ भी ममत्ववाला हो तो परिग्रहवाला है।

आयरिअमप्पसत्थम्मि परिमाणपरिच्छेए, इत्थ पमाय-प्पसंगेणं - प्रमाद के प्रसंग से जब (लोभादि) अप्रशस्त भावों में प्रवर्तन हो तब इस पाँचवें अणुव्रत के विषय में (परिग्रह के) परिमाण की निश्चित की हुई मर्यादा को नहीं पालने से व्रत का जो उल्लंघन हुआ हो (उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

इस व्रत को स्वीकार करने पर भी कभी अनजाने में या कभी लोभादि कषाय के अधीन होकर व्रत मर्यादा से बाहर की चीज़-वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा हुई हो या प्रमाद से कभी व्रत-मर्यादा चूक गई हो, मर्यादित वस्तु में भी अति आसक्ति की हो इत्यादि कोई भी अप्रशस्त आचरण हुआ हो तो वह व्रत विषयक दोष हैं। इस दोष से बचने के लिए ही श्रावक को परिग्रह परिमाण के पालन से एवं उसे न पालने से होने वाले फायदे एवं नुकसान को सोचकर मन को पहले से ही तैयार कर लेना चाहिए ताकि मन में कोई अशुभ विचार प्रकट ही ना हो।

व्रत-पालन का फल :

परिग्रह परिमाण व्रत से इस भव में संतोष का निष्कंटक सुख, लक्ष्मी की स्थिरता (दरिद्रता का अभाव), लोक में प्रशंसा वगैरह अनेक फल मिलने के उपरांत परलोक में उत्तम ऋद्धिवंत मनुष्यत्व या श्रेष्ठ देवत्व एवं परंपरा से सिद्धगति की भी प्राप्ति होती हैं। इसके विपरीत अतिलोभ के वश होकर इच्छा परिमाणरूप इस व्रत को स्वीकार नहीं करने से या स्वीकार करके विराधना करने से दरिद्रता, दुर्भाग्य, दासत्व, दुर्गति आदि महाकष्ट चिरकाल तक भुगतने पड़ते हैं। कहा है कि महारंभ[5] से, महापरिग्रह से, मांसादि आहार से एवं पंचेन्द्रिय जीवों का वध करने से जीव नरक का आयुष्य बाँधता हैं।

अवतरणिका :

इस गाथा में लोभ के वश होकर पाँचवें व्रत को दूषित करें ऐसी संभावित प्रवृत्तियों को पाँच अतिचारों के माध्यम से बताते हैं :

---

5. **महारंभयाए महापरिग्गहयाए कुणिमाहारेणं**
पंचिदियवहेणं जीवा नरयाउअं उज्जेइ त्ति ।।

गाथा :

धण-धन्न-खित्त-वत्थू, रूप्प-सुवण्णे अ कुविअ-परिमाणे।
दुपए चउप्पयम्मि य, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।१८।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

धन-धान्य-क्षेत्र-वास्तु-रूप्य-सुवर्णे च कुप्य-परिमाणे।
द्विपदे चतुष्पदे च दैवसिकं सर्वं प्रतिक्रामामि ।।१८।।

गाथार्थ :

(१) धन, (२) धान्य, (३) क्षेत्र (भूमि), (४) वास्तु (घर-ग्राम वगैरह), (५) चांदी, (६) सुवर्ण, (७) कुप्य (कांसा वगैरह धातुएँ) (८) द्विपद (मनुष्य, पक्षी आदि) एवं (९) चतुष्पद (जानवर) ऐसे नौ प्रकार के बाह्य परिग्रह के परिमाण के विषय में दिनभर में जो अतिचार लगे हों उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

नौ प्रकार के परिग्रह के परिमाण का नियम करके उनमें बंधन द्वारा, दो या अधिक चीज़ों को जुटाने द्वारा, उपहार द्वारा या गर्भादि[1] द्वारा प्रमाण से अधिक रखने की भावना हो तो वह अतिचार हैं। साधारणतया ये अतिचार पाँच प्रकार के हैं :-

धण-धन्न - धन-धान्य प्रमाणातिक्रम ।

धन-धान्य के प्रमाण[2] का अतिक्रमण करना अर्थात् उनके प्रमाण की मर्यादा का पालन न करना, वह पहला अतिचार है।

---

1. **बन्धनाद्योजनाद्दानाद् गर्भतो भावतस्तथा।**
कृतेच्छापरिमाणस्य न्याय्या: पञ्चापि न ह्यमी ।।४८।। **- धर्मसङ्ग्रह**
2. धन चार प्रकार का होता है : १) गणिम - गिने जा सके जैसे नगद रुपया, सुपारी आदि, २) धरिम - तोलकर ली जाए जैसे गुड़, शक्कर आदि, ३) मेय - माप कर ली जाए, जैसे घी, कपड़ा वगैरह, ४) परिच्छेद्य - जो वस्तु कसकर, छेदकर ली जाए, जैसे रत्न, सुवर्ण वगैरह। कल्पसूत्र की टीका इत्यादि शास्त्रों में चावल गेहुँ, आदि, मग, मठ आदि २४ प्रकार के धान्य बताए हैं।

खित्त-वत्थू - क्षेत्र-वास्तु प्रमाणातिक्रम।

क्षेत्र अर्थात् खेत, ज़मीन आदि एवं वास्तु अर्थात् घर, दुकान, ऑफिस, बंगला वगैरह। इन सबका प्रमाण निश्चित करने के बाद लोभादि कषाय के अधीन होकर अपने पुत्र-पुत्री आदि के नाम कर देना अथवा घर या खेत के प्रमाण को बढ़ा देना, दो मकान का एक कर देना और ऐसा करके व्रत की मर्यादा का उल्लंघन करना, दूसरा अतिचार है।

रूप्प-सुवण्णे अ - रूप्य-सुवर्णप्रमाणातिक्रम।

चांदी, सोने का प्रमाण निश्चित करने के बाद, यदि लाभ दिखाई देता हो तो अधिक संग्रह करना या अन्य किसी के नाम कर देना या अनजाने में भी प्रमाण से अधिक संग्रह करना, वह तीसरा अतिचार गिना जाता हैं।

कुविअपरिमाणे - कुप्यपरिमाणातिक्रम।

कुप्य अर्थात् सोना-चांदी के अलावा सभी धातु के बर्तन आदि एवं उपलक्षण से घर की सब चीज़ें। उनकी संख्या निश्चित रखने का जो नियम लिया हो वह उत्सव, महोत्सव या विविध अनुष्ठान के प्रसंग पर भेंट-सौगाद के कारण टूटने की संभावना से बचने के लिए बर्तन आदि को तोड़-मोडकर दो में से एक बनवाना या बहुत सी चीजों को तोड़कर एक बनाकर और नए बर्तन आदि का संग्रह करना ताकि व्रत में निश्चित की हुई संख्या भी न बढ़े और लोभादि को पुष्ट करके परिग्रह भी हो जाए, ऐसे कार्य से इस व्रत में चौथा अतिचार लगता हैं। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिए कि वैसे तो यह व्रत मर्यादा का उल्लंघन होने के कारण व्रत भंग ही है, परंतु यहाँ व्रतरक्षण का भाव भी साथ में होने के कारण यह व्रतभंग की मर्यादा में न जाकर अतिचार ही माना जाता हैं । **जहाँ व्रतरक्षण का थोड़ा भी परिणाम हो वहाँ अतिचार है।**

दुपएचउप्पयम्मि य - द्विपद एवं चतुष्पद के परिमाण का अतिक्रम करना।

द्विपद अर्थात् स्त्री, दास, दासी आदि और चतुष्पद अर्थात् गाय, भैंस आदि। इन दोनों का प्रमाण निश्चित करने के बाद उनके प्रमाण का उल्लंघन करना पाँचवाँ अतिचार हैं।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं - दिन में लगे पाँचवें व्रत संबंधी किसी भी अतिचार का सेवन हुआ हो तो उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

नौ प्रकार के परिग्रह में प्रमाण निश्चित करने के बाद श्रावक यदि सीधे तरीके से व्रत की मर्यादा से अधिक धनादि रखे तो वह व्रतभंग है, परंतु व्रतकाल में दूसरों के नाम से रखे या उसके प्रमाण में वृद्धि-घटौती करे जैसे कि दो घर का एक घर करे, छोटे बर्तनों को तोड़कर एक बड़ा बर्तन बना दे इत्यादि करे तो व्रत पालने की भावना होने से व्रत भंग नहीं होता। परंतु, व्रत का मुख्य लक्ष्य मूर्च्छा घटाना है, उसकी सुरक्षा नहीं होने के कारण व्रत मलिन तो होता ही है। इसलिए ऐसी प्रवृत्तियों से अतिचार दोष लगता है। इन पदों द्वारा ऐसे सब अतिचारों को याद करके, उनसे मुक्त होकर व्रत में स्थिर होने रूप प्रतिक्रमण करना हैं।

इन दोनों गाथाओं का उच्चारण करते वक्त श्रावक सोचता है कि -

'अपरिग्रहिता आत्मा का स्वभाव है। उसमें ही सुख है, परंतु मैं शरीर, स्वजन आदि के बंधन में बंधा हूँ। इसलिए मैं परिग्रह का सम्पूर्ण त्याग नहीं कर सकता। फिर भी लोभ के कारण बढ़ती हुई मेरी तृष्णा की आग को अंकुश में रखने के लिए ही मैंने परिग्रह परिमाण व्रत को अपनाया हैं। इस व्रत के पालन द्वारा मैं सतत आसक्ति से दूर रहने का प्रयत्न करता हूँ ; तो भी विषय एवं कषाय के अधीन होकर कभी-कभी व्रत में दोष लगे उस प्रकार से धन-धान्यादि के संग्रह की दुष्ट वृत्तियाँ मेरे मन पर सवार हो जाती हैं। कभी-कभी वाणी एवं काया से भी व्रत मालिन्य पैदा हो ऐसा व्यवहार हुआ हैं। उन सबको याद करके उनकी निंदा, गर्हा एवं आलोचना करके उन पापों से मैं वापस लौटता हूँ।

प्राणांत कष्ट आने पर भी परिग्रह-परित्याग व्रत को पालनेवाले पेथडशाह, धन सेठ आदि पूर्व के महाश्रावकों के चरणों में मस्तक झुकाकर उनसे प्रार्थना करता हूँ कि आपके जैसे निरतिचार व्रतपालन का सत्त्व मुझ में भी प्रकट हो जिससे मैं भी सुविशुद्ध तरीके से व्रत में स्थिर रह सकूँ।'

चित्तवृत्ति का संस्करण :

धन आदि से मुझे सुख मीलता हैं, ऐसी भ्रामक विचार धारा के कारण ही लोभ के वश होकर साधक परिग्रह को मर्यादित नहीं कर पाता। इस गलत ख्याल से

मुक्त होने के लिए साधक को सोचना चाहिए की पीडाकारक ग्रहों की तरह परिग्रह भी धन, धान्य आदि नौ प्रकार के होते हैं। इन नौ प्रकार के परिग्रहों को आगम में अनेक तरह से तिरस्कृत किया गया है । जैसे कि,

● परिग्रह द्वेष[3] का घर है क्योंकि परिग्रह की ममता के कारण जब कोई अपनी संपत्ति पर नज़र डालता है या उसको नुकसाान पहुँचाता है तब उन पर द्वेष एवं दुर्भाव उत्पन्न होता है, उसके साथ दुश्मनी होती है।

● परिग्रह धृति का ह्रास करने वाला है, क्योंकि परिग्रह से प्राप्त हुई आपत्तियाँ धीरज का नाश करती है ।

● परिग्रह क्षमा का शत्रु है, क्योंकि परिग्रह को किसी भी प्रकार का नुकसान पहुँचाने वाले व्यक्ति के प्रति क्रोध आने के कारण जीवन में से सहनशीलता एवं क्षमा नष्ट हो जाते हैं ।

● परिग्रह विक्षेप का सर्जक है, क्योंकि परिग्रह के कारण परस्पर के संबंधों में, व्यवहार में विक्षेप पड़ने की शुरुआत हो जाती है।

● परिग्रह को मद का मित्र कहा है, क्योंकि परिग्रह बढ़ने से जैसे-जैसे अज्ञानी लोगों की तरफ से मान आदि मिलता है, वैसे-वैसे अहंकार एवं मद बढ़ता जाता है ।

● परिग्रह दुर्ध्यान का भवन है, क्योंकि परिग्रह के कारण सतत इष्ट वस्तु पाने की इच्छा एवं उसकी सुरक्षा आदि की चिंता से जीवन में आर्त्त-रौद्र ध्यान घर कर जाते हैं।

● परिग्रह स्वयं एक कष्टकारी शत्रु है। हम ऐसा मानते हैं कि परिग्रह एक मित्र की तरह तकलीफों में सहायक बनेगा, परंतु जीवन में जैसे-जैसे परिग्रह बढ़ता है वैसे-वैसे कष्टों का प्रारंभ होता जाता है। परिग्रह की प्राप्ति में, देखभाल में,

---

3 **द्वेषस्यायतनं धृतेरपचय: क्षान्ते: प्रतीपो विधि-,**
व्याक्षेपस्य सुहृन्मदस्य भवनं ध्यानस्य कष्टो रिपु: ।
दु:खस्य प्रभव: सुखस्य निधनं पापस्य वासो निज:,
प्राज्ञस्यापि परिग्रहो ग्रह इव क्लेशाय नाशाय च ।। - सूयगडांग सूत्र की टीका

संरक्षण में विविध प्रकार के शारीरिक, मानसिक, व्यवहारिक कष्ट उठाने पड़ते हैं; मूढ़ता के कारण ये कष्ट, कष्ट नहीं लगते, इसलिए परिग्रह मित्र नहीं शत्रु हैं।

● परिग्रह के कारण दु:ख का जन्म होता है एवं सुख का नाश होता है क्योंकि पैसे से मन की शांति और तन की स्वस्थता चली जाती है एवं अनेक प्रकार के रोग आते हैं।

● परिग्रह पापों का घर है क्योंकि वह बाकी के सत्रह पापों को खींच लाता है ।

● प्रज्ञावान लोगों को भी परिग्रह हैरान-परेशान कर डालता है, तो सामान्य लोगों का तो क्या कहना ? परिग्रह तो भूत-प्रेत की तरह क्लेश एवं विनाश का कारण बनता है।

● परिग्रह[4] न मिलने से कांक्षा-पाने की इच्छा, नष्ट होने पर शोक, मिलने के बाद रक्षण, उपभोग में अतृप्ति - जैसे दुर्भाव मन में बने रहते हैं, इसलिए परिग्रह के आगे पीछे एवं परिग्रह भुगतने में भी जीव दु:ख रूप बंधनों से नहीं छूट सकता।

ऐसे विचारों से श्रावक को अपनी त्याग भावना को ज्वलंत बनाना चाहिए।

---

4 परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षा – शोकौ, प्राप्तेषु च रक्षणम्,
उपभोगे चातृप्ति:, इत्येवं परिग्रहे सति दु:खात्मकाद्बन्धनान्न मुच्यत इति।

- सूयगडांग सूत्र की टीका

छठा व्रत

अवतरणिका :

श्रावक धर्मरूपी वृक्ष के मूल समान, पाँच मूल व्रतों को बताकर अब उनकी पुष्टि करने वाले तीन गुणव्रतों को बताते हैं -

गाथा :

गमणस्स य(उ) परिमाणे, दिसासु उड्ढं अहे अ तिरिअं च।
वुड्ढी सइ-अंतरद्धा, पढमम्मि गुणव्वए निंदे।।१९।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

उर्ध्वम् अधश्च तिर्यक् च दिक्षु गमनस्य च परिमाणे ।
वृद्धि-स्मृति-अन्तर्धा, प्रथमे गुणव्रते निन्दामि।।१९ ।।

शब्दार्थ :

('दिग्परिमाण' नाम के) पहले गुणव्रत में उर्ध्व, अधो एवं तिच्छीं दिशा में जाने का परिमाण निश्चित करने के बाद उस प्रमाण की वृद्धि होने से या उसे भूल जाने से प्रथम गुणव्रत में जो अतिचार लगे हों उनकी मैं (गर्हा) करता हूँ।

विशेषार्थ :

गमणस्स य(उ) परिमाणे - और गमनागमन के परिमाण में।

सम्यक्त्व मूलक बारह व्रतों में छठा व्रत **'दिग्परिमाणव्रत'** है। दिग् अर्थात् दिशा और परिमाण अर्थात् माप (प्रमाण)। चार दिशा, चार विदिशा, ऊर्ध्व दिशा एवं अधो दिशा, इस प्रकार दसों दिशाओं में जाने-आने का प्रमाण निश्चित करना 'दिग्परिमाण व्रत' नामका प्रथम गुणव्रत हैं। ये तीनों व्रत प्राणातिपात विरमण आदि जो मूल व्रत हैं उनको गुण (पुष्ट) करने वाले होने से गुणव्रत कहलाते हैं।

कहते हैं कि गृहस्थ अत्यंत तपे हुए लोहे के गोले[1] जैसा होता है। गर्म तप्त लोहे का गोला जहाँ जाता है, जिसके पास जाता है वहाँ उसको जलाता है; उसी प्रकार आरंभ-सभारंभ में बैठा हुआ गृहस्थ जहाँ जाता है वहाँ उससे हिंसादि पाप होने की पूरी संभावना रहती हैं। अत: हिंसा आदि से बचने के लिए श्रावक दिग्परिमाण व्रत स्वीकार करता है। श्रमण भगवंत निरारंभी है, और वे कहीं भी जाऐं तो जीव विराधना न हो इसकी पूर्ण सावधानी रखते हैं। इसलिए उनके लिए क्षेत्र नियम की आवश्यकता नहीं रहती।

---

1. **फारप्फुलिंगभासुर अयगोलगसन्निहो इमो निच्चं।**
अविरइपावो जीवो, दहइ समंता समत्थजिए ।।१ ।।
जइवि न जाइ सव्वत्थ, कोइ देहेण माणवो एत्थ।
अविरइपद्यबंधो, तहावि निच्चो भवे तस्स ।।२ ।। **- धर्मसंग्रह भाग -१**

पाप से विराम नहीं पाया हुआ जीव, धधकते अंगारे की तरह जाज्वल्यमान गर्म लोहे के मोटे गोले जैसा होता है, वह सदा सर्वत्र सब जीवों को जलाता है। वैसे तो कोई भी मनुष्य शरीर से सर्वत्र नहीं जा सकता, तो भी अविरति के कारण उसको हमेशा तीनों लोक का (आरंभजन्य) कर्मबंध होता रहता हैं। अन्यत्र भी कहा है कि -

तत्तायगोलकप्पो, पमत्तजीवोऽणिवारिअप्पसरो।
सव्वत्थ किं न कुज्जा, पावं तक्कारणाणुगओ ? ।।१ ।।

-योगशास्त्र प्र. ३-२ टीका

(अग्नि की भट्ठी में) तपे हुए लोहे के गोले के समान प्रमादी जीव, जिसने (दिग्विरमण व्रत से) गमनागमन का प्रसार नहीं रोका, वो जहाँ जाता है वहाँ सर्वत्र पाप के कारणों के मिलते रहने से कौनसा पाप नहीं करता ? अर्थात् सर्वत्र सब पाप करता हैं।

यह व्रत भी अहिंसक भावरूप आत्मा के मूलभूत स्वभाव को पुष्ट करने के लिए हैं। अहिंसक भाव की वृद्धि का इच्छुक श्रावक सोचता है कि *'निष्प्रयोजन इधर-उधर घूमने की इच्छा - यह एक प्रकार का रोग है। अविरति के प्रभाव से अगर मैं इस व्रत को स्वीकार नहीं करूँगा तो द्रव्य या भाव हिंसा से बचना मुश्किल है । इसलिए चौदह राजलोक में गमनागमन की बढ़ती हुई इच्छा पर अंकुश लगाकर मर्यादित क्षेत्र से बाहर नहीं जाने का नियम करूँ। ऐसे नियम के कारण मेरा मन उन बाहर के क्षेत्रों से निवृत होगा, लोभ मर्यादित होगा, उन बाहर के प्रदेशों में रहते हुए जीवों को मुझ से अभय दान मिलेगा, बाह्य वृत्तियों के घटने से मैं आत्माभिमुख हो सकूँगा और मुख्यतया* ***बाह्य दुनिया का विचरण रूकने से मेरे लिए अंतरंग दुनिया का विचरण सुलभ बनेगा।'*** ऐसा सोचकर श्रावक 'दसों दिशाओं में निश्चित प्रमाण से अधिक मुझे नहीं जाना' ऐसा नियम लेता हैं।

इस व्रत को ग्रहण करने के बाद जयणा के परिणाम को ज्वलंत रखने के लिए व्रतधारी श्रावक संभव हो तो वाहन का उपयोग नहीं करता। जहाँ वाहन बिना पहुँचना मुमकिन न हो वहाँ भी वह हो सके उतनी हिंसा से बचने का प्रयास करता है। इसलिए निरर्थक हिंसा से मुझे बचना है, ऐसा संकल्प एवं प्रयत्न हो तो ही इस व्रत का पालन हो सकता हैं।

यहाँ इतना खास ध्यान रखना है कि, व्रत का पालन मात्र काया से ही करना है ऐसा नहीं है परंतु नियमित क्षेत्र से बाहर जाते हुए मन तथा वाणी को भी रोकना है; क्योंकि जगत को देखने की, अलग-अलग स्थानों में घूमने-फिरने की जो तमन्ना है वही कर्मबंध का कारण है। इसलिए श्रावक इस व्रत के पालन द्वारा उस तमन्ना को भी नियंत्रित करता है। निश्चित किए हुए क्षेत्र की सीमा से आगे कभी न जाना, ऐसे नियमवाला श्रावक क्षेत्र की मर्यादा से बाहर स्वयं जाए, दूसरे को भेजे या वहाँ से कोई वस्तु मंगवाए या भेजे तो भी उसे दोष लगता हैं।

इस व्रत के पाँच अतिचार इस प्रकार हैं :

दिसासु उड्ढं - ऊर्ध्वदिशा में प्रमाण का अतिक्रमण।

ऊपर आकाश में, पर्वत की चोटी या वृक्ष के ऊपर जाने का जो प्रमाण निश्चित किया हो, उसका उल्लंघन करने से या उसे भूल जाने से प्रथम अतिचार लगता हैं।

अहे अ - अधोदिशा में प्रमाण का अतिक्रमण।

तहखानों, गुफाओं, सुरंगों, समुद्र वगैरह में नीचे जाने का जो प्रमाण निश्चित किया हो, उसका उल्लंघन करने से या भूल जाने से दूसरा अतिचार लगता हैं।

तिरिअं च - तिर्च्छी दिशा में प्रमाण का अतिक्रमण।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण : इन चार दिशाओं में एवं ईशान, अग्नि, नैऋत्य और वायव्य : इन चार विदिशाओं में जाने की जो मर्यादा निश्चित की हो उस मर्यादा से अधिक गए हों तो इस व्रत विषयक तीसरा अतिचार लगता है।

वुड्ढी - प्रमाण की वृद्धि।

दसों दिशाओं में आने-जाने के लिए प्रत्येक दिशा में सौ-सौ किलोमीटर की सीमा तक छूट रखकर इस व्रत का स्वीकार करने के बाद भी, कई बार, अचानक कोई आकस्मिक कार्य आने पर सबको मिलाकर एक ही दिशा में सौ किलोमीटर से अधिक जाना, यह चौथा अतिचार है।

सइअंतरद्धा - प्रमाण भूल जाने से।

दस में से किसी भी दिशा का जो प्रमाण निश्चित किया हो, वह व्याकुलता से, प्रमाद से या मतिविभ्रम से भूल जाने के कारण, निश्चित की हुई मर्यादा से बाहर जाना यह पाँचवाँ अतिचार है।

जिज्ञासा : इस व्रत में पाँच अतिचार बताए हैं। इसके बदले ऊर्ध्व अधो एवं तिर्च्छी दिशा में प्रमाण से अधिक जाना-आना ऐसा एक ही अतिचार बताया होता तो ?

उत्तर : सोचने से लगता है कि व्रत पालन की विशेष सावधानी के लिए प्रत्येक दिशा के आवश्यकतानुसार अलग-अलग अतिचार बताए होंगे। इसके अलावा कोई उल्लेख देखने में नहीं आया।

पढ़मम्मि गुणव्वए निंदे - प्रथम गुणव्रत में जो अतिचार लगे हों उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

इस व्रत को स्वीकारने के बाद अनाभोग से, सहसात्कार से या कुतूहलवृत्ति से कभी व्रत मर्यादा चूक गई हो, आवागमन की इच्छा पर कभी अंकुश न लग सका हो तो ये सब व्रत विषयक अतिचार हैं। इन सर्व दोषों को याद करके उनकी यहाँ निन्दा करनी है।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'आत्मभाव में रमण करने से, आत्मभाव में रहने से ही सच्चे सुख की प्राप्ति हो सकती है; तो भी अनादि कुसंस्कारों के कारण मेरा मन आत्मभाव को छोड़कर बाहर की दुनिया में ही भटकता रहता है। अन्य-अन्य क्षेत्र में जाने की निरंतर इच्छा करता रहता है, इसलिए दुनियाभर में घूमने-फिरने की एवं देखने की इच्छा पर अंकुश लगाने के लिए मैंने इस व्रत को स्वीकारा है।

इस व्रत को स्वीकार कर अखंड पालने की मेरी अंतर की भावना होते हुए भी रागादि कषायों की अधीनता एवं कुतूहलवृत्ति आदि के कारण मेरा मन व्रत मर्यादा से बाहर जाता है एवं कभी अनाभोग से, कभी व्रतमर्यादा के विस्मरण से, वाणी एवं काया से भी व्रत को दूषित करे ऐसे दोषों का सेवन हुआ हैं। ये सब मुझ से गलत हुआ हैं। इससे कर्म बाँधकर मैंने ही मेरा भव भ्रमण बढ़ाया हैं।

हे भगवंत! इन सब दोषों की मैं गर्हा करता हूँ, आलोचना करता हूँ, निन्दा करता हूँ एवं आनंद आदि श्रावक जिन्होंने अपने इकलौते पुत्र को बचाने के लिए भी प्रतिज्ञा तोड़ने का विचार नहीं किया एवं आई हुई अनेक विपदाओं को सहर्ष स्वीकारा, उनके चरणों में नतमस्तक हो प्रार्थना करता हूँ कि आपके जैसा सुविशुद्ध व्रतपालन का सत्त्व मुझमें भी प्रकट हो, जिससे पुनः पुनः मेरा व्रत इन दोषों से मलिन न बने !'

चित्तवृत्ति का संस्करण :

'दुनिया भर में घूमने फिरने की इच्छा से जीव बहुत सारे पापबंध का भागी बन जाता है', ऐसा जानते हुए भी अनादि कुसंस्कारों के कारण श्रावक अपनी घूमने-फिरने की इच्छा को रोक नहीं पाता । इसलिए वह यह व्रत ग्रहण करके अपने मन को नियंत्रण में लाने का प्रयत्न करता है । इस प्रयत्न को सफल करने और अनादि कुसंस्कारों में परिवर्तन लाने के लिए श्रावक को नीचे बताए विषयों पर बारबार चिंतन करना चाहिए ।

- मैं अपनी मौज-मस्ती के लिए हिल-स्टेशन, बाग-बगीचे, स्नो-फॉल्स, वॉटर फॉल्स जैसे प्राकृतिक सौंदर्य को देखने जाता हूँ, पर यह सब एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय जीव की अति दयनीय परिस्थिति हैं । किसी का दु:ख देखकर मुझे क्या मिलेगा ? क्या वनस्पति, पानी आदि के जीवों के दु:ख में सुखी होने की अधम वृत्ति मेरे लिए शोभास्पद है ?
- दूसरी बात यह है कि मैंने खुद भी अनेक बार इन स्थानों में जन्म लिया है । आज मुझे ऐसे स्थानों को देखने की उत्सुकता होती है, वे नवीन लगते हैं, पर ये सब स्थान मैंने भूतकाल में बहुत बार जाने हुए हैं ।
- अगर मैं ऐसी इच्छा को रोकुँगा नहीं तो मुझे निरर्थक कर्मबंध होता ही रहेगा और उसकी वजह मुझे एकेन्द्रिय के रूप में या नरकादि में जन्म लेना पड़ेगा । दिन दो दिन की मेरी काल्पनिक मौज मस्ती मुझे भवोभव तक मौज से दूर कर देगी ।
- प्राकृतिक सौंदर्य देखने में भी अगर इतना नुकसान है तो आज कल की होटले, देश-विदेश के सहेलगाह, Entertainment parks आदि की तो क्या बात करना ? वहाँ की विकृत चेष्टाओं से मेरे शील आदि संस्कारों का क्या होगा ?
- कई बार मैं कुतूहल वृत्ति से घूमने जाता हूँ तो कई बार ताज़गी का अनुभव करने या तो सिर्फ एक Social Status के लिए मानादि के कारण मैं देश-विदेश की सैर करता हूँ, पर उससे बंधे पाप के कारण मुझे कितने दु:खों का भागी बनना पड़ेगा यह मैंने सोचा है ?
- जहाँ तक में बाहर से आनंद प्राप्त करने में व्यस्त रहूँगा वहाँ तक मुझे भीतर का स्वाधीन आनंद कभी प्राप्त नहीं होगा । इसलिए तरह तरह के स्थानों के बारे में सोचकर नाहक का कर्मबंध रोकने के लिए मुझे अपनी इस मलिन वृत्ति में बदलाव लाकर आत्मा में स्थिर रहने का प्रयत्न करना चाहिए ।

सातवाँ व्रत

अवतरणिका :

अब सातवें व्रत का स्वरूप तथा अतिचार बताते हैं :

गाथा :

मज्जम्मि अ मंसम्मि अ, पुप्फे अ फले अ गंधमल्ले अ।
उवभोगपरी(रि)भोगे, बीयम्मि गुणव्वए निंदे।।२०।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

मद्ये च मांसे च पुष्पे च फले च गन्धमाल्ये च।
उपभोगपरिभोगे, द्वितीये गुणव्रते निन्दामि।।२०।।

गाथार्थ :

मदिरा, मांस, पुष्प, फल, सुगंधित पदार्थ, फूल की माला आदि के भोग-उपभोग के प्रमाण का निर्धारण करने रूप दूसरे गुणव्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो उसकी मैं निन्दा करता हूँ।

विशेषार्थ :

सम्यक्त्वमूलक बारह व्रतों में सातवाँ भोगोपभोग परिमाण नामका दूसरा गुणव्रत हैं। भोग का अर्थ भोगना, खुश होना, अनुभव करना इत्यादि होता है। शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये जड़ पदार्थों के धर्म हैं। उन गुणधर्मों को जीव इन्द्रियों के माध्यम से जान भी सकता है और उनका आनंद भी ले सकता है। मनोज्ञ शब्दादि पाँच विषयों के साथ इन्द्रियों का संपर्क होते ही अनादि कुसंस्कारों के कारण जीव को उनमें आह्लाद होता है और ये अच्छे हैं, मुझे सुख देने वाले हैं, ऐसा ममताकृत भाव होता हैं । **विषयों के संपर्क से होते हुए ये रागादि भाव ही निश्चयनय से भोग पदार्थ हैं** एवं आहार, वस्त्रादि का बाहर से उपयोग करना व्यवहार से भोग पदार्थ हैं।

भोगने योग्य पदार्थ दो प्रकार के हैं। उनमें जिनका एक ही बार उपयोग हो सकता है वैसे आहार, पुष्प आदि को भोग्य पदार्थ कहते हैं, एवं जिनका बारबार उपयोग हो सके ऐसे स्त्री, घर, वस्त्र, अलंकार आदि को उपभोग्य पदार्थ कहते हैं।

जड़ ऐसे आहार, वस्त्र, पात्र या अलंकार आदि के साथ चेतनमयी आत्मा का कोई संबंध नहीं होता। उनके भोग-उपभोग से आत्मा को कोई भी सुख नहीं मिलता। फिर भी सम्यग्ज्ञान के अभाव तथा मिथ्यात्व के गाढ़ संस्कारों के कारण जीव को 'दु:खकारक ऐसे पाँच इन्दियों के विषय सुखकारक हैं', ऐसा भ्रम होता है। इस भ्रम के कारण उसको पाँचों इन्द्रियों के विषय को प्राप्त करने की एवं भोगने की इच्छा निरंतर होती रहती है। **यह इच्छा ही सर्व दु:खों का मूल हैं।** भोग सामग्री प्राप्त होने पर या भोगने पर ये इच्छाएँ अल्प काल के लिए शांत हो जाती हैं। इस अल्पकालीन दु:ख के शमन में 'यह सुख है', ऐसा भ्रम होता हैं। वास्तव में यह सुख नहीं, दु:ख की अल्पता हैं। परंतु अज्ञान और मोह के कारण दु:ख की इस कमी को जीव सुख मानकर पुन: पुन: उसमें प्रवृत्ति करता हैं। जिसके कारण भोग सामग्री से सुख मिलता है, ऐसा उसका भ्रम पुष्ट होता जाता हैं। इस भ्रम की वजह से जीव वास्तविक आत्मिक सुख का आनंद नहीं ले सकता। अरे ! उस तरफ उसकी नज़र भी नहीं जाती।

इसीलिए प्रभु ने आत्मिक आनंद के प्रति जीव का आकर्षण जगाने के लिए, साधुओं के पास आराधना पूरक साधनों के अलावा तमाम साधनों का त्याग करवाया है, जब कि संसार में रहने पर भी विषयों का रस तोड़ सकें और 'बिना खाए बिना भोगे' जो फोकट, निष्प्रयोजन कर्मबंध होता है, उससे बचने के लिए संसारियों को भोगोपभोग परिमाण व्रत बताया हैं।

इस उद्देश्य को सामने रखकर यथाशक्ति भोग एवं उपभोग की वस्तुओं में संख्यादि रूप प्रमाण निर्धारण करना अर्थात् **भोग्य-उपभोग्य वस्तुओं की एक मर्यादा बांधते हुए, उससे अधिक न भोगने का संकल्प करना भोगोपभोग परिमाण व्रत है;** तथा भोग-उपभोग के साधन जिनसे प्राप्त होते हैं उस धन के उपार्जन के लिए, जिसमें महारंभ-समारंभ का पाप होता है, ऐसे व्यापार धंधे करने के लोभ को नियंत्रित करने के उद्देश्य से **कर्मादान के धंधे तो न ही करना ऐसा नियम लेना, वह भी भोगोपभोग परिमाण व्रत है।** इस प्रकार यह व्रत दो भागों में विभाजित हैं :

१) भोजन, वस्त्र, अलंकार आदि भोगोपभोग की सामग्री के नियंत्रण रूप।

२) व्यापार के नियंत्रण रूप।

इस व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक अपने निर्मल व्रत के विशुद्ध पालन के लिए भोग-उपभोग की अनर्थकारिता का सतत विचार करता है।

भोग-उपभोग की दु:खकारिता :

'भोग-उपभोग मुझे सुख देंगे' ऐसे भ्रम से प्रेरित जीव को सतत पाँचों इन्द्रियों के विषयों को प्राप्त करने की इच्छा होती रहती है। यह इच्छा भोग सामग्री के प्राप्त होने पर भी संतुष्ट नहीं होती, परंतु अनेक नवीन इच्छाओं को जन्म देती है। पुन: इन नवीन इच्छाओं की पूर्ति के लिए जीव भूत की तरह भटकता है, परंतु उसे अपनी अनंत इच्छाओं की तृप्ति हो उतने प्रमाण में भोग सामग्रियाँ कभी नहीं मिलतीं और कभी पुण्य के सहारे थोड़ी मिल भी जाएँ तो उससे कभी भी सच्चा सुख नहीं मिलता। अत: श्रावक को सम्यग्ज्ञान के सहारे स्वयं की इच्छाओं का नियंत्रण करना चाहिए; परंतु विषयों को भोगने द्वारा इच्छाओं को पूरी करने का व्यर्थ प्रयत्न नहीं करना चाहिए। इसी बात को बताते हुए महामहोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कहते हैं :

ईंधन[1] डालने से जैसे अग्नि शांत नहीं होती, वैसे ही इन्द्रियों के विषय द्वारा भोग की इच्छा कभी नाश नहीं होती, बल्कि उल्लसित हुई इच्छाएँ पुनः पुनः और अधिक उग्ररूप धारण करती है।

इसके अलावा जड़ पदार्थों का भोग किसी अन्य जीव के सुख को छीने बिना नहीं हो सकता। कोई भी भोग्य पदार्थ प्राप्त करने में पृथ्वी, जल, अग्नि, वनस्पति आदि संख्यात से लेकर अनंत जीवों का संहार करना पड़ता हैं। रागादि विकृत भाव बिना ऐसे सुख को भोगने की इच्छा नहीं होती और भोगने से रागादि भावों की वृद्धि हुए बिना नहीं रहती। अतः यह भोग द्रव्य हिंसा तथा भाव हिंसा दोनों का कारण बनता हैं।

तदुपरांत ये भोग्य पदार्थ अल्पकाल के लिए भ्रामक, काल्पनिक सुख देकर, क्लिष्ट कर्म बंधवाकर भविष्य में दुर्गति का सर्जन करके आत्मा को चिरकालीन, वास्तविक सुख से दूर करते हैं। वर्तमान में भी भोग से श्रम, चिन्ता, विह्वलता आदि अनेक प्रकार के दुःखों की संभावना रहती हैं। संक्षिप्त में कहें तो विषयों के भोग से प्राप्त होनेवाला सुख पराधीन, औपाधिक, अल्पकालीन, अपूर्ण, दुःखमिश्रित, दुःखमय, दुःख फलक, दुःख की परंपरा को बढ़ाने वाला एवं दुर्गति का बीज होता हैं।

भौतिक सुख की ऐसी दुःखकारिता का बोध होने पर भी अविरति के उदय के कारण श्रावक, साधु की तरह अभोगी नहीं रह सकता।

जिज्ञासा : श्रमण भगवंत भी आहार-वस्त्रादि का भोग तो करते ही हैं, तो उनको अभोगी कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर : संयमी भी जब तक शरीर एवं इन्द्रियों के साथ जुडे हुए हैं तब तक उनको भी आहार, वस्त्र, पात्र आदि बाह्य चीजों की जरूरत पड़ती हैं। उनका उपभोग उनको भी करना पड़ता है, तब उनकी इन्द्रियाँ भी आहारादि जड़ पदार्थों के संपर्क में तो आती हैं, परंतु उस समय श्रुत से भावित श्रमण भगवंत, परमात्मा के वचनों का आलम्बन लेकर अत्यन्त सावधान बन जाते हैं। इष्ट या अनिष्ट

---

1. **विषयैः क्षीयते कामो, नेन्धनैरिव पावकः।**
प्रत्युत प्रोल्लसच्छक्तिर्भूय एवोपवर्द्धते।। - अध्यात्मसार (अध्य.५ गाथा-४)

आहारादि की प्राप्ति में भी कहीं राग-द्वेष या अच्छे-बुरे भाव को उठने नहीं देते। संयम की साधना के लिए ज़रूरी हो उतने ही वस्त्र आदि शास्त्रानुसारी विधि से ग्रहण करते हैं। ग्रहण करने के बाद उनका उपभोग भी किसी जीव को पीड़ा न हो इस रीति से करते हैं। उपभोग करते समय उनका लक्ष्य उनके संयम की साधना का रहता है, नहीं कि इन्द्रियों के आनंद का। वस्त्रादि सर्व चीजों का उपयोग भी इस तरीके से संयम साधना के लिए ही होने पर, उनकी यह प्रवृत्ति भोगरूप नहीं बनती। इस कारण से वे आहार आदि लेते हुए भी अभोगी, उपवासी कहलाते हैं।

जिज्ञासा : विषयों के भोग से दूर रहनेवाले महात्मा के सच्चे आनन्द का, सुख का विषय क्या है ?

उत्तर : श्रमण भगवंत अपने आत्मिक गुणों में रममाण रहकर आनंद प्राप्त करते है। इस तरह गुणों का भोग करना श्रमण भगवंतों के सुख का विषय हैं। यह भोग स्वाधीन है, वास्तविक सुख का प्रदाता है। उसमें स्व-पर किसी को भी पीड़ा का प्रश्न नहीं आता एवं इस भोग के आनंद का अनुभव जीव सतत कर सकता है। क्षमा, नम्रता, संतोष आदि गुणों की प्राप्ति में, वृद्धि में और उनमें लीन रहने से जिस सुख की अनुभूति होती है वह शब्दातीत हैं। वह सुख भीतर में है, किसी पर आधारित नहीं एवं चिरस्थायी है, क्योंकि वह जीव का स्वभाव हैं। इसीलिए महात्मा बाह्य भोग की उपेक्षा कर सतत ज्ञानादि एवं समतादि गुणों के भोग के लिए प्रयत्न करते हैं। जितने अंश में इन गुणों की वृद्धि होती है उतने अंशों में उनके आनंद की मात्रा भी बढ़ती जाती हैं। उनके इस आनंद को कोई लूट नहीं सकता,कोई भी निमित्त उनके सुख को कम नहीं कर सकता। बाह्य प्रतिकूलताएँ भी उन्हें परेशान नहीं कर सकती। इस कारण से वे कहीं भी हों, कैसे भी निमित्तों के बीच रहते हों, तो भी आनंद एवं मस्ती का जीवन जीते हैं।

इसलिए ही भगवान ने आत्मिक गुणों के भोग पर कोई अंकुश नहीं लगाया; परंतु जो भोग जीव के लिए दुःखकारक है, उसी भोग का नियंत्रण करने के लिए इस व्रत का विधान किया हैं।

श्रावक को भी साधु जैसे निर्लेपभाव वाला जीवन अत्यंत प्रिय होता है एवं उसके लिए वह सतत प्रयत्नशील भी रहता है; तो भी अभी उसमें ऐसा सत्त्व नहीं होता कि वह संयम जीवन स्वीकार कर सके। इस कारण से ऐसे जीवन का लक्ष्य

रखकर, अपनी शक्ति एवं संयोगों का विचार करके भोगोपभोग को नियंत्रण में लाने के लिए श्रावक यह व्रत स्वीकार करता है।

व्रतधारी के आचार :

भोगोपभोग परिमाण व्रत का स्वीकार कर व्रतधारी श्रावक, उत्सर्ग मार्ग से, जिसमें अपने निमित्त आरंभादि (हिंसादि) न हुआ हो वैसा निर्दोष आहार उपभोग में लेते हैं। निर्दोष आहार न मिलने पर अल्प आरंभ से बना हुआ आहार उपयोग में लेते हैं और उसमें भी सचित्त का त्याग करते हैं, क्योंकि सचित्त जल या सचित्त आहार विकार उत्पन्न करते हैं और 'ये जीव हैं' ऐसी प्रतीति होने पर उसे खानेवाले के परिणाम क्रूर और हिंसक बनते हैं। अचित्त आहार मिलने का संयोग न होने पर और निर्धारित समय से ज़्यादा टिकने का अपना सामर्थ्य या धैर्य न हो तब अथवा अपनी इच्छा को रोकना मुमकिन न लगता हो तब, कभी सचित्त भोजन या पानी लेना पड़े, तो भी निश्चित प्रमाण से अधिक तो मुझे लेना ही नहीं है ऐसा नियम लेते हैं। सचित्त में भी शास्त्रकारों ने जिनका निषेध किया है वैसे मांस, मदिरा आदि ग्रहण नहीं करते। ऐसा होने पर भी राजकुलों, क्षत्रियकुलों आदि में जन्म लेने के कारण दृढ़ हुए कुसंस्कारों की मजबूरी से कभी सद्दंतर ऐसी चीज़ों का त्याग न हो सके, तो भी श्रावक मद्य-मांस आदि अभक्ष्य चीजों की खराबी का विचार कर उनका प्रमाण निश्चित करके मर्यादित तो करते ही हैं।

मद्य और मांस जैसे श्रावकों के लिए वर्ज्य है, उसी प्रकार २२ प्रकार के अभक्ष्य[2] भी श्रावक के लिए वर्ज्य हैं :

---

2. जैन धर्म से भावित आत्मा नीचे के २२ अभक्ष्य पदार्थों का त्याग करती है।

१) वड का फल (Banyan's Fruits) २) पीपल का फल (Fig trees's fruit) ३) प्लक्षजाति के पीपल का टेटिआ ४) उंबरा का टेटा ५) काकोदुंबर का टेटा	ये पांच उदुंबर जाति के फल हैं जिनमें छोटे-छोटे बहुत जंतु होते हैं।
६) हरेक प्रकार की शराब (All types of wine)	मादक है, बुद्धि को विकृत करने वाली है, तमोगुण की वृद्धि करती है एवं हिंसा का कारण है।

इस कारण से उनकी भी खराबी का विचार करके श्रावक को उनका अवश्य त्याग करना चाहिए, क्योंकि धर्म की आधार शिला आचार हैं। आचार का आधार क्रियाशुद्धि हैं। क्रियाशुद्धि का आधार भावनाशुद्धि है एवं भावनाशुद्धि का आधार आहारशुद्धि हैं। अत: जीवन में आहारशुद्धि हो तो धर्म आ सकता हैं।

७) हर प्रकार का मांस (meat)	बुद्धि को मंद करने वाला, तमोगुण की वृद्धि करनेवाला एवं हिंसा का प्रधान कारण है।
८) मधु (honey)	मधु में तुरंत एवं मक्खन में छाछ में से बाहर निकालने के बाद उसी रंग के असंख्य सूक्ष्म त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है।
९) मक्खन (Butter)	
१०) बरफ (Ice)	असंख्य अप्काय जीवमय है।
११) करा (Hailstones)	
१२) विष (Poison)	प्राणों का नाश करनेवाला है ।
१३) सब प्रकार की मिट्टी (Soil)	सचित्त है एवं प्राण-धारण के लिए अनावश्यक है।
१४) रात्रि भोजन (Eating after Sunset)	जीवहिंसादि बहु-दोषपूर्ण है।

कलिकाल सर्वज्ञ पू. हेमचन्द्रसूरीश्वरजी महाराज ने आयुर्वेद शास्त्र के आधार से कहा है :

हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चण्ड रोचिरपायत:
अतो नक्तं न भोक्तव्यं, सूक्ष्मजीवादनादपि ॥६०॥ - योगशास्त्र

सूर्य के अस्त होने पर शरीर में जो नीचे मुख वाला हृदय कमल एवं ऊँचे मुखवाला नाभि कमल है, वे दोनों कमल रात्रि में संकुचित हो जाते हैं एवं इसके अतिरिक्त रात्रि में सूक्ष्म जीवों का भक्षण भी हो जाता हैं। इसलिए रात्रिभोजन नहीं करना चाहिए।

वासरे च रजन्यां, य: खादन्नेव तिष्ठति।
शृङ्ग-पुच्छ-परिभ्रष्ट: स्पष्टं स पशुरेव हि ॥६२॥ - योगशास्त्र

दिन या रात्रि का भेद किए बिना जो खाता रहता है, वह सिंग एवं पूंछ बिना का होने पर भी सच्चे अर्थ में पशु ही है।

१५) बहुबीज (Fruit or vegetables with lots of seeds)	जिसमें ज्यादा हिंसा होती हो।

१६) अनंतकाय

बत्तीस अनंतकाय : १) सब प्रकार के कंद, सूरण वगैरह (All kinds of roots, esculent roots) २) वज्र कंद (Sweet Potato) ३) लीली हलदर (Fresh/Green turmeric buds) ४)ताजा

इस व्रत को स्वीकार करके श्रावक भोजन संबंधी अनेक नियम पालते ही हैं, परंतु इसके उपरांत जिनसे स्वपर का मन विकार युक्त बने, अत्यंत आसक्ति पैदा हो, उन्माद हो, लोक निन्दा का कारण बने ऐसा उद्भट (असभ्य) वेष, वाहन, अलंकार आदि भोगोपभोग के साधनों का भी श्रावक को नियम लेना चाहिए ।

भोगोपभोग की किन सामग्रियों में श्रावक नियम करता है उसे बताकर अब उनमें लगे दोषों की इस गाथा द्वारा निन्दा करते हैं।

मज्जम्मि अ मंसम्मि अ - मदिरा, मांस एवं 'अ' शब्द से मधु, मक्खन आदि सर्व अभक्ष्य एवं अनंतकाय वस्तुएँ।

मज्जम्मि अ - मदिरा आदि नशाकारक वस्तुओं के विषय में।

जिसके सेवन से नशा चढ़े याने मनुष्य स्वयं पर नियंत्रण खो बैठे उस द्रव्य को मदिरा कहते हैं। पूर्वकाल में तो मुख्यतया काष्ट एवं पिष्ट (आटा) ऐसी दो प्रकार

अदरक (Fresh/Green ginger) ५) हरा कचूरा (Long zedoari) ६) शतावरी (Asparagus) ७) विरालिका, ८) कुंवरपाठ (Aloevera) ९) थोर (Prickly pear, Shipper thorn) १०) गलो (Heartlived moonseed) ११) लहसुन (Garlic) १२) वांसकरेला, १३) गाजर (Carrot) १४) लूणी (Purslen) १५) पद्मिनी कंद, १६) गरमर १७) कूंपणो, १८) खीरसूरा, १९) थेग कि भाजी, २०) हरी मोथ (Fresh/Green nutgrass) २१) लवण नामक वृक्ष की छाल २२) खिल्लुडकंद २३) अमृतवेल, २४) मूली का कंद (Raddish) २५) कुकुरमुत्ता/छत्रक (Mushrooms) २६) दलहन को भिगोने से निकलते अंकुर अँखुआ (फुनगीवाले मूँग आदि Sprouts) २७) वत्थुला (White goose foot) २८) शूकरवल्ली २९) पालक की भाजी (Spinach) ३०) कच्ची इमली (Soft or just developed tamarind fruit) ३१) आलू कंद (Potato) ३२) प्याज़ (Onion)

मात्र ये बत्तीस ही अनंतकाय नहीं, परंतु 'जीवविचार' में कहे हुए **'गुढ़सिरसंधिपव्वं समभंगमहिरुगं च छिन्नरुहं'** आदि लक्षणों वालें अन्य भी अनंतकाय है और वे सब अभक्ष्य हैं एवं नरक आदि दुर्गति के द्वार हैं।

१७) बोल अचार (Pickles) तीन दिन बाद अभक्ष्य हैं।

१८) घोलवडा (दही वड़ा) दलहन (द्विदल) एवं कच्चे दही के संयोग से बनता है इसलिए द्विदल होता है। इससे हरेक प्रकार के द्विदल अभक्ष्य हैं ऐसा समझ लेना ।

१९) बैंगन (Brinjal) : काम वृत्ति-पोषक एवं बहु निद्रा का कारण है तथा बहुबीज है।

२०) अनजान फल-फूल (Unknown fruits) : प्राण हानि तथा रोगोत्पत्ति की संभावना है।

२१) तुच्छ फल : खाने का कम और फेंकने का अधिक है।

२२) चलित रस : वर्ण, गंध, रस, स्पर्श बदल जाते हैं।

की मदिरा बनती थी। आज तो अनेक द्रव्यों में से अनेक प्रकार की मदिरा बनती हैं। ऐसी मदिराओं के सेवन से जीव अपना संतुलन खो बैठता है, जिसके कारण उसमें महामोह क्लेश, निद्रा, रोष उत्पन्न होता हैं। हर जगह वह मज़ाक का पात्र बनता है। अनेक प्रकार के काम विकारों का भी वह भोग बनता है। परिणाम स्वरूप उसकी लज्जा, लक्ष्मी, बुद्धि एवं धर्म का नाश होता है एवं उसको भवांतर में भी दुर्गति में जाना पड़ता है। इसके अतिरिक्त मदिरा, मांस, मधु एवं मक्खन में उसी रंग के ही जीव सतत पैदा होते हैं। इन सब दूषणों का विचार करके श्रावक को मदिरा, मांसादि का पूर्णतया त्याग कर देना चाहिए। यहाँ विशेष ध्यान रखना है कि शास्त्रकारों ने शहद एवं मक्खन को भी मदिरा एवं मांस की तरह ही हिंसक महाविगई कहा है। इसलिए श्रावक को उसका तो अवश्य त्याग कर देना चाहिए।

मंसम्मि अ : मांस प्रसिद्ध है। जलचर, स्थलचर एवं खेचर जीवों के भेद से उनका मांस भी तीन प्रकार का होता हैं। कच्चे, पके हुए या पकते हुए मांसपेशिओं में निरंतर निगोद के जीवों की उत्पत्ति होती हैं। निर्दोष, निरपराधी जीवों को मार कर मांस का भक्षण करने वाले जीव नरकगामी बनते हैं। मांस भक्षण का निषेध जैन एवं जैनेतर शास्त्रों में अनेक जगह देखने को मिलता हैं। इसी कारण से श्रावक मांस भक्षण का त्याग करता हैं।

मांस भक्षण का त्याग करने के बाद श्रावक सतत नियम पालन में सावधान होता है, तो भी दवाई वगैरह लेने में, अनजाने में, अनुपभोग से कोई दोष लगा हो तो इस पद द्वारा उनकी निन्दा करता है।

अ : अ शब्द द्वारा बाईस अभक्ष्य और बत्तीस अनंतकाय का ग्रहण करना हैं।

पुप्फे अ फले अ गंधमल्ले अ - पुष्प, फल एवं 'अ' शब्द से अनजान फल-फूल तथा सुगंधी द्रव्य एवं माला के विषय में।

पुप्फे अ - अनेक प्रकार के फूल एवं **'अ'** शब्द से अनजान फूल तथा जिनमें त्रस जीवों की ज्यादा उत्पत्ति हो वैसे फूल।

फूल कभी खाने में तथा विशेषकर सुशोभान और शृंगार के लिए उपयोग में आते हैं। वैसे फूलों के उपभोग का त्याग अथवा नियम लेना चाहिए।

फले अ - अनेक प्रकार के फल एवं **'अ'** शब्द से अनजाने फल।

सीताफल जैसे तुच्छ फल एवं जिनमें त्रस जीवों की उत्पत्ति अधिक प्रमाण में होती हो वैसे बेर, जामुन वगैरह फलों का त्याग करना अथवा उनके उपभोग का प्रमाण निश्चित करना।

गंध - केसर, कस्तूरी, कपूर, पर्फ्युम, अत्तर, कोलोन, आदि अनेक प्रकार के सुगंधित द्रव्य का त्याग या नियंत्रण करना।

मल्ले य : फूल वगैरह की मालाओं एवं माला के उपलक्षण से शरीर शृंगार के लिए जो साधन-सामग्रियाँ हों उनका प्रमाण निश्चित करना।

इस जगत में भोगोपभोग की सामग्री संख्यातीत हैं। उन सबके नाम इस गाथा में नहीं है, **'मज्ज'** आदि शब्द से शरीर के अन्दर की भोग सामग्रियों का संग्रह किया है एवं **गंधमल्ले** शब्द से बाह्य भोग की सामग्रियों का संग्रह किया हैं। इसलिए इस गाथा में लिखी हुई वस्तुओं के अलावा खाने-पीने की वस्तुएँ तथा वस्त्र, पात्र, शय्या आदि का प्रमाण निश्चित करना चाहिए। इसके लिए दिन और रात्रि के भोगोपभोग की सामग्री का प्रमाण मर्यादित करने हेतु श्रावक सदैव चौदह नियम[3] लेते हैं।

---

3. संपूर्ण भोगोपभोग विरमण व्रत न पाल सके तो भी अविरति के बहुत से पापों से बचने के लिए श्रावक सचित्त त्याग आदि **चौदह नियम** धारण करता है, जो सामान्य से इस प्रकार हैं :

१) सचित्त : सजीव वस्तु, कच्चा पानी, फल, नमक आदि की संख्या का नियम करना।

२) द्रव्य : मुँह में डालने वाली हरेक चीज़, वस्तु की संख्या निश्चित करना।

३) विगई : दूध, दही, घी, तेल, गुड़-शक्कर एवं कढ़ाई का नियम लेना।

४) उपानह : जूते, चप्पल आदि की संख्या निर्धारित करना।

५) तंबोल : मुखवास-सुपारी-सौंफ-धानादाल आदि का संख्या से या वजन से, प्रमाण निश्चित करना।

६) वस्त्र : पहनने के वस्त्रों के जोड़े, छूटे कपड़े आदि की संख्या निर्णित करना।

७) कुसुम : सूंघने की वस्तु, तपकिर, फूल, अत्तर आदि का प्रमाण निश्चित करना।

८) वाहन : ट्रेन, बस, मोटर, गाड़ी, सायकल, रिक्शा, विमान, लिफ्ट आदि की संख्या का नियम लेना।

९) शयन : पलंग-बिछौना, कुर्सी आदि की संख्या निश्चित करना।

चौदह नियम लेने वाला श्रावक सोचता है कि 'दुनिया भर के भोगपदार्थों में से मैं मात्र बिन्दु जितना ही भोग करता हूँ, परंतु सर्व पदार्थों को भोगने की, उसके द्वारा सुख प्राप्त करने की अव्यक्त इच्छा तो मुझ में पड़ी ही है। निमित्त मिलने पर, शक्ति एवं संयोग प्राप्त होने पर, ये इच्छाएँ कभी भी व्यक्त हो जाती हैं, तब मेरा अनियंत्रित मन, यहाँ-वहाँ अथवा किसी भी वस्तु के, भोग के लिए ललचा जाता है । इस चंचल एवं लालची मन को नियंत्रित करने के लिए मुझे यह व्रत तथा चौदह नियमों का स्वीकार करना हैं।'

अभी तक मेरे मन पर कोई काबू नहीं होने के कारण दुनिया भर की चीज़ों के साथ मेरा संबंध रहता हैं। उनसे संबंधित विचार एवं चिंतन भी चलता रहता है। मैं जानता हूँ कि मात्र काया के भोग से कर्मबंध होता है ऐसा नहीं है, परंतु भोग संबंधी बातों या विचारों से भी कर्मबंध चालू ही रहता है। इस कर्मबंध से अपने

१०) विलेपन : शरीर को लगाने वाले साबुन-तेल-दवा आदि का वजन निश्चित करना।

११) ब्रह्मचर्य : दिन के समय पूर्णतया ब्रह्मचर्य तथा रात्रि के समय में पूर्ण अथवा अमुक समय का नियम लेना।

१२) दिशा : आने-जाने की दिशा का नियम लेना।

१३) स्नान : स्नान करने की संख्या निश्चित करना।

१४) भक्तपान : खाने-पीने की चिज़ो का वजन निश्चित करना।

चौदह नियम करने के उपरांत विशेष धारणा

१) पृथ्वीकाय - मिट्टी-खार, नमक आदि का वजन निर्धारित करना।

२) अप्काय - कच्चा पानी आदि का प्रमाण बाल्टी अथवा वजन से निर्धारित करना।

३) तेउकाय - बिजली-चूल्हा आदि के नियम लेना।

४) वायुकाय - पंखा-झूला आदि की संख्या निश्चित करना।

५) वनस्पतिकाय - हरी सब्जी, फल आदि की संख्या निश्चित करना।

६) त्रसकाय - चलते-फिरते जीवों की जयणा करना।

७) असिकर्म - हथियार, चाकू, कैंची आदि की संख्या का नियम लेना।

८) मसिकर्म - लिखने के साधन जैसे पेन-पेंसिल आदि की संख्या निश्चित करना।

९) कृषिकर्म - खेती के साधन जैसे हल-कुदाली-फावड़ा वगैरह की संख्या का नियम लेना।

चौदह नियम विषयक विशेष जानकारी गुरूभगवंत से लेनी चाहिए।

आपको बचाने के लिए और दुनिया भर के पदार्थों के प्रति आसक्ति एवं ममत्वभाव को तोड़ने के लिए मैं यह नियम ग्रहण करना चाहता हूँ।

मेरी आवश्यकता २० द्रव्य की हो, और यदि 'मैं ५० द्रव्य से अधिक का उपयोग नहीं करूँगा' - ऐसा नियम करुँ तो मेरे लिए नियम का पालन करना अत्यंत सरल बन जाएगा और फिर हरेक वस्तु का उपयोग करते समय जो नियम की स्मृति होनी चाहिए वह नहीं होगी। इसलिए मुझे तो २० द्रव्यों की ज़रूरत हो तो १५ द्रव्यों से अधिक द्रव्यों का उपयोग मैं नहीं करूँगा - ऐसा नियम लेना है, जिससे नियम की संकुचितता के कारण मेरे मन को नियंत्रण में लाने का मेरा मुख्य उद्देश्य खयाल में रहे एवं बेकार की रखी छूट से अधिक कर्मबंध भी न हो।

नियम से अधिक चीज़ें तो मुझे उपयोग में लेनी ही नहीं हैं, परंतु मर्यादित वस्तुओं के उपभोग में भी मुझे रागादिकृत भावों से बचने का प्रयत्न करना हैं।

परम कृपालु परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि, 'रोज़-रोज़ मेरे नियमों को संक्षिप्त करके मैं ऐसी शक्ति पैदा कर सकूँ कि जल्दी से जल्दी साधु जैसा निर्लेप जीवन स्वीकार कर सकूँ।'

उवभोगपरी(रि)भोगे बीयम्मि गुणव्वए निंदे - भोगोपभोग परिमाण नाम के दूसरे गुणव्रत में यदि कोई दोष लगा हो तो उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

इस रीति से भोगोपभोग की सामग्री का नियंत्रण करने के बाद, कभी अनाभोग से या प्रमादादि दोषों से व्रत की मर्यादा टूट गई हो या व्रत द्वारा आसक्ति घटाने का लक्ष्य चूक गया हो, तो उन सर्व दोषों को याद करके इस गाथा का उच्चारण करते हुए उनकी निन्दा करनी चाहिए।

चित्तवृत्ति का संस्करण :

विषयों की ओर चल रही अपनी पागल दौड़ को रोकने के लिए श्रावक को नित्य नीचे दिए गए विषयों पर विचार करके हृदय को वैरागी बनाने का प्रयास करना चाहिए।

- विविध शास्त्रों में से भोग-उपभोग की अनर्थकारिता को बारबार पढ़कर, उस पर चिंतन करना चाहिए।

- अपना स्वभाव ज्ञानादि गुणों को भोगने का है, जड़ वस्तु को भोगने का नहीं। जड़ वस्तु का भोग तो शरीर और इन्द्रियों के कारण करना पड़ता हैं।
- विषयों की आसक्ति के कारण हमको हरेक प्रकार का पाप करना पड़ता है और इस कारण ही स्नेही, स्वजनों के साथ क्लेश होता हैं।
- विषयों की आसक्ति कषायों का उद्गम स्थान हैं।
  - ✦ इच्छित विषयों के न मिलने पर ही **क्रोध** आता हैं।
  - ✦ इच्छित विषयों के मिलने पर 'दूसरे की अपेक्षा मैं कुछ विशेष हूँ' - ऐसा **मान** होता हैं।
  - ✦ मनोज्ञ विषयों को प्राप्त करने एवं रक्षा करने में **माया** करनी पड़ती हैं।
  - ✦ विषय का सुख एक बार प्राप्त होने के बाद वह बारबार प्राप्त करने की इच्छा स्वरूप **लोभ** की सतत वृद्धि होती हैं।
- मनोज्ञ विषयों के प्राप्त होने पर राग अधिक दृढ़ बनता हैं। उससे गाढ़ कर्मों का बंध होता हैं।
- विषयों का सुख विषमिश्रित स्वादिष्ट भोजन जैसा हैं। वह देखने में तो अत्यंत रमणीय लगता है परंतु परिणाम प्राणघातक होता हैं।
- विष तो द्रव्य प्राणों का नाश करके एक भव बिगाड़ता है, जबकि विषय तो भावप्राण का नाश कर भवोभव बिगाड़ने का काम करता हैं।
- विष तो जीभ के साथ स्पर्श के बाद मारता है जबकि विषय का तो विचार मात्र भी मारता हैं।
- विषय, कषाय को जानकर उनमें वैराग्यभाव पैदा करने के लिए हरेक श्रावक को **इन्द्रिय पराजय-शतक, वैराग्य शतक, ज्ञानसार, योगशास्त्र - चौथा प्रकाश, अध्यात्म कल्पद्रुम, शान्त सुधारस** जैसे ग्रंथों का सतत श्रवण, मनन, चिंतन करना चाहिए। उसके द्वारा मन को ऐसा तैयार करना चाहिए कि मन वैषयिक भावों से परे होकर आध्यात्मिक भावों में विचरण करे एवं उसी में लीन रहे।

अवतरणिका :

सामान्य से भोग-उपभोग परिमाण में लगे दोषों की निन्दा करके, अब सचित्त के त्यागी श्रावक को उस विषय में लगे अतिचार बताते हैं। उसके द्वारा त्याग की गई अन्य वस्तु विषयक अतिचारों का भी यथा संभव विचार कर लेना चाहिए।

गाथा :

सच्चित्ते पडिबद्धे, अपोल-दुप्पोलिअं च आहारे।
तुच्छोसहि-भक्खणया, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।२१।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

सचित्ते प्रतिबद्धे, अप्रज्वलित-दुष्प्रज्वलित आहारे।
तुच्छ-औषधि-भक्षणात्, दैवसिकं सर्वं प्रतिक्रामामि ।।२१।।

गाथार्थ :

१) सचित्त आहार, २) सचित्त से जुड़ा हुआ आहार, ३) अनपका आहार, ४) अधपका आहार, ५) तुच्छ औषधि भक्षण : इन पाँच अतिचारों में से जो कोई भी अतिचार दिनभर में लगा हो तो उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

सच्चित्ते - सचित्त आहार का उपयोग करना।

सचित्त आहार का त्याग करने के बाद, उसका प्रमाण निश्चित करने के बाद, अनजाने में या जल्दी में सचित्त का उपयोग किया हो अथवा प्रमाण से अधिक ले लिया हो तो वह प्रथम अतिचार हैं।

(सचित्त) पडिबद्धे - सचित्त के साथ जुड़ी हुई अचित्त वस्तु का उपयोग।

सचित्त आहार का त्याग करने के बाद विशेष ज्ञान न होने के कारण पके हुए फल का गर्भभाग अचित्त होता है ऐसा मानकर, उसका बीज निकाल कर गर्भभाग तुरंत ही खा लेने से व्रत में अतिचार लगता हैं । इसमें सचित्त के उपयोग की इच्छा नहीं है, परंतु मान्यता ऐसी है कि गर्भ तो सचित्त नहीं है इसलिए अतिचार ही

लगता है, परंतु सचित्त है ऐसी जानकारी होते हुए भी उसका उपयोग किया जाए तो व्रत भंग होता है।

अपोल (अपक्वौषध्याहार) - नहीं पकाया हुआ आहार।

अग्नि से संस्कारित नहीं किए गए गेहूँ आदि धान्य का आटा सचित्त होता है, उस को अचित्त मानकर उपयोग करना, यह तीसरा अतिचार हैं।

अनाज को पीसकर उसका आटा बनाया हो तो भी वह आटा कुछ समय तक सचित्त रहता है। इस बात का ख्याल न होने से अब वह अचित्त हो गया है, ऐसा मानकर उसका उपयोग करने से सचित्त त्यागी को अतिचार लगता है। इसलिए जिसने सचित्त का त्याग किया हो उसको ऐसी हरेक बात का ख्याल रखना चाहिए।

दुप्पोलिअं च आहारे (दुषपक्वौषध्याहार) - अधपका पकाया हुआ आहार।

अर्ध भुंजे हुए पोंक, चने तथा मूंगफली आदि को अचित्त मानकर उपयोग करना यह चौथा अतिचार है।

तुच्छोसहि-भक्खणया - जिसमें खाने का थोड़ा हो और फेंकने का अधिक हो ऐसी तुच्छ औषधि आदि को खाने से।

सीताफल आदि तुच्छ फलों का अथवा मूँग, चोलाई, फली आदि की कोमल गुदा (शींगो) को भक्षण करने से यह अतिचार लगता हैं। ऐसी वनस्पतियों को अचित्त करके उपयोग करे तो भी दोष लगता हैं। तुच्छ फलों में खाने का कम होता है और कोमल फली शींग आदि से मात्र स्वाद ही पुष्ट होता है, अत: अचित्त भोगी को ऐसी अचित्त वस्तुएँ भी छोड़ देनी चाहिए। 'मुझे तो सचित्त का त्याग है, अचित्त की छूट है,' ऐसा मानकर अगर उनका उपयोग किया हो तो व्रत का भंग नहीं होता, परन्तु आसक्ति घटाने का व्रत का मूल ध्येय चूक जाने से दोष-अतिचार तो अवश्य लगता है।

भोग्य चीज़ों के बारे में ये पाँच अतिचार बताएँ हैं। वैसे ही वस्त्र, अलंकार आदि उपभोग्य चीज़ों में भी यह मर्यादा बाँधकर, उनमें भी अतिचार न लगे उसकी विशेष सावधानी श्रावक को रखनी चाहिए।

पडिक्म्मे देसिअं सव्वं - दिनभर में लगे सब पापों का प्रतिक्रमण करता हूँ।

श्रावक जिनका त्याग करता है, उन सचित्त वस्तु मात्र को ध्यान में रखकर इस गाथा में अतिचार बताए हैं, परंतु उसके उपलक्षण से अन्य भी जिन वस्तुओं का श्रावक ने त्याग किया हो अथवा जिसका प्रमाण निश्चित किया हो वैसी वस्तुओं से संबंधित अतिचारों का यथासंभव विचार कर लेना चाहिए। जैसे कि मांस, मदिरा, शहद आदि वस्तुओं का त्याग किया हो, परंतु अनाभोग से या अनजाने में उन वस्तुओं का उपयोग हो गया हो, किसी वस्तु के साथ ऐसी चीज़ें जुड़ी हों या दवा आदि में इनका उपयोग हो गया हो तो वे सभी व्रत में अतिचार स्वरूप हैं।

इसी तरह अन्य किसी भी वस्तु के त्याग या नियमन की प्रतिज्ञा की हो और दिन में उन त्याग की हुई वस्तु विषयक ऐसे छोटे बड़े किसी भी अतिचारों का जानते या अजानते सेवन हुआ हो, तो उन सब दोषों को याद करके श्रावक उनकी आलोचना, निन्दा एवं गर्हा करता हैं। ऐसा करने से वह अपने मन को इस प्रकार तैयार करता है कि पुन: पाप का आसेवन ही न हो। इस प्रकार पाप के अकरण रूप प्रतिक्रमण करने की अपनी इच्छा को साधक इस पद द्वारा प्रकट करता हैं।

इन दोनों गाथाओं का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'जड़ वस्तुओं का भोग-उपभोग करना मेरा स्वभाव नहीं है। ऐसा मैं जानता हूँ, फिर भी श्रमण भगवंतो की तरह भोग बिना या ज़रूरी भोग करना पड़े तब भी उनके प्रति भी निर्लेप भावयुक्त रहने का मेरा सामर्थ्य नहीं है। ऐसी शक्ति प्रकट करने के लिए मैंने भोगोपभोग परिमाण व्रत स्वीकार किया है और इस व्रत का अखंड पालन करने की भावना से यथाशक्ति प्रयत्न भी किया है, तो भी प्रमादादि दोषों के कारण तथा इच्छाओं के ऊपर अंकुश न लगा सकने के कारण दिन में अनेक बार मैंने मेरे व्रत को मलिन किया हैं। कभी खाने में, तो कभी पहनने ओढ़ने की चीज़-वस्तुओं के प्रति मेरा मन आकर्षित हुआ है, कभी वैसा बोलना-चालना भी हो गया है एवं कभी काया भी उसमें जुड़ गई हैं। इन सब अतिचारों को याद करके, उनसे भी वापस आने के लिए सर्वथा भोगोपभोग से रहित महामुनियों के चरणों में प्रणाम करता हुआ प्रार्थना करता हूँ कि 'हे भगवंत ! आपके जैसी निर्मल मनोवृत्ति एवं शक्ति मुझे भी प्राप्त हो, जिससे मैं भी निरतिचार व्रतपालन में स्थिर

हो पाऊँ एवं आपके जैसा जीवन जीकर सर्वथा जड़ वस्तुओं के भोगोपभोग रहित अनाहारी पद प्राप्त कर सकूँ।'

अवतरणिका :

भोगोपभोग परिमाण व्रत में आहार संबंधी अतिचारों को बताकर, अब वाणिज्य संबंधी अतिचारों को इन दो गाथाओं द्वारा बताते हैं -

गाथा :

इंगाली-वण-साडी-भाडी-फोडी सुवज्जए कम्मं।
वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस-विस-विसयं ।।२२।।

एवं खु जंतपीलण (पिल्लण)-कम्मं निल्लंछणं च दव-दाणं।
सर-दह-तलाय-सोसं, असई-पोसं च वज्जिज्जा।।२३।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

आङ्गारी-वन-शकटी-भाटी-स्फोटं कर्म सुवर्जयेत्।
एव च दन्त-लाक्षा-रस-केश-विष-विषयम् वाणिज्यं।।२२।।

एवं खलु यंत्र-पीलनकर्म, निर्लाञ्छनं च दवदानम्।
सरो-हृद्-तडाग-शोषम्, असतीपोषं च वर्जयेत्।।२३।।

गाथार्थ :

१) अंगार कर्म, २) वन कर्म, ३) शकट कर्म, ४) भाटक कर्म, ५) स्फोटक कर्म : ये पाँच कर्म श्रावक को पूरी तरह से छोड़ देने चाहिए तथा १. दाँत, २. लाख, ३. रस, ४. केस, ५. विष संबंधी वाणिज्य (व्यापार) का एवं इसी तरीके से १-यंत्रपिलन कर्म, २-निर्लांछन कर्म, ३-दवदान कर्म, ४- सरोवर-द्रह-तालाब आदि का शोषण कर्म तथा ५-असती पोषण कर्म, इन पाँच कर्मों का श्रावक को त्याग करना चाहिए।

विशेषार्थ :

संसार में रहने वाले श्रावक को भोगोपभोग की विविध सामग्री प्राप्त करने के लिए धन की ज़रूरत पड़ती है एवं धन कमाने के लिए व्यापार करना पड़ता हैं।

व्यवसाय पापारंभ बिना नहीं होता, तो भी पापभीरू श्रावक सोचता है कि *'संसार में हूँ इसलिए धन कमाने के लिए धंधा किए बिना तो गुज़ारा नहीं होगा, परंतु ऐसा धंधा करूँ कि जिससे बड़े पापों से बच सकूँ।'* ऐसा सोचकर श्रावक जिनमें अत्यंत पापारंभ होता हो, पृथ्वी-पानी-अग्नि आदि जीवों की बहुत अधिक प्रमाण में साक्षात् हिंसा होती हो वैसे कर्मादान के धंधे नहीं करता।

जिज्ञासा : कर्मादान किसे कहते हैं ?

तृप्ति : जिस व्यापार से ज्ञानावरणीयादि कर्मों का आदान (ग्रहण) होता हो वैसे व्यापार को कर्मादान व्यापार कहते हैं।

जिस व्यापार में पृथ्वी आदि जीवों की बहुत अधिक प्रमाण में हिंसा प्रत्यक्ष दिखाई देती हो, एवं उसी कारण जिस धंधे से विपुल प्रमाण में कर्मों का अर्जन होता हो, वैसे कर्मादान के व्यापारों के शास्त्र में पंद्रह प्रकार बताए हैं जो निम्नोक्त प्रकार के हैं:

इंगाली-वण-साडी-भाडी-फोडी सुवज्जए कम्मं - अंगार कर्म, वन कर्म, शकट कर्म, भाटक कर्म, स्फोटक कर्म (इन पाँच) कर्मों का पूरी तरह से त्याग करना चाहिए।

१) इंगाली : अंगार कर्म।

जिसमें अग्नि का उपयोग अधिक प्रमाण में होता हो वैसा व्यापार अंगार कर्म होता है। जैसे-ईंटों को पकाना, कोयला बनाना, चूना पकाना, सुनार का काम, लुहार का धंधा, भट्टी में कपड़े धोना, धातुओं को पिघलाने वाली भट्टी को चलाना, फेब्रिकेशन यूनिट या वेल्डिंग यूनिट (fabrication or welding Unit) अथवा जिस धंधे में बहुत अधिक फरनेसेस (furnaces) का उपयोग होता हो वैसे धंधे आदि अंगार कर्म कहलाते हैं। इसके अलावा मिलें आदि कारखानें या उस प्रकार के उत्पादन केन्द्र (Manufacturing Units) भी अंगार कर्म कहलाते हैं।

२) वण : वन कर्म।

जिसमें वनस्पति का छेदन-भेदन मुख्य हो वैसे व्यापार से धन कमाना वन कर्म है। जैसे - जंगल काट डालना, बाड़ी, बाग, बगीचा, नर्सरी, खेत आदि

रखकर उनके फल, फूल, पत्ते आदि बेचना, अनाज को कूटना, पीसना आदि व्यापार वन कर्म कहलाते हैं।

३) साडी : शकट कर्म।

गाड़ी, जहाज, ट्रक, स्टीमर, प्लेन आदि अनेक प्रकार के वाहन या उनके स्पेयर पार्ट्स बनाकर बेचना शकट कर्म है। ऐसे धंधे में वाहनों को बनाने में एवं वाहनों के उपयोग में स्थावर एवं त्रस जीवों की बहुत हिंसा होती हैं।

४) भाडी : भाटक कर्म।

गाड़ी, ट्रक, रिक्शा, रेलगाड़ी, स्टीमर, विमान आदि वाहन तथा हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल आदि जानवरों को किराये पर देकर धनोपार्जन करना, ट्रेवल एजंसी चलाना आदि भाटक कर्म हैं।

५) फोडी : स्फोटक कर्म।

पृथ्वी, पत्थर आदि फोड़ना, सुरंग बनाना तथा गेहूँ, चना, जव, वगैरह धान्य भुंजना, कुआँ, तालाब, बावड़ी खोदना, खेत जोतना आदि व्यापार को स्फोटक कर्म कहते हैं।

इन पाँच प्रकार के व्यापार में अपार हिंसा होने से उनमें अत्यधिक कर्म बंध होता है। इसलिए उन्हें कर्मादान कहते हैं। अत: श्रावक को उन्हें प्रयत्नपूर्वक छोड़ देना चाहिए। अधिक धन की लालसा से या प्रमाद आदि दोषों सहित ऐसे व्यापार करने से सातवें व्रत में दोष लगता हैं।

वाणिज्जं चेव दंत-लक्ख-रस-केस-विस-विसयं - दाँत, लाख, रस, बाल एवं विष संबंधी व्यापार (श्रावक को त्याग देना चाहिए)।

६) दंत : दाँत का व्यापार यहाँ दाँत के उपलक्षण से प्राणी के किसी भी अंग का ग्रहण करना है। जैसे नाखून, बाल, हड्डी, रोम, चमड़ी आदि। उत्पत्ति स्थान से हाथी के दाँत, शेर-उल्लू के नाखून, हिरण के सिंग, हिरण, सर्प या अन्य किसी की चमड़ी, गाय की पूँछ के बाल, कस्तूरी, भेड़ बकरी आदि की ऊन, बाघ की मूँछ के बाल या किडनी आदि मनुष्य के अंग, इत्यादि का व्यापार करना 'दंत-वाणिज्य' नाम का कर्मादान व्यापार कहलाता हैं।

७) लक्ख : लाख का व्यापार।

लाख के उपलक्षण से यहाँ उसके जैसे अन्य सावद्य द्रव्य ग्रहण करना है। जैसे मणशिल, गली, धातकी वृक्ष या जिसकी छाल एवं फूलों में से शराब बनती हो वे टंकणखार, साबुन बनाने वाले क्षार आदि का व्यापार करना 'लक्ष-वाणिज्य' कहलाता हैं।

८) रस : रसवाले पदार्थों का व्यापार।

मध, मदिरा, मांस, मक्खन, दूध-दही, घी, तेल का व्यापार करना, रस के उपलक्षण से आसव, स्पिरिट, तेजाब, अचार, मुरब्बा, फ़िनाइल वगैरह प्रवाही पदार्थों का व्यापार करना, ये 'रस वाणिज्य' नामक कर्मादान का व्यापार हैं।

९) केस – द्विपद, चतुष्पद का व्यापार करना।

यहाँ केस के उपलक्षण से केस वाले जीव का ग्रहण करना है। इसलिए पैसा लेकर स्त्री-पुरुषों को बेचना, दास-दासियों का या पशु-पक्षियों का व्यापार करना, 'केस-वाणिज्य' नामक कर्मादान का व्यापार है।

१०) विस – ज़हरीली वस्तुओं का व्यापार।

शृंगिक आदि ज़हर, हरताल, वच्छनाग, सोमल आदि ज़हरीली वस्तुएँ, डी.डी.टी, मच्छर-जूं-चूहे मारने की दवाइयाँ तथा खेती में उपयोग आनेवाले जंतुनाशक रसायन आदि सब ज़हरीली चीज़ों का व्यापार, 'विष-वाणिज्य' नामक कर्मादान व्यापार हैं।

एवं खु जंतपीलण-कम्मं निल्लंछणं च दवदाणं, सर-दह-तलाय-सोसं असई-पोसं च – इस प्रकार यंत्रपीलन कर्म, निर्लांछन कर्म, दवदान कर्म, सरोवर-द्रह-तालाब वगैरह का शोषण कर्म एवं असती पोषण कर्म का (श्रावक को त्याग करना चाहिए)।

११) जंतपीलण – यंत्र-पीलन कर्म।

तेल निकालने वाली चक्की, अनाज पीसने वाली चक्की, गन्ने का रस निकालने वाला सांचा, खांड, खांडणी, सांबेला, सराण, पवन चक्की, पाताल यंत्र, आकाश यंत्र आदि यंत्र चलाने का व्यापार यंत्र-पीलन कर्म है। इसलिए आज के समय में

बाष्प, खनिज तेल, पेट्रोल या बिजली शक्ति से चलती फैक्टरियाँ, जीन, प्रेस, खेती के यंत्र ये सब यंत्र-पीलन नामक कर्मादान कहलाते हैं।

१२) निल्लंछणं - निर्लांछन कर्म (अंगछेदन कर्म)।

बैल, भैंसा तथा ऊँट आदि के नाक छेदने, गाय, भैंस, बैल, घोड़ा आदि को अंकित करना, दागना, बैल, घोड़ा आदि के लिंग को छेदना, ऊँट वगैरह की पीठ को पिघलाना वगैरह कार्यों द्वारा आजीविका चलाना निर्लांछन कर्म नामक कर्मादान व्यापार हैं।

१३) दवदाणं - दव-दान कर्म।

आग लगाने का कर्म 'दव-दान कर्म' है। शौक़ से या दुश्मनी से आग लगाना, सूखी घास-जंगल-वृक्ष आदि को जलाना, खेतों में हुई बेकार घास को जलाना, गुफाएँ अथवा मार्ग बनाने के लिए ब्लास्टिंग करना आदि दव-दान कर्म नामक कर्मादान व्यापार हैं।

१४) सर-दह-तलाय-सोसं - सरोवर, द्रह, तालाबों को सुखाने का कर्म।

धान्य उगाने के लिए सरोवर, नदी, द्रहों में से नाला या नहर द्वारा पानी निकालना, कुआँ खाली करवाना, बोरवेल बनाना आदि जल शोषण कर्म हैं।

१५) असई पोसं च - और असती पोषण कर्म।

असती अर्थात् कुलटा-व्यभिचारिणी स्त्री। उसका पोषण करना असती पोषण कर्म है। दास-दासियों, नटनियों, नपुंसकों आदि द्वारा हल्के धंधे करवाने के लिए उनका पालन करना, एकत्रित करना या अन्य तरीके से पालन-पोषण करना, उनके द्वारा वेश्याघर चलाना, सिंह-वाघ-चीता-रींछ आदि शिकारी प्राणियों को पालना, उनसे विविध खेल करवाना, उनको बेचना, तोता-मैना-श्वान आदि को पालना आदि असती पोषण कर्म कहलाता हैं।

वज्जिज्जा - त्याग करना चाहिए।

मूल में पंद्रह प्रकार के कर्मादान बताए हैं। उनके अलावा भी इस प्रकार के व्यापारों का श्रावक को त्याग करना चाहिए।

इन दोनों गाथाओं का उच्चारण करते समय श्रावक सोचता है कि -

'अर्थ अनर्थ का मूल है, तो भी गृहस्थजीवन धन बिना नहीं चल सकता। अत: मुझे धन की ज़रूरत तो पड़ती है। ज़रूरी धन कमाने के लिए अल्प हिंसावाले मार्ग भी इस दुनिया में बहुत हैं । फिर भी लोभ संज्ञा के अधीन होकर या कुमित्रों के कुसंग से मैंने भी श्रावक जीवन में न करने योग्य, इस लोक एवं परलोक दोनों को बिगाड़ने वाले कर्मादान वाले धंधे सीधे या उल्टे तरीके से अपनाये हैं। यह मैंने गलत किया है। इससे मैंने ही मेरी आत्मा को कर्म के बंधनों से बांधा है एवं दु:ख का भाजन बनाया है।

हे भगवंत ! ऐसे जो पाप हुए हैं इन सब पापों की नतमस्तक होकर निन्दा करता हूँ। गुरु के पास उनकी गर्हा करता हूँ, पुन: पुन: ऐसे पाप ना हों इसलिए महा-संतोषी अल्पारंभ वाले धंधे से आजीविका चलानेवाले पुणिया श्रावक आदि श्रावकों जैसा सत्त्व मुझमें प्रकट हो ऐसी प्रार्थना करता हूँ।'

चित्तवृत्ति का संस्करण :

घोर पाप का बंध करवानेवाले पंद्रह कर्मादान के धंधे करने के लिए श्रावक को निम्नांकित विषयों पर चिंतन करना चाहिए :

- संपूर्ण निर्दोष पापरहित जीवन जीने का सत्व नहीं होने के कारण मैंने श्रावक जीवन स्वीकारा है। जीवन निर्वाह के लिए धन की आवश्यकता है, पर अगर मैं चाहूँ तो अल्पारंभवाले धंधे द्वारा अल्प धन से भी निर्वाह कर सकता हूँ।
- भौतिक सुख-सुविधा मान और रूतबा पाने के लिए ही मुझे जीवन ज़रूरत से अधिक धन पाने की इच्छा होती है। इस इच्छा का अंत लाने के लिए मुझे मेरी भौतिक सुख-सुविधा की इच्छा को ही नियंत्रण में लाना चाहिए।
- कर्मादान के धंधे में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों की बहुत ज़्यादा हिंसा होती है और अहिंसा धर्म के उपासक को ऐसे धंधे करने शोभास्पद नहीं होते।
- अगर में अपना जीवन सादगी भरा बना दूँ तो मुझे धन आदि की इतनी आवश्यकता ही नहीं रहेगी और फिर धन के लिए कर्मादान के धंधे करने का लालच भी नहीं होगा। अतः नरकादि में ले जानेवाले कर्मादान के धंधे करने की वृत्ति का नाश करने के लिए जीवन में सादगी अति आवश्यक हैं।

आठवाँ व्रत

अवतरणिका :

अब आठवें अनर्थदंड विरमण व्रत के चार प्रकार में से तीसरे प्रकार के अनर्थदंड विरमण व्रत के अतिचार बताते हैं -

गाथा :

सत्थग्गि-मुसल जंतग-तण-कट्ठे मंत-मूल-भेसज्जे।
दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देसिअं सव्वं।। २४।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

शस्त्र-अग्नि-मुशल-यन्त्र-तृण-काष्ठे मन्त्र-मूल-भेषज्ये।
दत्ते दापिते वा, दैवसिकं सर्वं प्रतिक्रामामि।। २४ ।।

गाथार्थ :

शस्त्र, अग्नि, मुसल, चक्की वगैरह यंत्र, तृण, काष्ठ, मंत्र, मूल, औषधि आदि वस्तुएँ स्वयं दी हों या अन्य के द्वारा दिलवाई हों तो उस विषय में जो कोई पाप लगा हो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

सम्यक्त्व मूलक बारह व्रतों में आठवाँ और गुणव्रतों में तीसरा व्रत अनर्थ दंड[1] विरमण व्रत हैं। अर्थ=प्रयोजन और **दण्डयन्ते, व्यापद्यन्ते अनेन इति दंड** अर्थात् आत्मा को जो दंड - शिक्षा करे वह दंड कहलाता हैं। उसमें विशिष्ट या अनिवार्य कारणों से जिस हिंसादि द्वारा आत्मा को दंड होता है उसे अर्थदंड कहते हैं एवं प्रयोजन के बिना आत्मा जिससे दंडित हो उसे अनर्थदंड कहते हैं, अर्थात् अपना घर, कुटुंब, परिवार, धन-संपत्ति या संसार में उपयोगी सामग्री के लिए जो हिंसादि पाप किये जाते है उन्हें अर्थदंड कहते हैं, और सांसारिक जीवन जीने के लिए जिसकी आवश्यकता नहीं है तो भी शौक, कुसंस्कारों, अज्ञानता या कर्मबहुलता के कारण जो निष्प्रयोजन पापारंभ होते हैं वे अनर्थदंड कहलाते हैं।

श्रावक समझता है कि सांसारिक जीवन जीने के लिए जो पाप करने पड़ते हैं उन पापों का फल भी भयंकर होता है, तो अनावश्यक पापों[2] का फल तो उससे भी अधिक भयंकर होगा। तो भी अविरति के उदय के कारण या अनादि कुसंस्कारों के कारण कभी उसका मन और इन्द्रियाँ काबू में नहीं रहते, और उसके कारण उससे ऐसे अनर्थदंड के पाप भी हो जाते हैं। ऐसे पापों को नियंत्रण में लाने के लिए श्रावक अनर्थदंडविरमण व्रत स्वीकार करता हैं।

सर्वथा अनर्थदंड विरमण व्रत तो जो अपने मन, वचन, काया पर पूर्ण नियंत्रण रखकर भगवान की आज्ञा अनुसार अपने योगों का प्रवर्तन करते हैं, वे श्रमणभगवंत

---

1 **शरीराद्यर्थदण्डस्य, प्रतिपक्षतया स्थितः।**
योऽनर्थदण्डस्तत्तत्त्यागस्तृतीयं तु गुणव्रतम्।। - योगशास्त्र

शरीर आदि के कारण जो पाप करना पड़े, वह अर्थदंड; जिसमें स्वयं को या अन्य को कोई लाभ न हो तथा निष्कारण आत्मा पाप से दंडित हो, वह अर्थदंड से विपरीत अनर्थदंड कहलाता है जिसका त्याग करना तीसरा अणुव्रत हैं।

2 **अट्ठेण तं न बंधइ, जमणट्ठेणं तु थेव बहुमाया।**
अट्ठे कालाईया, नियामगा न उ अणट्ठाए।। - धर्मसंग्रह

प्रयोजन से करते हुए पाप से इतना कर्म का बंध नहीं होता जितना कि निष्प्रयोजन किए गए पापों से होता है क्योंकि सप्रयोजन कार्य में तो निश्चित समय, निश्चित स्थल, निश्चित प्रमाण आदि नियंत्रित होते हैं जबकि निरर्थक कार्य में कोई अंकुश नहीं होता।

ही पाल सकते हैं। श्रद्धासम्पन्न श्रावक को भी ऐसी निष्प्रयोजन प्रवृत्ति अच्छी तो नहीं लगती, परंतु सर्वथा उनका त्याग करने का उसमें सामर्थ्य नहीं होने से, वैसा सामर्थ्य पैदा करने के लिए ही श्रावक अति अनर्थकारी, निष्प्रयोजन हिंसावाली प्रवृत्तियों का त्याग करने के लिए थोड़े नियम लेता है, जैसे कि अति हिंसा हो वैसे हिंसक शस्त्रों की लेन-देन नहीं करना, जिन पूजा या व्यावहारिक कारणों के अलावा स्नान न करना जिससे रागादि भावों की तीव्रता बढ़े, ऐसे शरीर की शोभा, उबटन लगाना वगैरह न करना, नख-दाँत-बाल आदि को न रंगना, ब्यूटी पार्लर का सर्वथा त्याग करना रेडियो, टी.वी. आदि न सुनना-देखना, विकृत रूप का दर्शन कराने वाले नाटक, पिक्चर या सर्कस आदि न देखना, रसना को उत्तेजित करे ऐसे पापड-चटनी-रायता-आचार या बाज़ारू नमकीन (फरसाण) आदि न खाना, सेंट-अत्तर आदि का उपयोग न करना, असभ्य वस्त्र न पहनना, शरीर के सुख के लिए या मान-रूतबा दिखाने के लिए विविध प्रकार का फर्नीचर उपयोग में न लाना और अपने वैभव के अनुसार मर्यादित वस्त्र, अलंकारों के अलावा शरीर की शोभा के लिए अधिक आभूषण आदि न पहनना इत्यादि।

निष्प्रयोजन आत्मा का अनर्थ हो वैसे कार्य इस जगत में बहुत हैं। शास्त्रों में सबका समावेश चार विभागों[3] में किया है : (१) अपध्यान (२) पापोपदेश (३) हिंस्रप्रदान और (४) प्रमादाचरण। जिस चिंतन, विचार आदि से आत्मा का अहित होता हो और उसकी भव परंपरा बढती हो उसे **अपध्यान** कहते हैं । स्व-पर का अहित करे वैसी पाप की प्रेरणा करनेवाली वाणी का व्यापार **पापोपदेश** कहलाता है, हिंसक शस्त्र आदि का काया द्वारा आदान-प्रदान **हिंस्रप्रदान** कहलाता है एवं आत्मा को अनर्थ के गड्ढे में धकेले वैसी विषय, कषाय, निद्रा आदि की बाह्य- अंतरंग प्रवृत्तिओं को **प्रमादाचरण** कहते हैं। इन चार प्रवृत्तियों के नियंत्रण को अनर्थदंड विरमण व्रत कहते हैं।

---

३. **सोऽपध्यानं पापकर्मो – पदेशो हिंसकार्पणम्।**
प्रमादाचरणं चेति, प्रोक्तोऽर्हद्भिश्चतुर्विधः।। - धर्मसंग्रह ३६ श्लो.

श्री जिनेश्वर देवों ने १. दुष्ट ध्यान करना २. पाप कर्मों का उपदेश देना ३.दूसरों को हिंसक चीज़ें देना एवं ४. प्रमाद करना: ऐसे चार प्रकार के अनर्थदंड कहे हैं।

इन चार विभागों द्वारा यह व्रत मन, वचन एवं काया के संपूर्ण नियंत्रण रूप बन जाता है, क्योंकि इस व्रत में अपध्यान विरमण व्रत द्वारा मन का, पापोपदेश विरमण व्रत से वाणी का, हिंस्रप्रदान विरमण व्रत एवं प्रमादाचरण के विरमण द्वारा काया का नियंत्रण करना बताया गया है। अतः जिसका मन, वचन काया पर नियंत्रण है वही इस व्रत का निर्मल पालन कर सकता है।

१. अपध्यान[4] : अशुभ विषय में बनी हुई मन की एकाग्रता को अशुभ ध्यान या अपध्यान कहते हैं। यहाँ ध्यान शब्द का प्रयोग किया है, परंतु उससे अशुभ विचार, भावना या चिंतन का भी इसमें ही समावेश करना चाहिए। अशुभ ध्यान के शास्त्रों में दो प्रकार बताए हैं : (अ) आर्त्तध्यान और (ब) रौद्रध्यान।

(अ) आर्त्तध्यान :

जिससे आत्मा को पीड़ा हो अथवा पीड़ित अवस्था में होनेवाले ध्यान को आर्त्तध्यान कहते हैं। इसके चार प्रकार हैं -

(१) अनिष्ट-विषय-वियोग-चिंता : अनचाही वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के साथ संयोग होने पर, उससे छूटने की एवं फिर कभी ऐसी अनिष्ट वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति का संयोग न हो, ऐसी इच्छा से **'अनिष्ट-विषय-वियोग चिंता'** नाम का आर्त्तध्यान उत्पन्न होता है।

(२) रोग वियोग चिंता : शरीर में किसी प्रकार का रोग न हो और हुआ हो तो कैसे और कब दूर हो ऐसी इच्छा से **'रोगवियोग-चिंता'** नाम का आर्त्तध्यान प्रकट होता है।

---

4. **अणवट्ठियं मणो जस्स, झायइ बहुआइं अट्टमट्टाइं।**
तं चिंतियं न लहइ, संचिणइ अ पावकम्माइं।।
वय-काय-विरहियाण वि, कम्माणं चित्तमेत्तविहियाणं।
अइघोरं होइ फलं, तंदुलमच्छु व्व जीवाणं।। - धर्मसंग्रहवृत्तौ

जिसका मन बहुत अट्टमट्ट (जैसा-तैसा) चिंतन करता है, वह जीव अपनी सोची हुई वस्तु प्राप्त नहीं कर सकता, एवं उलटा पापकर्म का बंध करता है।

वचन योग एवं काय योग से बोलने अथवा प्रवृत्ति किए बिना एकमात्र चित्त से दुर्ध्यान करने से भी बांधे हुए कर्मों के कारण जीवों को तदुंलिया मत्स्य की तरह अति घोर फल भुगतने पड़ते हैं।

(३) ईष्ट विषय-संयोग-चिंता : मनोज्ञ वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति हमेशा मिलती ही रहे, वे कभी दूर न हो, हमेशा उनका संयोग हो एवं रहे ऐसी इच्छा से **'ईष्ट-विषय-संयोग-चिंता'** नामक आर्त्तध्यान प्रगट होता हैं।

(४) निदान की चिंता : निदान का अर्थ है धर्म के बदले में भौतिक सुख पाने की कामना। 'इस धर्म से मुझे इच्छित अमुक सुख मिले' ऐसी इच्छा निदान कहलाती है । जो जन्मांतर को मानता है उसे 'जन्मांतर में भी मुझे अनुकूल विषय, भोग-सामग्री, धन आदि समृद्धि मिले, ऐसी विचारधारा से **'निदान चिंता'** नाम का आर्त्तध्यान उत्पन्न होता है।

अनुकूलता के अर्थी जीवों के लिए आर्त्तध्यान से बचना बहुत मुश्किल होता है, क्योंकि चंचल मन का नियमन बड़े-बड़े शूरवीरों को भी भारी पड़ता है। इसी कारण बहुत बार आर्त्तध्यान में से रौद्रध्यान में जाने की भी संभावना रहती हैं।

(ब) रौद्रध्यान :

भयंकर या क्रूरता वाले ध्यान को रौद्रध्यान कहते हैं। जिस ध्यान में अशुभ ध्यान की मात्रा इतनी क्लिष्ट और हीन कक्षा की हो कि हिंसा, झूठ, चोरी आदि के पापों की विचारधारा भी शुरू हो जाए वैसे निम्न कक्षा के ध्यान को रौद्रध्यान कहते हैं। उसके भी चार प्रकार हैं -

(१) हिंसानुबंधी रौद्रध्यान : जो व्यक्ति अपने सुख में विघ्न करे, उसको कैसे समाप्त करना ? उसको इस रास्ते से कैसे हटाना ? ऐसी अधम विचारणा में मन को लगाए रखना **'हिंसानुबंधी'** रौद्रध्यान हैं।

(२) मृषानुबंधी रौद्रध्यान : अपने आप को अच्छा दिखाने के लिए, स्वार्थ पूरा करने के लिए, सामने वाले व्यक्ति का क्या होगा उसका विचार किये बिना, किसी भी प्रकार का झूठ बोलने में मन का एकाग्र चिंतन **'मृषानुबंधी'** रौद्रध्यान हैं।

(३) स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान : अन्य की ज़रूरत का विचार किये बिना अपना घर भरना, अतिलोभ के वश होकर पर-द्रव्य का हरण करना या राज्य के

टैक्स वगैरह न भरना; ऐसी चोरी करने संबंधी एकाग्रता से विचार करना **'स्तेयानुबंधी'** रौद्रध्यान है।

(४) संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान : शब्दादिक विषयों के साधनों तथा धन के रक्षण की चिंता करना, हर प्रकार से उसके हरण की आशंका करना एवं हरनेवाले को मार डालने के क्रूर विचारों में चित्त को एकाग्र बनाना **'संरक्षणानुबंधी'** रौद्रध्यान हैं।

राग, द्वेष एवं मोह के विकारवाले जीवों को ये चार प्रकार के आर्त्तध्यान एवं रौद्रध्यान संभवित हैं। ये आर्त्तध्यान तथा रौद्रध्यान उनके लिए तिर्यंचगति एवं नरक गति का कारण बनते हैं।

२. पापोपदेश : पापकार्य संबंधी अन्य को प्रेरणा देना, उपदेश देना । पाप करने के लिए अन्य को प्रेरणा देना, यह पापोपदेश नामक अनर्थदण्ड हैं। बहुत बार गृहस्थ को किसी कारण से अपने कार्य कराने में अथवा बंधु-पुत्र आदि को कार्य में जोड़ने के लिए पाप कर्म करने के लिए प्रेरणा देनी पड़ती है। यह अनिवार्य पापोपदेश है; परंतु ऐसे प्रसंग के बिना, जिसमें अपना कोई लेन-देन नहीं, अपना कोई फायदा भी नहीं, तो भी बहुत बार बातूनी होने के कारण दूसरे को उपदेश देने की आदत आदि के कारण, कुसंस्कारों के कारण, बहुत बार श्रावक अन्यों को निष्प्रयोजन पाप कर्मों की प्रेरणा देता है, जैसे कि खेत जोतो, अमुक धंधा करो अथवा तो कई बार भाई-भाई के बीच, या सास-बहू के बीच होने वाले संवाद में ऐसी सलाह देता है कि 'सामने जवाब दे दो, जिससे बारंबार वे बोल न सके', 'लड़की बड़ी हो गई है, उसकी शादी कर दो' आदि ऐसी गलत सलाह से निष्प्रयोजन कर्मबंध होता हैं। इस अनर्थदंड से बचने के लिए व्रतधारी श्रावक को किसी को भी ऐसी सलाह नहीं देनी चाहिए। कोई भी कार्य करने से पहले श्रावक को अच्छी तरह सोचना चाहिए। सहज भाव से भी हिंसादि का कारण बने वैसी भाषा नहीं बोलनी चाहिए। यह सब श्रावक ध्यान में रखता है, परंतु स्वयं संसार में होने के कारण कभी ऐसी भाषा उसके बोलने में आ जाए तो व्रत में अतिचार लगता हैं।

अनर्थदंड के बाकी दोनों प्रकार बहुत सावद्य हैं। इसलिए सूत्रकार स्वयं दो गाथाओं में क्रम से उनका विचार करते हैं।

सत्थग्गि-मुसल-जंतग-तण-कट्ठे मंत-मूल-भेसज्जे - शस्त्र, अग्नि, मुसल, घंटी आदि यंत्र, तृण, काष्ठ, मंत्र, मूल, औषधि।

३. हिंस्रप्रदान : हिंसा के साधन दूसरों को देना।

दयावान श्रावक अपनी सभ्यता के कारण (दाक्षिण्य गुण से) कोई चीज़ देने से मना नहीं कर पाता ऐसे कोई विशिष्ट प्रसंग को छोड़कर[5] नीचे बताई हुई हिंसाकारक वस्तुएँ श्रावक को स्वयं किसी को देनी भी नहीं चाहिए और अन्य से दिलवानी भी नहीं चाहिए ।

सत्थ - शस्त्र - चाकू, छुरी, तलवार, रिवॉल्वर, रायफल, बंदूक आदि अनेक प्रकार के शस्त्र।

अग्गि - अग्नि - अनेक प्रकार की अग्नि तथा अग्नि पैदा करने वाले साधन जैसे कि माचिस, लाइटर आदि।

मुसल - मुसल - कूटने का साधन, खरल, सांडणी, हल आदि।

जंतग - यंत्र - घरघंटी, वॉशिंग मशीन, मिक्सर, गीज़र आदि अनेक प्रकार के यंत्र।

तण - तृण - दर्भ आदि घास अथवा जीवों को दूर करने वाली तृणरूप औषधि।

कट्ठे - काष्ठ - ईंधन के लिए या औजार बनाने के लिए उपयोग में आने वाली लकड़ी।

---

5. **वृषभान् दमय क्षेत्रं, कृष षण्ढय वाजिनः।**
दाक्षिण्याविषये पापोपदेशोऽयं न कल्पते ।।७६ ।।

वृत्तौ -'...सर्वत्र पापोपदेशनियमं कर्तुमशक्तेभ्योऽपवादोऽयमुच्यते। दाक्षिण्याविषय इति। बन्धुपुत्रादिविषयदाक्षिण्यवतः पापोपदेशोऽशक्यपरिहारः। दाक्षिण्याभावे तु यथा तथा मौखर्येण पापोपदेशो न कल्पते।

यन्त्रलाङ्गलशस्त्राग्निमुशलोदूखलादिकम्।
दाक्षिण्याविषये हिंस्रं नार्पयेत्करुणापरः ।।७७ ।।

वृत्तौ - दाक्षिण्याविषय इति पूर्ववत्। - योगशास्त्र तृ. प्र.

मंत - मंत्र - वशीकरण आदि के लिए उपयोग में आने वाले मंत्र।

मूल - मूल - ज्वर आदि रोगों को दूर करने वाले झाड़ के मूल अथवा गर्भ मिटाने वाले या मारने वाले मूलकर्म।

भेसज्जे- भैषज्य - प्राणी की प्रकृति का भ्रंश कराए ऐसी उत्तेजित क्रियाओं में उपयोगी अनेक वनस्पतियों के मिश्रण से बनाए हुए विविध चूर्ण आदि।

दिन्ने दवाविए वा, पडिक्कमे देसिअं सव्वं - (ऊपर बताई हुई सब वस्तुएँ) स्वयं दी हो या अन्य किसी से दिलवाई हों उसके संबंध में जो कोई पाप लगा हो तो उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

'ऊपर बताई हुई सब वस्तुएँ हिंसा का कारण बनती हैं। अत: ऐसी वस्तुएँ किसी को देनी भी नहीं चाहिए और न किसी से दिलवानी चाहिए । फिर भी दाक्षिण्यता (सभ्यता-विवेक) आदि कारणों को छोड़कर लज्जा, भय या लोकप्रिय बनने की वृत्ति से यदि मैने हिंसक साधन किसी को दिए हों या दिलवाए हों तो वह मैंने गलत किया है । उससे जो भी हिंसा होगी, उसमें मैं नाहक निमित्त बना हूँ । ऐसे दोषों की मैं निन्दा करता हूँ, पुन: ऐसा न हो वह संकल्प करता हूँ'। इस प्रकार श्रावक हिंस्रप्रदान नामक अनर्थदंड विरमण व्रत के अतिचारों का प्रतिक्रमण करता है ।

जिज्ञासा : श्रावक को चाकू, छुरी, घंटी आदि वस्तुएँ गृह उपयोग के लिए रखनी ही पड़ती हैं तो फिर घर में रही हुई वस्तु को कोई मांगे तो श्रावक उसे दे या ना दे ?

तृप्ति : अपने उपयोग के लिए घर में रखी हुई घंटी, चाकू आदि हिंसक सामग्री श्रावक आगे हो के न दे। परंतु सामने वाला व्यक्ति मांगे तो दाक्षिण्य याने कि विवेक या सभ्यता के कारण देनी पड़े तो श्रावक ना भी नहीं कह सकता। इसीलिए ही व्रत लेते समय वह उतनी छूट रखता है कि कभी दाक्षिण्यता से देनी पड़े तो छूट, अन्यथा नियम। ऐसी वस्तु देनी पड़े तब भी यदि सामने वाला व्यक्ति समझ सके तो त्रस आदि जीवों की हिंसा न हो इस तरीके से उपयोग करने का सूचन अवश्य करना चाहिए ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि,

'मैं संसार में हूँ। इसलिए ही ऐसी हिंसक चीजें मुझे रखनी पड़ती हैं। संयमी जीवन स्वीकार किया होता तो मुझे इनमें से एक भी चीज की आवश्यकता नहीं पड़ती; तो भी जब तक शक्ति हो तब तक ऐसी चीजों का उपयोग और संग्रह कम कर दूँ एवं रखनी पड़ें तो भी अन्य की नजर में अच्छे दिखने के लिए तो ऐसी चीज़ किसी को दूँ ही नहीं । कभी दाक्षिण्यता आदि से ऐसी हिंसक चीज़ें किसी को दी हों या दिलवाई हों तो उन सब पापों को याद करके उनकी निन्दा करता हूँ और उन पापों से वापस लौटकर निष्पाप भाव में स्थिर होने का यत्न करता हूँ।'

अवतरणिका :

अब अनर्थदंड के चौथे प्रकार प्रमादाचरण के विषय में जो कोई दोष लगा हो उसका प्रतिक्रमण करते हुए बताते हैं -

गाथा :

ण्हाणुव्वट्टण-वन्नग-विलेवणे सद्द-रूव-रस-गंधे।
वत्थासण-आभरणे, पडिक्कमे देसिअं सव्वं ।।२५।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

स्नान-उद्वर्तन-वर्णक-विलेपने शब्द-रूप-रस-गन्धे।
वस्त्र-आसन-आभरणे, दैवसिकं सर्वं प्रतिक्रामामि।।२५।।

गाथार्थ :

स्नान, उद्वर्तन, वर्णक (गाल वगैरह का कस्तूरी आदि से श्रृंगार करना) विलेपन, शब्द, रूप, रस, गंध, वस्त्र, आसन एवं आभूषण आदि सर्व के माध्यम से जो प्रमादाचरण किया हो, उसका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

४. प्रमादाचरण

श्रावक जीवन, यह भी एक प्रकार का साधना जीवन है। इस जीवन की साधना करते हुए श्रावक को जिस प्रकार निरर्थक हिंसादि पाप ना हो जाएँ उसका

ध्यान रखना है, उसी प्रकार साधनामय जीवन में कहीं भी महाशत्रुभूत प्रमाद का पोषण न हो जाए उसका भी विशेष ध्यान रखना है। अत: प्रत्येक प्रवृत्ति करते हुए श्रावक को सतत जागृत रहना है एवं जीवदया का भाव और प्रयत्न बनाए रखने हैं। जब श्रावक प्रमाद के अधीन होकर इस प्रयत्न से चूक जाता है तब यह व्रत दूषित होता है। ऐसी ही क्रियाओं को अब सूचित करते हैं -

ण्हाण - स्नान।

परमात्मा की पूजा के लिए शास्त्र में बताई हुई विधि[6] के अनुसार छाने हुए परिमित पानी द्वारा स्नान करने से इस व्रत में बाधा नहीं आती, परंतु शरीर के प्रति आसक्ति से, अपरिमित जल से एवं त्रस जीवों से युक्त स्थानों में स्नान करने से तथा बार-बार स्नान करने से यह व्रत दूषित होता है। शावर, बाथ-टब, स्वीमिंग, वॉटर पार्क, वॉटर फाइट्स, वॉटर राइड्स, झरने, सोना बाथ, स्टीम बाथ, वाटर फॉल्स, जकुझी, राफटींग, जलाशयों आदि स्थानों पर होती हिंसा तो निष्प्रयोजन हिंसा ही है। अत: 'अनर्थदंड विरमण व्रत' पालते हुए श्रावक को इन सबका त्याग कर देना चाहिए।

उव्वट्टण - उद्वर्तन।

शरीर का मैल दूर करने के लिए हल्दी या चंदन का उबटन, पीठी वगैरह पदार्थ लगाने के बाद जो मैल निकलता है, उसे उद्वर्तन कहते हैं तथा फेशियल, जीवसंसक्त या सचित्त वस्तुओं का शरीर पर मर्दन करना या मर्दन करके शरीर का मैल उतारना उद्वर्तन है। इस मैल को मनचाही जगह पर फेंकने से उसमें अंतर्मुहूर्त के बाद संमूर्च्छिम मनुष्य के साथ साथ दूसरे भी अनेक प्रकार के जीवों की उत्पत्ति होती है, जो हिंसा का कारण होती है। इस के अतिरिक्त मेनीक्योर, पेडिक्योर आदि करवाने में जो हिंसा होती है वह हिंसा भी निष्प्रयोजन हिंसा है।

---

6. श्राद्धविधि प्रकरण में स्नान की विधि इस प्रकार बताई गई है -

स्नानमप्युत्तिङ्गपनककुंन्थ्वाद्यसंसक्तवैषम्यशुषिराद्यदूषित भूभागे।
परिमितवस्त्रपूतजलेन संपातिमसत्त्वरक्षणादियतनया कुर्यात् ॥

अर्थ : (स्वयं प्रवर्तक ग्रहस्थ) स्नान भी कीड़ियों की जगह, लील एवं कुंथुओं आदि से असंसक्त, विषमता एवं पोलाण आदि से दूषित न हो ऐसी भूमि पर, परिमित पानी से, संपातिम जीवों की रक्षा आदि सहित यतनापूर्वक करना चाहिए। गाथा ५की टीका

वन्नग - वर्णक ।

विशिष्ट प्रयोजन बिना, तथा अयतना पूर्वक शरीर को सजाने के लिए मेहंदी लगाना, गाल आदि पर कस्तूरी लगाना, दाँत, बाल रंगना, चेहरा रंगना, आँख-बाल का रंग बदलना, ये सब अनर्थदंड रूप हैं।

विलेवण - विलेपन ।

चंदन आदि का विलेपन जयणा का पालन किए बिना करना, फेसपैक, हर्बल पैक, ऑइल मसाज, आदि सब विलेपन कहलाते हैं। ऐसे विलेपनों में अयतना से या बेध्यान या अनावश्यक होनेवाली हिंसा अनर्थदंड है।

वैराग्य भाव से भावित श्रावक शक्य हो तो निरर्थक स्नान, उद्वर्तन आदि नहीं करता। परन्तु उसका शरीर के प्रति मोह संपूर्ण नष्ट नहीं होने के कारण कुछ संयोगों में उसे स्नान करना पड़ता है। स्नानादि करते हुए नाहक जीव हिंसा न हो जाए उसकी वह सावधानी रखता है, तो भी प्रमादादि दोषों के कारण जितनी अयतना होती है, उतना व्रत दूषित होता है।

सद्द - शब्द ।

प्रयोजन बिना बोलना या अनर्थकारी शब्दों का प्रयोग करना, जैसे कि जोर से चिल्लाना, संगीत में मशगूल हो जाना, अश्लील गीत गाना, शोर मचाना, बड़े बड़े माईक-स्पीकर लगाकर गाना-बजाना, निन्दा करना तथा प्रातः या रात्रि के समय जोर से बोलना जिसके कारण जीव-जंतु एवं जन समुदाय जागकर पाप कार्य आरंभ करें, ये सब प्रवृत्तियाँ अनर्थदंड हैं क्योंकि इनमें होनेवाली हिंसा में हमारे शब्द निमित्त बनते हैं।

रूव - रूप ।

देह का रूप तथा रंग अनित्य है, अस्थिर है। कितना भी संभाला हुआ शरीर कब बीमारियों से घिर जाए एवं सुंदर रूप कुरूप बन जाए, वो समझ में नहीं आता। अतः ऐसे रूप की सार-संभाल के पीछे समय तथा शक्ति का व्यय करना अनर्थदण्ड रूप है।

अपना रूप जिस प्रकार आसक्ति जगाता है वैसे ही अन्य का रूप भी मन को विकृत करता है, रागादि भावों का जनक है एवं आत्मा को कर्म से बाँधता है। अत: स्त्री, पुरुष, पक्षी, वृक्ष, महल, बंगला, ऐतिहासिक स्थल, बाँधकाम, नकाशी, बाग, बगीचा, गाड़ी या किसी भी प्रकार की सामग्री के रूप को किसी प्रयोजन के बिना देखना, रूप का विचार (चिंतन) या ध्यान करना, उसका वर्णन करना या अनावश्यक उसके लिये प्रयत्न करना, ये सब अनर्थदंड हैं।

रस - स्वाद।

धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष - इन चारों पुरुषार्थ के कारणभूत शरीर को टिकाने के लिए शुद्ध एवं सात्त्विक आहार की ज़रूरत पड़ती है, परंतु ये आहार रसप्रचुर ही होना चाहिए, स्वादिष्ट ही होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। तो भी रसना (जीभ की) की आसक्ति के कारण शरीर की भी परवाह किए बिना स्वादिष्ट भोजन या पेय पदार्थ भौतिक चाहत को उत्तेजित करने हेतु स्वयं लेना या दूसरों को देना 'अनर्थदंड' रूप है। आज के भोजन समारंभ, उनमें उपयोग होनेवाले मसाले, अनेक प्रकार की चटनियाँ, रायते, पेय पदार्थ, विविध प्रकार के अचार, अनेक प्रकार के नमकीन एवं होटल में बना खाना ये सब जीभ की लोलुपता का पोषण करते हैं तथा रागादि विकारों से आत्मा को दूषित करते हैं। इसलिए पापभीरू श्रावक को यह व्रत स्वीकार करके शीघ्र ही उनका त्याग कर देना चाहिए।

गंधे - गंध।

सुगंधित द्रव्य, पुष्प, सेन्ट, डिऑडरन्ट, रूम फ्रेशनर, अत्तर आदि में आसक्ति रखना एवं दूसरों को उसके प्रति आकर्षित करना भी अनर्थदंड है। जिनभक्ति महोत्सव आदि कोई विशेष प्रसंग को छोड़कर श्रावक को उनका त्याग कर देना चाहिए।

इस तरह विलेवण शब्द तक स्पर्शेन्द्रिय के विषयों तथा पीछे के चारों शब्दों द्वारा बाकी के चार इन्द्रियों के विषय के उपभोग रूप प्रमादाचरण के अतिचार दर्शाए हैं।

वत्थ - वस्त्र ।

मर्यादा की रक्षा के लिए अपने कुल एवं वैभव के अनुरूप वस्त्र परिधान श्रावक के लिए योग्य है, परंतु किसी के मन को आकर्षित करने के लिए, दुनिया को दिखाने के लिए, दुनिया में अच्छे दिखने के लिए एवं अपनी आसक्ति के पोषण के लिए भड़कीले, मर्यादा विहीन, उद्‌भट (असभ्य) वस्त्र परिधान करना अनर्थदण्ड है।

आसण - आसन ।

घर में उपयोगी फर्नीचर या घर की वस्तुएँ जैसे कि कुर्सी, टेबल, सोफा, क्यूरिओस या सजावट की सामग्री भी ज़रूरत से ज्यादा रखना, यह भी अनर्थदंड है।

आभरणे - अलंकार ।

शरीर की शोभा के लिए बहुत एवं उद्‌भट आभूषण, जेवर पहनना उनको बार-बार देखकर आनंद का अनुभव करना, उनकी प्रशंसा करना, उनका अभिमान करना, ये सब भी अनावश्यक होने से अनर्थदण्ड रूप हैं।

इसके अतिरिक्त, जीव जन्तु हैं कि नहीं उसका ख्याल किए बिना ईंधन, धान्य, जल आदि का उपयोग करना या कुतूहुल से संगीत श्रवण करना, नाच, सर्कसादि देखना, कामशास्त्र पढ़ना, उसमें बताई चेष्टाओं का परिशीलन करना, आसक्ति करना, जुआ-सुरापान, शिकार-चोरी वगैरह पाप व्यसनों का प्रयोग करना, जल क्रीडा करना, वृक्ष की डाल को झूला बनाकर झूलना, पुष्पादि तोड़ना, युद्ध देखना, शत्रु की संतान के साथ वैर रखना, राजा की, राज्य की, भोजन की या स्त्रियों की बातें करना, अति निद्रा लेना, खेल-कूद (Sports), सिनेमा, टी.वी., डान्स शो आदि देखना, इन्टरनेट पर अनावश्यक सर्फिंग करना आदि भी प्रमादाचरण हैं तथा हँसना एवं वाचालतादि भी अनर्थदण्ड हैं।

पडिक्कमे देसिअं सव्वं - (उन विषयक) दिनभर में (जो कोई अतिचार लगा हो) उन सबका मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

स्नान, सुख-सुविधा के साधन, रूप-श्रृंगार के साधन आदि का आसक्ति के कारण निष्प्रयोजन उपयोग किया हो अथवा ज़रूरी हो तो भी जयणा रखे बिना उपयोग किया हो, तो ऐसे आचरण व्रत को मलिन करने वाले बनते हैं। दिनभर में ऐसा कोई भी आचरण हुआ हो तो उनसे मैं वापस लौटता हूँ एवं अप्रमत्तभाव से पुनः व्रत-मर्यादा में स्थिर होने का प्रयत्न करता हूँ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'यह शरीर अशुचि का घर है। स्नान से या श्रृंगार से यह कभी भी पवित्र नहीं हो सकता तो भी मैं शरीर की ममता से बंधा हुआ हूँ। इसलिए मुझे स्नानादि सब क्रियाएँ करनी ही पड़ती हैं। ये क्रियाएँ मर्यादित तरीके से भी हो सकती हैं तो भी शरीर और इन्द्रियों की आसक्ति के कारण मैं बहुत बार श्रावक जीवन की मर्यादा चूक गया हूँ। रूप और रस में आसक्त बनकर, वस्त्र और अलंकार में लुब्ध होकर, रस तथा गंध में भान गवाँकर मैंने निष्प्रयोजन बहुत पाप किए हैं। ये मैंने गलत किया है। वास्तव में ऐसे पापों को करनेवाले मुझे धिक्कार है।

'हे प्रभु ! इन सब पापों को याद करके उन सब पापों की मैं आलोचना करता हूँ। पुनः ऐसे पाप न हों इसके लिए सावधान बनता हूँ और जीवनभर के लिए अस्नानादि का व्रत धारण करने वाले श्रमण भगवंतों के चरणों में मस्तक झुकाकर उनके जैसा सत्त्व मुझ में प्रकट हो वैसी उनसे प्रार्थना करता हूँ।'

अवतरणिका :

अब इस व्रत संबंधी पाँच अतिचार बताते हैं।

गाथा :

कंदप्पे कुक्कुइए, मोहरि अहिगरण भोग-अइरित्ते।
दंडम्मि अणट्ठाए, तइअम्मि गुणव्वए निंदे।।२६।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

कन्दर्पे कौत्कुच्ये मौखर्ये अधिकरण-भोगातिरिक्ते।
अनर्थाय दण्डे, तृतीये गुणव्रते निन्दामि।।२६।।

गाथार्थ :

१. कंदर्प (काम विकार प्रकट हो ऐसी वाणी), २. कौत्कुच्य (विकृत चेष्टाएँ), ३. मौखर्य (वाचालपना), ४. संयुक्ताधिकरण एवं ५. अतिरिक्त भोग - इन पाँच अतिचारों में से तीसरे गुणव्रत - 'अनर्थदंड विरमणव्रत' संबंधी जो कोई अतिचार लगे हों, उन अतिचारों का मैं निन्दारूप प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

कंदप्पे - कंदर्प

जिससे काम वासना प्रकट हो वैसे दृश्य देखना, वैसी वाणी बोलना, अश्लील मज़ाक करना, अति हास्य करना, यह कंदर्प है। 'विकारी भावों को जागृत करे वैसे नाटक-सिनेमा आदि नहीं देखना' इस प्रकार के व्रतवाला श्रावक जानबूझकर तो ऐसा नहीं ही करता तो भी कभी अनजाने में या प्रमाद से ऐसा कभी हो जाए तो ऐसी चेष्टा इस व्रत में प्रथम अतिचार रूप गिनी जाती है।

कुक्कुइए - कौत्कुच्य - नेत्रादि की विकृत चेष्टा।

आँख का कटाक्ष, कामुक दृष्टि, मुख के विकृत हाव-भाव, लोगों को आकर्षित करने वाली अन्य कोई भी विकृत चेष्टा, या निम्नस्तर के हावभावों को कौत्कुच्य कहते हैं। इसके अलावा, लोगों को हँसाने के लिए ही बोलना, चलना या चेष्टा करना यह भी इस व्रत में 'कौत्कुच्य'[7] नाम का अतिचार रूप है। श्रावक के लिए ऐसी क्रिया व्रतभंग रूप है, परंतु उपयोगशून्यता से हो जाए तो वह इस व्रत का दूसरा अतिचार है। ये दोनों अतिचार प्रमादाचरण के त्याग विषयक हैं।

---

7 कौत्कुच्य = 'कृत्' अव्यय है। उसका अर्थ कुत्सा - खराब होता है। ये 'कुत्' अव्यय एवं 'कुच्' धातु को भाव अर्थ में प्रत्यय लगाने से 'कौत्कुच्य' शब्द बना है। उसमें 'भांड-भवैया, हिजडे जैसे स्तन, आँख की भौंहें, होठ, नाक, हाथ, पैर एवं मुख आदि अवयवों से खराब चेष्टाएँ - शरारत करना' ऐसा अर्थ है। अर्थात् भांड-भवैया जैसी खराब चेष्टाएँ करना, उन्हें 'कौत्कुच्य' कहते हैं। कहीं पर 'कौकुच्य' ऐसा भी शब्द मिलता है, वो भी कुत्सित अर्थ में 'कु' अव्यय एवं 'कुच्' धातु को प्रत्यय लगाने से बनता है।

मोहरि - मौखर्य - वाचालता।

उचित-अनुचित का विचार किए बिना बोलते ही रहना, गप्पे लगाना, निरर्थक बातें करना; ये तीसरा अतिचार पापोपदेश के त्याग संबंधी है।

अहिगरण - संयुक्ताधिकरण।

अनावश्यक हिंसक साधन तैयार करना, हिंसक हथियारों को सजाकर तैयार रखना, गाड़ी, सवारी आदि पहले से ही जोड़ कर रखना, यह चौथा हिंस्रप्रदान संबंधी अतिचार है।

भोग - अइरित्ते - अतिरिक्त भोग।

आवश्यकता से अधिक प्रमाण में भोग विलास के साधनों को रखने से या अधिक भोग सामग्री रखने से जयणा भी नहीं पाली जा सकती एवं कभी तो विवेक भी क्षीण हो जाता है। अत: यह इस व्रत का पाँचवाँ अतिचार है।

दंडम्मि अणट्ठाए, तइअम्मि गुणव्वए निंदे - तीसरे गुणव्रत- अनर्थदंडविरमण व्रत के विषय में जो कोई अतिचार लगा हो, उसकी मैं निन्दा करता हूँ।

इस व्रत को स्वीकार करने के बाद श्रावक को खूब सावधान रहना चाहिए। महापुण्य से मिले हुए मन, वचन, काया के योगों का निरर्थक उपयोग नहीं करना चाहिए। खूब सावधानी से रहना चाहिए। यथायोग्य स्थान पर जहाँ कभी उपयोग करना पड़े वहाँ भी कभी प्रमाद का पोषण या अनावश्यक हिंसा न हो जाए उसकी सावधानी रखनी चाहिए। ऐसा होते हुए भी प्रमाद के अधीन होकर लोकप्रवाह में या संज्ञाओं की तीव्रता के कारण ऊपर बताए हुए अथवा उनके अलावा, इस व्रत विषयक किसी भी छोटे-बड़े दोष का सेवन हुआ हो तो उनका स्मरण करके अंत:करणपूर्वक उनकी निन्दा करनी चाहिए, एवं पुन: ऐसे दोषों का सेवन न हो जाए उसके लिए यत्नमय बनना चाहिए।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि,

'संयमी जीवन तो दुष्कर है ही, परंतु देशविरति धर्म का पालन भी आसान नहीं है। जीवन में पूर्ण जागृति हो, प्रमादादि दोषों से मुक्त होने का हर प्रयत्न

चालू हो तो ही इस व्रत का सुविशुद्ध पालन हो सकता है। शुभ भाव में आकर उत्साहपूर्वक मैंने भी यह व्रत स्वीकार तो किया है, परंतु प्रमादादि दोषों के कारण में कदम-कदम पर सावधानी नहीं रख सकता। मेरी दिनभर की प्रवृत्तियों पर दृष्टिपात करने से ख्याल आता है कि मैंने मन में बहुत ही निरर्थक विचार किए हैं, अनावश्यक वचन भी बोले हैं और काया से भी मैंने कितनी ही अनुपयोगी प्रवृत्तियाँ की हैं। इन सब प्रवृत्तियों को याद करके, हे भगवंत ! उनके लिए क्षमा याचना करता हूँ।

आजीवन निरतिचार संयम पालन करने का मेरा सामर्थ्य नहीं, परंतु आनंद, कामदेव आदि श्रावकों की तरह निर्मल देशविरति धर्म पालन करने की भी मेरी शक्ति नहीं है। ऋषभदेव भगवान की पुत्री सुंदरी ने तो ६०,००० वर्ष तक आयंबिल सहित संपूर्ण शरीर श्रृंगार का त्याग किया था। इस प्रकार से व्रत लेकर आजीवन शुद्ध व्रत का पालन करनेवाले महात्माओं के चरणों में प्रणाम करता हूँ एवं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि आपके जैसी देशविरतिपालन की शक्ति मुझमें भी प्रकटे, ऐसी कृपा करो।'

चित्तवृत्ति का संस्करण :

श्रावक को जीवन जीने के लिए तो पाप करना ही पड़ता है, पर उसके अलावा कभी-कभी वह आसपास के वातावरण से प्रभावित होकर निरर्थक पापप्रवृत्ति करने में जुड़ जाता है । अपनी ऐसी वृत्ति का प्रमार्जन करने के लिए नीचे बताए विषयों पर ज़रूर चिंतन करना चाहिए,

- अपने चित्त को दुर्ध्यान से मुक्त रखने के लिए हमेशा याद रखना कि 'वर्तमान में जिस स्थिति का सर्जन हुआ वह मेरे पूर्व कर्म की आभारी है । इस परिस्थिति को पलटना मेरे बस की बात नहीं, परंतु उसमें मेरे मन को स्वस्थ रखकर अपने भविष्य को उज्जवल बनाना वह मेरे बस में है । इसलिए, मन को अच्छा रखने के लिए मुझे उसे सतत शुभ भावों में प्रवृत्त रखना चाहिए'।
- मन में सतत जो आर्त्त और रौद्रध्यान होता है उसका मूल कारण है अनुकूलता का राग और प्रतिकूलता का द्वेष । मुझे सतत इन से मुक्त होने

का प्रयत्न करना चाहिए । इसलिए, मुझे अनुकूल वातावरण से दूर रहकर प्रतिकूल वातावरण को प्रेम से स्वीकार लेना चाहिए ।

- शरीर का राग मुझे निशदिन रोग की चिंता से व्यग्र करता है । इस शरीर के राग से मुक्त होने के लिए मुझे सदा शरीर की अस्थिरता और अशुचि का चिंतन करना चाहिए और याद रखना चाहिए कि मैं आत्मा हूँ, शरीर नहीं।
- मनोहर और इष्ट चीज़ें प्राप्त करने में और उनकी देखभाल करने में मुझे हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप करने पड़ते हैं । हकीकत में दुनिया में कुछ भी अच्छा नहीं है एवं कुछ भी बुरा नहीं है । सब जैसा है वैसा है । फिर भी मैं मेरी कल्पना से उनमें अच्छे-बुरे का भाव करता रहता हूँ । अगर मैं अपनी कल्पना को बदल दूँ तो ऐसे निरर्थक पाप से बच सकूँगा ।
- महापूण्य के उदय से किसी को समझा सकूँ ऐसी वाणी की क्षमता मुझे प्राप्त हुई है । इस वाणी का हो सके इतना सदुपयोग करना चाहिए, पर गलत उपदेश या सलाह देकर उसका दुरुपयोग करना ठीक नहीं ।
- व्यवहार में या व्यापार में किसी को गलत कार्यों में जोड़ने से जिस कर्म का बंध होगा वह मुझे किस गति में ले जाएगा और कैसे दुःख का भागी बनाएगा यह मुझे हमेशा याद रखना चाहिए ।
- हिंसक औज़ारों को मुझे अपने पास रखने ही नहीं चाहिए और यदि गृहकार्य के लिए वे रखने पड़ें तो भी किसी की नज़रो में अच्छे लगने के लिए उनको किसी को देना नहीं चाहिए, क्योंकि मुझे उनसे होनेवाली त्रस - स्थावर जीवों की हिंसा का पाप भुगतना पड़ेगा ।
- मनोहर शब्द, रूप, रस, गंध एवं स्पर्श का अनुभव करने से मुझे वास्तव में सुख नहीं मिलता, सिर्फ मेरा भ्रम पुष्ट होता है और उनकी इच्छा से मन की अस्वस्थता बढ़ती है । उनकी प्राप्ति और उनकी देखभाल के लिए हिंसा आदि पाप करने पड़ते हैं और भविष्य में दुःख की परंपरा चलती रहती है ।
- मुझमें शरीर के श्रृंगार का त्याग करने की शक्ति नहीं है, पर जो कुछ भी शरीर की पुष्टी, शोभा आदि के लिए करूँ, उसमें जयणा का भाव रखकर कम से कम हिंसा हो ऐसा तो मैं ज़रूर ख्याल रख सकता हूँ ।

- बारबार स्नान, मेकअप इत्यादि करने से मुझे जलचर जीव बनना पड़ेगा ।
- वस्त्र से मेरी शोभा नहीं परंतु मेरे गुणों से मेरी शोभा है । अमर्यादित वस्त्र आदि रखने से मेरा मन हमेशा उनके विचार में व्यस्त और व्यग्र रहता है । वस्त्र, अलंकार, फर्नीचर मेरी सुख शांति का कारण न बनकर मेरे लिए मान, लोभ, क्रोध और माया का कारण बनकर मन की अस्वस्थता का कारण बन जाते हैं ।
- वस्त्र, अलंकार, स्नान, श्रृंगार, गृहशोभा आदि जीने के लिए ज़रूरी नहीं है। अतः मुझे उनके पीछे मेरा मन, धन और समय नहीं बिगाड़ना चाहिए ।
- टी.वी. जूआ, पत्ते, खेल-कूद, फिल्मी पत्रिकाएँ, सर्फिंग, शौक से भोजन आदि में प्रवृत्त होना इत्यादि से मेरे संस्कार बिगड़ते हैं और मेरा परिवार भी उससे प्रभावित होकर जीवन बरबाद कर देता है । इसलिए आत्महित को ध्यान में रखकर मुझे ऐसी निष्प्रयोजन प्रवृत्तियाँ छोड़ देनी चाहिए ।
- मेहनत कर इकट्ठे किए हुए सुसंस्कार ऐसी प्रवृत्तियों से नष्ट हो जाते हैं और कुसंस्कार पुष्ट होते हैं ।
- थोड़ा भी भोग अनर्थ की परंपरा का सर्जन करने में सक्षम है तो अमर्यादित भोग से मेरा क्या हाल होगा ?

नौवाँ व्रत

अवतरणिका :

अब नौवें सामायिक व्रत के स्वरूप तथा उसके पालन में लगनेवाले अतिचारों को बताते हैं -

गाथा :

तिविहे दुप्पणिहाणे, अणवट्ठाणे तहा सइ-विहूणे।
सामाइअ वितहकए, पढमे सिक्खावए निंदे।।२७।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

त्रिविधे दुष्प्रणिधाने, अनवस्थाने सामायिके तथा स्मृति-विहीने।
प्रथमे शिक्षाव्रते वितथ-कृते, निन्दामि।।२७।।

गाथार्थ :

१. मन का दुष्प्रणिधान, २. वचन का दुष्प्रणिधान, ३. काया का दुष्प्रणिधान, ४. जैसे-तैसे सामायिक करने रूप अनवस्थान एवं ५. सामायिक के विषय में स्मृतिविहीनता - इन पाँच अतिचारों द्वारा प्रथम शिक्षाव्रत रूप सामायिक व्रत में जो वितथ/मिथ्या किया हो उसकी मैं निन्दा करता हूँ।

विशेषार्थ :

सम्यक्त्व मूल बारह व्रतों में अंतिम चार व्रतों द्वारा संयम जीवन की शिक्षा प्राप्त होने से उन्हें शिक्षाव्रत कहते हैं। उन में प्रथम 'सामायिक'[1] विरमण व्रत है। सम अर्थात् समभाव और आय अर्थात् लाभ[2], जिससे समभाव का लाभ हो उसे सामायिक कहते हैं।

'संयम जीवन' आजीवन पर्यंत पाप-व्यापारों का त्याग करके, समभाव में रहने का एक प्रयत्न है। जब कि सामायिक आदि चारों शिक्षाव्रत मर्यादित काल के लिए पाप-व्यापारों का त्याग कर समभाव में रहने का प्रयत्न है। सर्वसामायिकरूप संयम जीवन का आनंद अवर्णनीय और अनुपम है, इसलिए श्रावक को उसकी तीव्र उत्कंठा रहती है। किन्तु उसमें इतना सामर्थ्य नहीं होता कि सर्वसामायिक स्वीकार कर सके; तो भी सामर्थ्य को पाने के लिए श्रावक जब-जब समय मिले तब-तब शक्ति एवं संयोग अनुसार इस सामायिक व्रत का स्वीकार करता है। योग्य स्थान में, अखंड शुद्ध वस्त्रों का परिधान कर, जीव दया के पालन के लिए मुख विस्त्रिका, चरवला, ऊन का आसन ग्रहण करके सद्गुरु की साक्षी में श्रावक 'सामायिक' व्रत लेता है।

सामायिक व्रत स्वीकार करके श्रावक सतत समभाव को प्राप्त करने का यत्न करता है। अच्छा या बुरा, मूल्यवान या अल्प मूल्यवान, अनुकूल या प्रतिकूल, सज्जन या दुर्जन, शत्रु या मित्र, सुख या दुःख, भव या मोक्ष, सब वस्तुओं के प्रति समान भाव, कहीं भी राग नहीं या द्वेष नहीं, यह मेरा एवं यह पराया ऐसा भाव नहीं, यह ठीक है एवं यह ठीक नहीं उसका विचार नहीं, कोई चंदन का विलेपन करे या छुरी से चमड़ी छिले, कोई गालियों की बौछार करे या कोई प्रशंसा के फूल बिखेरे, सर्वत्र समान वृत्ति ऐसा अंतरंग परिणाम समभाव है। ऐसे समभाव की प्राप्ति कराए ऐसी क्रिया को सामायिक कहते हैं। ऐसी सामायिक तो बहुत ऊँची भूमिका में आती है, परंतु ऐसे श्रेष्ठ कोटि के समभाव की पूर्वभूमिका या प्राथमिक तैयारी रूप श्रावक दो घड़ी अर्थात् ४८ मिनट के लिए सामायिक व्रत स्वीकार करता है। इस व्रत को लेते हुए वह ऐसी प्रतिज्ञा करता है कि 'हे भगवंत !

1 'सामायिक' को विशेष समझने हेतु सूत्र संवेदना-१ 'करेमि भंते' सूत्र देखें।

2 **समस्य रागद्वेषकृतवैषम्यवर्जितस्य भावस्यायो लाभः समायः स एव सामायिकम्।**
- अष्टक प्रकरण की टीका

मैं सामायिक करता हूँ। मन, वचन, काया से होनेवाली सब प्रकार की पाप प्रवृत्तियों का करने एवं करवाने रूप मैं त्याग करता हूँ। हे भगवंत ! भूतकाल में किए हुए पाप व्यापारों की निन्दा, गर्हा करके इस पाप पर्यायवाली मेरी आत्मा का मैं परित्याग करता हूँ।' इस प्रकार की प्रतिज्ञा करके श्रावक सामायिक में इसके पालन के लिए यथायोग्य प्रयत्न करता है।

प्रयत्न करते हुए भी प्रमादादि दोषों के कारण इस व्रत संबंधी जिन अतिचारों की संभावना होती है उनकी इस गाथा द्वारा निन्दा की गई हैं।

तिविहे दुप्पणिहाणे - तीन प्रकार के दुष्प्रणिधान के विषय में[3]।

'प्रणिधान' शब्द का अर्थ है - एकाग्रता, तन्मयता, स्थिरता । दुष्प्रणिधान याने दुष्ट विषयों में बनी स्थिरता । मन-वचन-काया की ऐसी अनिष्ट एकाग्रता या अनिष्ट स्थान में बनी हुइ एकाग्रता ही तीन प्रकार का दुष्प्रणिधान है ।

सामायिक को स्वीकार कर श्रावक समभाव में स्थिर रहने का यत्न करता है। उसके लिए वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा एवं धर्मकथा ऐसे पाँच प्रकार का स्वाध्याय करता है। समभाव में रहे हुए महापुरुषों का ध्यान करता है। उनका नाम स्मरण रूप जाप करता है, एवं दूसरी शुभ क्रियाओं में भी मन, वचन एवं काया को स्थिर रखने का प्रयत्न करता है।

फिर भी, अनादिकाल से आत्मा में रहे हुए ममता आदि के कुसंस्कार, समभाव के लिए बाधक बने ऐसे विचारों में मन को खींच लेते हैं, समभाव को स्खलित करे ऐसी वाणी का व्यवहार करवाते हैं एवं काया को अयोग्य प्रवृत्तियों की तरफ ले जाते हैं। समभाव के लिए बाधक मन, वचन, काया का ऐसा व्यवहार सामायिक व्रत को दूषित करता है। अत: **मन-दुष्प्रणिधान, वचन-दुष्प्रणिधान एवं काय-दुष्प्रणिधान ये तीनों सामायिक व्रत में अतिचार हैं।** इसलिए निरतिचार सामायिक की इच्छा रखनेवाले श्रावक को सामायिक के समय घर, कुटुंब या परिवार संबंधी, व्यापार या व्यवहार संबंधी या सांसारिक किसी भी कार्य संबंधी मन, वचन, काया की निरर्थक प्रवृत्तियों का त्याग करना चाहिए।

---

3 इस अतिचार से बचने के लिए सामायिक में मन-वचन-काया के ३२ दोषों से बचना चाहिए। उसके लिये देखिये सूत्र संवेदना-१ में सामाइए-वय-जुत्तो सूत्र।

अणवट्ठाणे - अनवस्थान या अस्थिरता के विषय में ।

मन की स्थिति या स्थिरता 'अवस्थान' और उसका अभाव 'अनवस्थान' है। सामायिक व्रत का स्वीकार करने के बाद उसकी काल मर्यादा तक मन स्थिर न रखना, वह अनवस्थान नाम का चौथा अतिचार है।

समभाव के सुख का जिसने लेश मात्र भी आस्वाद किया हो अथवा शास्त्र वचनों के आधार से जिसमें सामायिक व्रत के प्रति अत्यंत बहुमान भाव प्रकट हुआ हो, वैसे साधक प्राय: कभी भी अस्थिर मन से सामायिक नहीं करते; तो भी कर्म की परतंत्रता एवं कषायों की कुटिलता बहुत भयंकर होती है। वह कभी साधक के मन को भी सामायिक के भाव से डगमगा देती है, तब इस दोष की संभावना होती है।

कई लोग ओघ संज्ञा या लोक संज्ञा से प्रेरित होकर सामायिक व्रत लेते हैं, परन्तु उनको समभाव के प्रति अंतरंग बहुमान भाव नहीं होता। इस कारण से उनका मन सामायिक में स्थिर नहीं रहता। सामायिक कब पूरी हो वैसे विचार उनके मन में चलते रहते हैं। वे विधिवत् सामायिक लेते भी नहीं और पूर्ण भी नहीं करते । सामायिक के प्रति बहुमान के बिना साधकों को निरंतर ये दोष लगता है। इसके अलावा अस्थिर मन से सामायिक करने वाले को समता का अंतरंग सुख कभी भी अनुभव में नहीं आता।

तहा सइविहूणे - तथा स्मृतिविहीनत्व के विषय में ।

सामायिक व्रत का स्वीकार करने के बाद निद्राधीन होकर अथवा शून्य मनस्कता से सामायिक का समय भूल जाना या मैं सामायिक में हूँ इस बात को भूल जाना वह 'स्मृति-विहीनता' नाम का पाँचवाँ अतिचार है।

यह अतिचार भी प्राय: सामायिक के प्रति बहुमान भाववाले श्रावक को नहीं लगता, क्योंकि जिसे इस व्रत के प्रति बहुमान भाव होता है, वह तो महायोद्धा की भाँति सामायिक करता है। जैसे महायोद्धा नहीं भूलता कि, 'मैं युद्ध में उतरा हूँ' उसी तरह मोह को परास्त करके समभाव को सिद्ध करने के लिए संग्राम करता साधक 'मैं सामायिक में हूँ' यह बात कभी नहीं भूलता तो भी प्रमाद आदि दोषों के कारण कभी ऐसी भूल होने की संभावना रहती है। ऐसे दोषों से बचकर

समभाव का सुख प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले श्रावक को खूब सावधान एवं जागृत होकर सामायिक करनी चाहिए।

सामाइअ वितहकए - सामायिक मिथ्या की हो।

१. मन-दुष्प्रणिधान, २. वचन-दुष्प्रणिधान, ३. काय-दुष्प्रणिधान, ४. अनवस्थान एवं ५. स्मृतिविहीनता - इन पाँच अतिचारों के सेवन के कारण सामायिक व्रत का पालन जिस प्रकार होना चाहिए उस प्रकार न हुआ हो, उसे सामायिक वितथ[4] क्रिया कहते हैं।

पढमे सिक्खावए निंदे - प्रथम शिक्षाव्रत के विषय में लगे हुए पाप की मैं निन्दा करता हूँ।

सर्वविरति की शिक्षा के लिए स्वीकार किये हुए इस व्रत के पालन में मन, वचन, काया से कोई भी दोष लगे हों तो उनकी मैं आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ, गुरु समक्ष गर्हा करता हूँ एवं पुनः सुविशुद्ध व्रतपालन में स्थिर होने का यत्न करता हूँ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'इस जगत में सुख एवं सुख के साधन अनेक हैं, परंतु ये सब साधन काल्पनिक और अल्पकाल के लिए भ्रामक सुख देने वाले हैं; जब कि समता का सुख स्वाधीन है, चिरकाल टिकने वाला है। वैसा सुख पाने के लिए किसी भी साधन की आवश्यकता नहीं होती। ऐसे श्रेष्ठतम समता का सुख पाने के लिए मैंने अल्पकाल के लिए यह सामायिक व्रत स्वीकार किया था। इस व्रत का स्वीकार करके उसका अखंड पालन करने की मेरी तीव्र भावना थी; तो भी अनादि कुसंस्कारों एवं मन, वचन, काया की अस्थिरता के कारण मैं यह व्रत अखंडता से नहीं पाल सका और उसी कारण से मैं समता के सुख से वंचित रहा हूँ।

यह मैंने ठीक नहीं किया। मेरी यह दोषवृत्ति धिक्कारणीय है। धन्य है पुणिया श्रावक एवं सुदर्शन श्रेष्ठी जैसे महापुरुष जिन्होंने व्रत लेकर, मन को स्थिर रखकर व्रत का निर्दोष पालन किया था। ऐसे महापुरुषों के चरणों में मस्तक झुकाकर उनसे प्रार्थना करता हूँ कि आपके जैसा सत्त्व मुझ में प्रकटे जिससे मैं भी संपूर्णतया इस व्रत को अखंड पालते हुए समतासागर में तैर सकूँ।'

4 **वितथकृते सम्यग् नानुपालिते** - अर्थदीपिका

ऐसे विचार करके श्रावक पुनः शुद्ध सामायिक व्रत में स्थिर होने का यत्न करता है।

चित्तवृत्ति का संस्करण :

सामायिक में अतिचारों से मुक्त रहने के लिए साधक को निम्नोक्त मुद्दे पे चिंतन करना चाहिए।

- *सर्वज्ञ शासन के अलावा दुनिया में और कोई भी धर्म चौदह राजलोक के सभी पापों से मुक्त करवाए ऐसा सामायिक जैसा अनुष्ठान नहीं बताता। मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे इस अनुष्ठान का सेवन करने का मौका मिला है। अगर मैं इस मौके को गँवा दूँगा तो न जाने भविष्य में मुझे कब ऐसा सुनहरा अवसर प्राप्त होगा। इसलिए मुझे अत्यंत सचेत बनकर सुयोग्य तरीके से सामायिक करना चाहिए और प्रमाद के वश होकर अविधि करने से दूर रहना चाहिए।*
- *ममता सर्वदुःखों का मूल है तो समता सर्वसुखों का मूल है। विधिपूर्वक सामायिक करने से तत्काल सर्व गुणों में शिरमौर एवं अत्यंत सुखप्रद ऐसे समता गुण की प्राप्ति होती है। इसलिए मुझे सामायिक निष्पन्न करने में उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।*
- *व्यापार और व्यवहार की व्यस्तता के कारण मुझे प्रायः अपने आप का निरीक्षण करने का समय ही नहीं मिलता। सामायिक संपूर्ण पाप प्रवृत्ति से मुक्त होने के कारण दोषों की पहचान करने का, उनकी गवेषणा करने का, उनसे मुक्त होने का उपाय खोजने का पूर्ण अवकाश देता है। मुझे ऐसे सुंदर अनुष्ठान करने के लिए हमेशा तत्पर रहकर अपना जीवन सफल करना चाहिए, पर सामायिक न करके या अविधि आदि करके दोषों को बढ़ाना नहीं चाहिए।*
- सामायिक मेरी आत्मिक संपत्ति रूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूपी रत्नत्रयी की प्राप्ति, शुद्धि और उन्नति (बढ़ोतरी) का सरल और सचोट उपाय है। वास्तविक समृद्धि पाना हो तो मुझे उसकी निर्दोष निष्पत्ति के लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए।

दसवाँ व्रत

अवतरणिका :

अब दसवें व्रत का स्वरूप तथा अतिचार बताते हैं -

गाथा :

आणवणे पेसवणे, सद्दे रूवे अ पुग्गलक्खेवे।
देसावगासिअम्मी, बीए सिक्खावए निंदे ।।२८ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

आनयने प्रेषणे, शब्दे रूपे व पुद्गल-क्षेपे।
देशावकाशिके द्वितीये शिक्षाव्रते निन्दामि ।।२८ ।।

गाथार्थ :

(क्षेत्र मर्यादा का उल्लंघन करके कोई वस्तु) १. मंगवाना, २. भेजना, ३. आवाज़ करना, ४. रूप दर्शन कराना (अपने आप को प्रकट करना) एवं ५. कोई वस्तु फेंककर अपनी उपस्थिति जताना, देशावकाशिक नाम के दूसरे शिक्षाव्रत में इन पाँचों में से कोई भी अतिचार लगा हो तो उसकी मैं निन्दा करता हूँ।

विशेषार्थ :

'देशावकाशिक व्रत'[1] सम्यक्त्वमूलक बारह व्रतों में दसवाँ एवं शिक्षाव्रतों में दूसरा व्रत है। 'देश' का अर्थ है एक भाग और 'अवकाश' का अर्थ है उसमें अवस्थान करना = उसमें रहना। अर्थात् श्रावक ने पूर्व छठे व्रत रूप दिग्परिणामव्रत या अन्य सर्वव्रतों को लेते समय खुले रखे विशाल आरंभ के क्षेत्र का संक्षेप करके अल्प आरंभ वाले एक देश में - एक भाग में रहना, वह एक देश में अवकाश होने के कारण 'देशावकाशिक' व्रत कहलाता है।

जब तक बाह्य जगत से संबंध नहीं छूटता, तब तक साधक आत्मभाव में स्थिरतारूप आत्मिक आनंद प्राप्त नहीं कर सकता। इसी कारण आत्मिक आनंद प्राप्त करने की भावनावाला श्रावक जब भी समय और संयोग की अनुकूलता हो तब दुनिया भर में आवागमन करने हेतु भटकते हुए मन को वहाँ से हटाकर, आत्मभाव में स्थिर करने के उद्देश्य से दिन, रात्री, प्रहर या उससे अधिक समय रूप **काल-मर्यादा** निश्चित करके, अपनी शय्या, घर या गली से अधिक क्षेत्र में न जाने-आने रूप **क्षेत्र संकोच** करता है तथा दुनिया भर में मिलने वाली भोग-उपभोग की सामग्री से बचने के लिए सातवें व्रत में बताए हुए चौदह नियम के ग्रहण रूप **द्रव्य-संकोच** करता है; जिस क्षेत्र और जिस द्रव्य का त्याग किया है, उसके प्रति ममत्व का त्याग करने रूप **भाव-संकोच** करता है।

इस तरह दसवाँ व्रत पूर्व के व्रतों की द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की मर्यादाओं को और भी संकुचित करने स्वरूप है। अत: द्रव्य से निश्चित द्रव्यों के अलावा द्रव्य ग्रहण नहीं करना, क्षेत्र से निश्चित क्षेत्र से बाहर नहीं जाना, काल से निश्चित किए हुए समय तक एवं भाव से उन क्षेत्रादि में होती हिंसादि के पाप से अटकने के भावपूर्वक इस व्रत को स्वीकार किया जाता है।

---

1 **देसावगासिअं पुण दिसिपरिमाणस्स निच्च संखेवो**
अहवा सव्ववयाणं संखेवो पइदिणं जो उ ।। - योगशास्त्र प्र. ३-८४ वृत्तौ

'दिक्परिणाम', व्रत का संकोच ये ही देशावकाशिक व्रत है। दिक्परिमाण व्रत जीवन पर्यंत के लिए या एक वर्ष के लिए या चातुर्मास के लिए लिया जाता है; जब कि देशावकाशिक व्रत एक दिन, एक प्रहर या एक मुहूर्त इत्यादि परिमाण के लिए लिया जाता है, अथवा हर रोज़ सब व्रतों को संक्षेप करना वह ही देशावगाशिक व्रत है।

इस व्रत की मर्यादा का स्वीकार करने के बाद श्रावक को स्वीकारी हुई मर्यादा से बाहर के क्षेत्रादि संबंधी मन के विचार, वाणी का व्यवहार एवं काया से होती आवागमन की क्रियाओं को बंद करना चाहिए। इसलिए निश्चित किए हुए क्षेत्र के बाहर, फोन, फेक्स, ई-मेल, कम्प्यूटर, इन्टरनेट, टी.वी. या पत्रादि द्वारा भी संबंध नहीं रखना चाहिए चूँकि तब ही क्षेत्र संबंधी हिंसा से बच सकते है। मात्र बाहर के क्षेत्र संबंधी व्यवहार नहीं; परंतु उसके प्रति जो ममत्व का नाता जुड़ा हो उसे भी तोड़ने का प्रयास श्रावक को करना चाहिए।

इस व्रत का स्वीकार करके, क्षेत्र-मर्यादा निश्चित करने के बाद, उस क्षेत्र से बाहर की वस्तु की ज़रूरत पड़े तो उसके बिना चला लेना ही योग्य है, परंतु दूसरों द्वारा उसे बाहर से मंगवाकर उसका उपयोग करना ठीक नहीं, क्योंकि वैसा करने में हिंसा से बचने का व्रत का मूल लक्ष्य संपन्न नहीं होता। **यह व्रत संयम-जीवन की शिक्षा स्वरूप है। इसमें जिस प्रकार मुनियों को किसी भी चीज़ की अपेक्षा न रखते हुए जीवन जीने की भावना होती है, उसी प्रकार श्रावक को भी यही लक्ष्य रखकर इस व्रत का अभ्यास करना है।**

यह व्रत भी अन्य व्रतों की तरह प्रथम व्रत की बाड़ समान ही है। इस व्रत का लक्ष्य भी संपूर्ण अहिंसक भाव को प्राप्त करना है । परंतु श्रावक जब तक उन क्षेत्रादि के साथ ममत्व के संबंध को त्याग कर समभाव में या आत्मभाव में स्थिर रहने का यत्न नहीं करता तब तक वह इस लक्ष्य को साध नहीं सकता।

वर्तमान में यह व्रत, उपवास, आयंबिल या ऐकासना का तप करके ८ सामायिक तथा दिन एवं रात के २ प्रतिक्रमण करने रूप में प्रचलित है, परंतु इस रीति से भी व्रत धारण करते समय ऊपर बताए हुए व्रत का लक्ष्य तो ध्यान में रखना ही चाहिए।

नीचे बताए हुए इस व्रत के अतिचार, विशेष रूप से अलग-अलग क्षेत्र संबंधी वस्तु मँगवाने आदि विषयक हैं।

आणवणे - आनयन प्रयोग।

क्षेत्र की मर्यादा से बाहर, नौकरादि से कोई वस्तु मँगवाना, वह 'आनयन प्रयोग' नाम का प्रथम अतिचार है।

पेसवणे - प्रेष्य प्रयोग।

मर्यादित क्षेत्र से बाहर नौकरादि द्वारा वस्तु भेजना, 'प्रेष्य प्रयोग' नाम का दूसरा अतिचार है।

सद्दे - शब्दानुपात।

नियंत्रित क्षेत्र से बाहर खड़े हुए नौकरादि को साक्षात् बुलाने में व्रतभंग का भय होने से खंखारकर या आवाज़ करके अपनी उपस्थिति जताना 'शब्दानुपात' अतिचार है।

रूवे अ - रूपानुपात और।

झरोखा, अगासी, खिड़की या बालकनी आदि में खड़े रहकर, अपने रूप को जताकर, हद के बाहर रहे हुए व्यक्ति को अंदर आने का संकेत करना वह 'रूपानुपात' अतिचार है।

पुग्गलक्खेवे - पुद्गल का प्रक्षेपण।

घर आदि स्थान में अपनी उपस्थिति जताने के लिए पुद्गल रूप कंकर, पत्थर, लकड़ी या अन्य कोई चीज़ फेंकना, पुद्गल-प्रक्षेप नामक पाँचवा अतिचार है।

देसावगासिअम्मी, बीए सिक्खावए निन्दे - 'देशावकाशिक' नाम के दूसरे शिक्षाव्रत में जो अतिचार लगा हो उसकी मैं निन्दा करता हूँ।

इस व्रत को स्वीकार करने के बाद उसके निरतिचार पालन के लिए श्रावक स्वाध्याय आदि शुभ क्रियाओं में मन, वचन, काया का प्रवर्तन करता है तो भी अनादि से अभ्यस्त प्रमाद और क्रोधादि, व्रत को मलिन करते हैं। उपर बताए हुए अतिचारों के परिणाम से व्रतपालन में जो मलिनता आई हो उनकी मैं अन्त:करण से निन्दा करता हूँ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'सब पापों से मुक्त होकर संयम जीवन स्वीकार करने की मेरी शक्ति नहीं, तो भी अल्प समय के लिए द्रव्य-क्षेत्र-काल एवं भाव की मर्यादा निश्चित करके उससे मन को मुक्त करने के लिए मैंने इस व्रत का स्वीकार किया था; फिर भी

विषय एवं कषाय के आक्रमण के कारण आज के दिन क्षेत्र मर्यादा के बाहर से वस्तु लाने, ले जाने के विचार मुझ से हो गए हैं, कभी वाणी का व्यवहार भी मुझ से चूक गया है और काया को भी मैं नियंत्रण में नहीं रख सका हूँ। ये मुझ से मिथ्या हुआ है। इसके द्वारा मैंने मेरे व्रत को कलंकित किया है, कर्मों का बंध किया है और दु:ख की परम्परा का सर्जन किया है। इस पापयुक्त मेरी आत्मा को धिक्कारता हूँ और निर्मल व्रतपालक महात्माओं के चरणों में मस्तक झुकाकर उनसे प्रार्थना करता हूँ कि आपके प्रभाव से मुझ में भी व्रतपालन का विशेष बल प्राप्त हो। इस रीति से सुविशुद्ध व्रत पालन का संकल्प करके मैं पुन: व्रत में स्थिर होता हूँ।'

चित्तवृत्ति का संस्करण :

दशों दिशा में दौड़ते मन की प्रवृत्ति को सीमित करने के बाद श्रावक बाकी के व्रत ग्रहण करके अविरति से विरति में आता है । उसकी भावना तो यह ही होती है कि मैं सतत अपने व्रत की मर्यादा को और संकुचित कर, साधु की तरह कम से कम द्रव्य और क्षेत्र का उपयोग करके जीवन-निर्वाह करुँ और जल्द ही साधु की तरह सर्व संग का त्याग कर सर्वविरति स्वीकार लूँ। ऐसी भावना को सफल करने हेतु नीचे बताए विषयों पर विशेष चिंतन करना चाहिए,

- पूर्व के व्रत लेकर मैंने दुनिया भर के विषयों का उपभोग करने की वृत्ति को नियंत्रित ज़रूर किया है पर अब भी मैं जो भोग-उपभोग करता हूँ वह कुसंस्कार और कर्मबंध का कारण तो हैं ही । इसलिए मुझे अपनी मर्यादाओं का दिन-प्रतिदिन संकोच करना है ।
- हर एक संबंध आर्त्तध्यान का निमित्त बनता है, इसलिए मेरे मन को स्वस्थ रखने के लिए मुझे संबंधों को तोड़ने का प्रयास करना है ।
- हर रोज़ चौदह नियमों का स्वीकार करके मैंने मन की भाग-दौड़ पर थोड़ा बहुत प्रतिबंध तो लगाया है, पर अब भी घूमने-फिरने की, चीज़ों को संग्रह करने की मेरी वृत्ति मुझे अनेक पापों का भागी बना देती है । इसलिए मुझे हर रोज नए नए अभिग्रह लेकर इन मलिन वृत्तियों से छूटना है ।

ग्यारहवाँ व्रत

अवतरणिका :

अब ग्यारहवें पौषधोपवास व्रत के स्वरूप तथा अतिचारों को बताते हैं-

गाथा :

संथारुच्चारविही - पमाय तह चेव भोयणाभोए।
पोसहविहि - विवरीए, तइए सिक्खावए निंदे।।२९।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

संस्तारोच्चारविधिप्रमादे तथा च एव भोजनाभोगे।
पौषध-विधि-विपरीते, तृतीये शिक्षाव्रते निन्दामि।।२९।।

गाथार्थ :

१. संथारने की तथा २. लघुनीति की तथा ३. बड़ी नीति की विधि में हुए प्रमाद के विषय में ४. भोजन आदि की चिंता करने में और ५. पौषध विधि विपरीत करने में, तीसरे शिक्षाव्रत विषयक जो कोई अतिचार का आसेवन हुआ हो उसकी मैं निन्दा करता हूँ।

विशेषार्थ :

सम्यक्त्व मूलक बारह व्रतों में ग्यारहवाँ एवं शिक्षाव्रत में तीसरा पौषधोपवास व्रत है। पौषधोपवास शब्द का अर्थ दो तरीके से हो सकता है : १. व्युत्पत्ति के अनुसार एवं २. प्रचलित व्यवहार के अनुसार। उसमें शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार सोचे तो धर्म की पुष्टी करे वैसी विशिष्ट क्रिया को पौषध[1] कहते हैं एवं आहार का त्याग करके, आत्मा के समीप में रहने के प्रयास को उपवास कहते हैं। इन दो शब्दो को मिलाने से उपवास सहित जो पौषध किया जाए उसे पौषधोपवास[2] व्रत कहते हैं। प्रचलित व्यवहार या प्रवृत्ति को देखें तो आहार, शरीर सत्कार, अब्रह्म और सावद्य व्यापार इन चारों का देश से या सर्व से त्याग[3] करना पौषधोपवासव्रत है।

श्रावक सर्व सावद्य व्यापार के त्यागरूप सर्व विरति को सतत चाहता है। शक्ति न होने से वह वर्तमान में उसका स्वीकार नहीं कर सकता, फिर भी उस शक्ति को प्रकट करने के लिए वह अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व तिथियों के दिन अथवा जब अनुकूलता हो तब पौषधव्रत स्वीकार करता है।

---

1 **'पोषं-पुष्टिं प्रक्रमाद् धर्मस्य धत्ते इति पौषधः।'** **- धर्मसंग्रह**

यहाँ धर्म का अधिकार होने से धर्म की पुष्टि को जो धारण करे उसे पौषध कहते हैं।

2A **उपावृत्तस्य दोषेभ्यः, सम्यग् वासो गुणैः सह।**
उपवासः स विज्ञेयो, न शरीरविशोषणम्॥१॥

दोषों से आवृत्त आत्मा का गुणों के साथ सम्यग् रीति से वास उपवास है, परन्तु मात्र शरीर शोषण करना उपवास नहीं।

B पौषध+उप+वास = पौषधोपवास

जो धर्म का संचय करने में हेतुभूत बनकर धर्म को 'पूरण करे-पूरे वह पर्व'। रूढ़ी से पर्वतिथियों को ही धर्मपुष्टि का कारण मानकर, उसे पौषध जाना जाता है। पर्वरूप पौषध दिनों में आत्मा का गुणों के साथ रहना वही 'पौषधोपवास' है।

3 **'पोसहोववासे चउव्विहे पन्नत्ते तं जहा (१) आहार-पोसहे (२) सरीर-सक्कार-पोसहे (३) बंभचेर - पोसहे (४) अव्वावार-पोसहे।**

- आवश्यक सूत्र अध्ययन - ६

इस व्रत को स्वीकार करने की इच्छावाला श्रावक व्रत की मर्यादा तक पौषधशाला[4] , चैत्यगृह या घर के कोई एक भाग में रहता है। शुद्ध एवं सादे वस्त्र पहनता है, अलंकार आदि का त्याग करता हैं और गुरु भगवंत हो तो उनके पास अथवा उनकी साक्षी में दिन, रात्री या अहोरात्री की मर्यादा तक चारों प्रकार के पौषध की अथवा यथाशक्ति पौषध की प्रतिज्ञा करता है। उस प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए समिति-गुप्ति का यथार्थ पालन करता है, शास्त्राभ्यास करता है, शुभचिंतन करता है, अरिहंतादि उत्तम तत्त्व का ध्यान करता है, अहिंसक भाव को प्रकट करने के लिए शास्त्रानुसारी पडिलेहन, प्रमार्जन आदि करता है, दोनों समय आवश्यक (प्रतिक्रमण) करता है और व्रत मर्यादा तक लगभग साधु जैसा जीवन जीता है।

यह व्रत जीवन पर्यंत के लिए नहीं है, परंतु चार प्रहर या अष्टप्रहर तक सामायिक व्रत के साथ लिया जाता है, अर्थात् लगभग उतने समय तक श्रावक को साधु जैसा जीवन जीना है। इसी कारण इस व्रत में संयम-जीवन[5] की शिक्षा अन्य व्रतों की अपेक्षा विशेष प्रकार से मिल सकती है।

इस व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक चार प्रकार के पौषध की निम्नांकित प्रतिज्ञा करता है -

(१) आहार पौषध : आंशिक (देश से) अथवा सम्पूर्णतया (सर्व से) आहार का त्याग।

आहार के चार प्रकार हैं - अशन, पान, खादिम एवं स्वादिम। चारों प्रकार के आहार का त्याग करना **'सर्व से आहार त्याग पौषध'** है और पानी की छूट

---

4. सर्व पौषधव्रत (सामायिक की तरह) (१) जिन मंदिर में (सभा मंडप में) (२) साधु मुनिराज के पास (३) अपने घर में अथवा (४) पौषधशाला में - इन चारों में से कोई भी स्थान में कर सकते हैं। - धर्मसंग्रह

5. **विरतिफलं नाऊणं, भोगसुहासाउ बहुविहं दुक्खं।**
साहुसुहकोउएण य, पडिपुण्णं (चउव्विहं) पोसहं कुणइ॥
(१) विरति के फल को जानकर, (२) भोगसुख की आशा से शारीरिक-मानसिक आदि विविध दुःखों को जानकर तथा (३) साधु के सुख की अभिलाषा से श्रावक चार प्रकार का पौषध करता है। - नवपद प्रकरण

रखते हुए तीन प्रकार का आहार त्याग करना अथवा आयंबिल, नीवि या एकासना करके एक समय से अधिक आहार का त्याग करना, वह देश से आहार त्याग पौषध है।

पौषध व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक सोचता है कि - *'आहार करना तो आत्मा का स्वभाव नहीं है, तो भी धर्म की साधना शरीर बिना संभवित नहीं और शरीर आहार बिना नहीं टिक सकता। इसलिए मुझे आहार लेना पड़ता है। ऐसा होते हुए भी अनावश्यक बारबार खाने की इच्छा और कुछ भी खाने की इच्छा, आहार संज्ञा के कारण होती है। शरीर और इन्द्रियों के ममत्व के कारण एवं आहार संज्ञा की अधीनता के कारण हमेशा मैं इस इच्छा के उपर अंकुश नहीं रख पाता, परंतु आज पर्व का दिन है, इसलिए आज मैं मेरे अणाहारी स्वभाव को प्राप्त करने एवं आहार संज्ञा की पीड़ा को दूर करने के लिए उपवास या आयंबिल आदि तप करके आंशिक रूप (देश) से अथवा सम्पूर्णता (सर्व) से आहार का त्याग करता हूँ।'* ऐसा सोचकर श्रावक जो आहार का त्याग करता है उसको देश से या सर्व से आहार पौषध कहते हैं।

(२) शरीर सत्कार पौषध : शरीर के सत्कार का त्याग करना।

स्नान, उबटन, विलेपन, पुष्प, गंध, वस्त्र और अलंकार द्वारा शरीर का श्रृंगार करना शरीर सत्कार है। देश से अथवा सर्व से शरीर सत्कार का त्याग करना शरीर सत्कार पौषध है। श्रावक समझता है कि - *'शरीर जड़ है और अशुचि से भरा हुआ है। अशुचिमय ऐसे शरीर के साथ आत्मा का संबंध कर्मों के कारण हुआ है। कर्मोदय से प्राप्त इस शरीर का श्रृंगार करके सुंदर रखने की इच्छा शरीर के राग के कारण होती है। शरीर का राग तोड़कर अशरीरी ऐसे आत्मभाव को पाने का मैं सतत प्रयत्न नहीं कर सकता, तो भी आज पर्व का दिन है, इसलिए आज इस राग को तोड़ने के लिए ही शरीर के सत्कार का त्याग करूँ'* ऐसा सोचकर श्रावक जो स्नानादि का त्याग करता है, वह **'शरीर सत्कार पौषध'** कहलाता है।

जिज्ञासा : सावद्य द्रव्य से शरीर का सत्कार किया जाए तो पाप है, परंतु पौषध में निरवद्य द्रव्य से शरीर सत्कार किया जाए तो क्या नुकसान है ?

तृप्ति : शरीर के प्रति राग से ही शरीर को सजाने की इच्छा होती है। इस अपेक्षा से सोचे तो राग से हुई हर क्रिया सावद्य ही गिनी जाती है। इसलिए पौषध में सावद्य या निरवद्य दोनों प्रकार के सत्कारों का त्याग करना ही चाहिए।

(३) ब्रह्मचर्य पौषध : मैथुनक्रिया का त्याग करना।

मैथुन संज्ञा के अधीन होकर जीव अठारह[6] प्रकार से मैथुन सेवन करता है। उससे क्लिष्ट कर्मों का बंध करके जीव भव परंपरा की वृद्धि करता है। मैथुन संज्ञा की पराधीनता के कारण श्रावक सदा के लिए अब्रह्म का त्याग न कर सके, तो भी पर्व दिनों में अब्रह्म का त्याग करके ब्रह्मस्वरूप आत्मभाव में रहने का जो प्रयत्न करता है उसे **'ब्रह्मचर्यपौषध'** कहते हैं।

(४) अव्यापार पौषध : सावद्य व्यापार का त्याग करना।

व्यापार का अर्थ है व्यवहार। संसार का कोई भी व्यवहार सावद्य अर्थात् पापकारी ही होता है। श्रावक सदा ऐसे व्यवहारों का त्याग नहीं कर सकता, तो भी पर्व आदि दिनों में ऐसे सभी व्यापारों का त्याग करना **'अव्यापार पौषध'** है।

श्रावक समझता है कि कर्मकृत या कषायकृत कोई भी प्रवृत्ति आत्मा का स्वभाव नहीं है। आत्मा का स्वभाव तो ज्ञानादि गुणों में रमण करने का है। इसलिए ही वह पौषध व्रत ग्रहण कर संसार की सब सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग करके आत्माभिमुख प्रवृत्ति में रहने का यत्न करता है।

अंतिम तीन पौषध भी आंशिक (देश से) और सम्पूर्ण (सर्व से) ऐसे दो प्रकार से शास्त्रों में बताएँ हैं, परंतु वर्तमान में प्रचलित पूर्वाचार्यों की परंपरा से अंतिम तीन पौषध[7] सम्पूर्णता से (सर्व से) करते हैं और आहार पौषध आंशिक (देश से)

6. औदारिक एवं वैक्रिय शरीर वाली स्त्रियों के साथ मन-वचन-काया से मैथुन का सेवन करना, करवाना एवं अनुमोदन करना।

7 आहार त्याग वगैरह चार प्रकार के देश तथा सर्व पौषध के एक संयोगी, दो संयोगी आदि कुल ८० प्रकार होते हैं।

इन चारों प्रकार के पौषध में से वर्तमान काल में पूर्वाचार्यों की परंपरा से सामाचारी भेद से मात्र आहार पौषध ही देश अथवा सर्व से होता है; क्योंकि निरवद्य आहार की मनाई सामायिक में नहीं की है जब कि अगर शरीर-सत्कार-त्याग आदि तीन पौषध देश से किये जाए तो प्राय: ऐसी प्रवृत्तियाँ करते समय सामायिक के पच्चक्खाण में बाधा आती है ।

- धर्मसंग्रह

और सम्पूर्णता (सर्व से) दोनों प्रकार से होता है। चारों प्रकार के इस पौषध के साथ सामायिक व्रत की प्रतिज्ञा भी करते हैं। यद्यपि अव्यापार पौषध से सर्व सावद्य का त्याग आ जाता है, तो भी सामायिक की प्रतिज्ञा द्वारा उसका दृढ़ीकरण होता है और समभाव के लिए विशेष यत्न किया जाता है। इसलिए पौषध व्रत सामायिक व्रत के साथ ही करने का वर्तमान में रिवाज़ है।

अब इस व्रत का स्वीकार करने के बाद प्रमादादि दोषों के कारण जो अतिचार लगते हैं उन्हें बताते हैं -

संथारूच्चारविहि-पमाय[8] - संथारने की, लघुनीति की और बड़ी नीति की विधि में हुए प्रमाद के विषय में।

इस पद द्वारा सूत्रकार ने चार अतिचार बताए हैं। उसमें 'संथारविहिपमाय' पद से दो अतिचार बताए हैं और 'उच्चारविहिपमाय' द्वारा दूसरे दो अतिचार बताए हैं।

संथार (विहिपमाय) -

(१) 'अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-शय्या-संस्तारक' - शय्या और संस्तारक की प्रतिलेखना नहीं करनी अथवा जैसे-तैसे करनी।

(२) 'अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-शय्या-संस्तारक' - शय्या और संस्तारक (संथारा) की प्रर्माजना नहीं करनी अथवा जैसे तैसे करनी।

पौषधव्रतधारी श्रावक सोने के लिए जिसका उपयोग करता है उसे संथारा कहते हैं। वर्तमान में संथारा ऊन का होता है। पूर्वकाल में दर्भ-घास एवं फलक आदि का भी संथारा होता था। इस संथारे का उपयोग करने से पहले, उसमें रहे जीव-जन्तु को कोई पीड़ा न हो, इसलिए संथारे को ठीक तरह से देखने कि क्रिया को

---

8 संस्तार एवं उच्चार - **संस्तारोच्चार**, उसकी विधि याने **संस्तारोच्चारविधि**, उसमें हुआ **प्रमाद,** वो **संस्तारोच्चारविधिप्रमाद**, उसके विषय में यहाँ सप्तमी का लोप हुआ है। **संस्तार्यते-विस्तार्यते भूपीठे शयालुभिरिति संस्तारः**। सोने की इच्छा से जमीन पर जो बिछाया जाता है उसे संस्तार अथवा **'संस्तरन्ति साधवोऽस्मिन्निति संस्तारः।'** जिसमें साधु सोते हैं, वह 'संस्तार'।

'प्रतिलेखन' कहते हैं और प्रतिलेखन के बाद हल्के हाथ से चरवले आदि से जीवजंतुओं को दूर करने की क्रिया को 'प्रमार्जन' कहते हैं। संथारादि का उपयोग करने से पहले प्रतिलेखन और प्रमार्जन दोनों करने की शास्त्र विधि=मर्यादा है; परंतु प्रमाद के कारण या कषाय के उदय से प्रतिलेखन और प्रमार्जन ठीक तरह से न किया हो तो व्रत में अतिचार लगता है।

गाथा में मात्र 'संथारा' शब्द का प्रयोग किया है, परंतु उसके उपलक्षण से वस्त्र, पात्र, वसति या पुस्तक आदि का उपयोग करते हुए भी प्रतिलेखन और प्रमार्जन करना ज़रूरी है। यह समझ लेना चाहिए। वह न करे अथवा जैसे-तैसे करे तो अतिचार लगता है।

उच्चारविहिपमाय –

(३) 'अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित-उच्चार-प्रस्रवण भूमि' बड़ी नीति और लघुनीति के विसर्जन के लिए जगह (मल-मूत्र विसर्जन करने की जगह) का प्रतिलेखन नहीं करना, अथवा जैसे-तैसे प्रतिलेखन करना।

(४) 'अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित-उच्चार-प्रस्रवण-भूमि' बड़ी नीति और लघु नीति के विसर्जन की जगह का प्रमार्जन नहीं करना, अथवा जैसे-तैसे प्रमार्जन करना।

'उच्चार' शब्द का प्रयोग उच्चार-प्रस्रवण-भूमि के लिए किया गया है।

उच्चार-प्रसवण-भूमि अर्थात् बड़ी नीति, लघुनीति (मल, मूत्र) आदि के विसर्जन की भूमि, जिसे स्थंडिल-भूमि भी कहते हैं। उसके प्रतिलेखन, प्रमार्जन की खास विधि में प्रमाद करना अर्थात् उसमें भूल-चूक करना वह 'उच्चारविधि प्रमाद' नाम का दोष है।

पौषधधारी श्रावक को मल और मूत्र यहाँ-वहाँ और मन चाहे तरीके से नहीं फेंकना चाहिए, परंतु जहाँ लोगों का आवागमन न हो और जीव जंतु भी न हों ऐसी जगह में ही उनका विसर्जन करना चाहिए। विसर्जन करने से पहले उस भूमि का प्रतिलेखन और प्रमार्जन करना चाहिए, क्योंकि उसके बिना विसर्जन करने से जीव हिंसा होती है। जहाँ लोगों का आना-जाना हो वैसी जगह विसर्जन करने से जैन शासन की निन्दा होती है और लोग जैन धर्म से विमुख होते हैं। इस तरह विसर्जन

करनेवाला व्यक्ति धर्म की निन्दा में निमित्त बन जाता है और उस कारण उसे तीव्र मोहनीयादि कर्मों का बंध भी होता है। इसलिए व्रतधारी श्रावक को ऐसे दोषों के प्रति बहुत सावधान एवं जागृत रहना चाहिए, तो ही वह इस दोष से बच सकता है।

तह चेव भोयणाभोए - उसी प्रकार भोजनादि की चिंता करने में।

भोजन अर्थात् आहार, पौषध व्रत का स्वीकार करने के बाद भोजन संबंधी चिंता करनी जैसे कि भोजन मिलेगा या नहीं, कैसा मिलेगा आदि की विचारणा भोजन संबंधी अतिचार हैं। यहाँ मात्र भोजन संबंधी विचारों की बात बताई गई है; परंतु इसी तरह जिसका त्याग किया है, वैसे शरीर का श्रृंगार, अब्रह्म या सांसारिक व्यवहार संबंधी किसी भी विचार, वाणी या वर्तन करने से पौषध व्रत दूषित होता है।

पोसह-विहि-विवरीए - पौषधविधि विपरीत तरीके से करने में।

पौषध व्रत स्वीकार करने के बाद जब तक यह व्रत पूर्ण न हो तब तक जो विधि शास्त्र में बताई है उसमें प्रमादादि दोष के कारण भोजनादि की चिंता जैसे अन्य कोई विपरीत आचरण करने से, बैठे-बैठे क्रिया करने से, शून्य मन से करने से, पौषध लेकर स्वाध्याय के बदले विकथाएँ करने से, समय होने पर भी कायोत्सर्ग या ध्यानादि करने के बदले निद्राधीन होने से पौषध विधि दूषित होती है। तदुपरांत स्वीकारे हुए व्रत में दोष उद्‌भव हो वैसा मन, वचन, काया का कोई भी वर्तन करने से पौषध व्रत में 'विपरीत विधि' नाम का पाँचवाँ अतिचार[9] लगता है।

यहाँ इतना ख्याल रखना चाहिए कि इस गाथा में मुख्यरूप से प्रमार्जना, परिष्ठापना और मनोगुप्ति विषयक अतिचार बताए गए हैं; परंतु उनके उपलक्षण से

---

9 धर्म संग्रह, योग शास्त्र आदि में अन्य तरीके से भी पाँचों अतिचारों का संग्रह किया गया है।

'संस्तारादानहानान्य-ऽप्रत्युपेक्ष्याऽप्रमृज्य च।
अनादरोऽस्मृतिश्चेत्य-ऽतिचारा: पौषधव्रते ।।'

(१) देखे बिना या प्रमार्जन किए बिना संथारा करना (२) देखे बिना या प्रमार्जन किए बिना चीज़ों को लेना या रखना (३)देखे बिना या प्रमार्जन किए बिना परठवना (४) पौषध के प्रति अनादर और (५) विस्मरण होना : पौषध व्रत के विषय में ये पाँच अतिचार बताये हैं।

व्रतधारी श्रावक को ईर्या, भाषा एवं ऐषणा समिति के तथा वचन गुप्ति-कायगुप्ति के पालन में जो जो दोष लगे हों, उन सबकी भी इस गाथा का उच्चारण करते समय यथायोग्य विचारणा कर लेनी चाहिए।

तइए सिक्खावए निन्दे - तीसरे शिक्षाव्रत के विषय में जो अतिचार लगे हों उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

पौषध व्रत का स्वीकार करके दया के परिणामपूर्वक नीचे देखकर न चले हों, मुहपत्ति के उपयोग बिना अनावश्यक बातचीत या विकथा की हो, अपने लिए आहार बनवाया हो, वस्त्रादि जैसे-तैसे लिए हों, रखे हों, मल-मूत्र का मनचाही जगह पर, मनचाहे ढंग से विसर्जन किया हो, मन-वचन-काया का मनचाहा प्रवर्तन किया हो, ये सब पौषध व्रत विषयक अतिचार हैं। श्रावक इन सब अतिचारों का आलोचन करके उनकी आत्मसाक्षी से निन्दा करता है।

इस गाथा का उच्चारण करते समय श्रावक सोचता है कि -

'सर्वविरति स्वीकार करने की तो मेरी शक्ति नहीं है, परन्तु, उस शक्ति को प्रकट करने के लिए पर्वतिथिओं में पौषध करने का मैंने निर्णय किया है। तो भी संसार का राग सब पर्वतिथियों में पौषध लेने में बाधा उत्पन्न करता है और दिन या रात्रि का जब भी पौषध लेता हूँ, तब भी अप्रमत्त रूप से जिस प्रकार की आराधना होनी चाहिए वो नहीं हो सकती है। प्रमाद के कारण बहुत से दोषों का आसेवन हो जाता है। उन दोषों को याद करके, मैं सहृदय उनकी निन्दा करता हूँ, गुरु भगवंत के पास गर्हा करता हूँ। पुनः ऐसे दोष न लगे उसके लिए मरणांत उपसर्ग में भी निरतिचार पौषध व्रत का पालन करने वाले सुव्रत सेठ आदि को प्रणाम करके, उनके जैसा व्रत पालन का सामर्थ्य मुझ में भी प्रकट हो, ऐसी प्रार्थना करता हूँ और विशुद्ध व्रतपालन में पुनः स्थिर होता हूँ।'

चित्तवृत्ति का संस्करण :

साधु जीवन की शिक्षा प्राप्त करने का सुनहरा अवसर याने पौषध । ऐसे सुंदर अनुष्ठान का बारबार और निर्दोष पालन करने के लिए श्रावक को याद रखना चाहिए कि,

● अति आनंदप्रद संयम जीवन की प्राप्ति और पालन सुलभ हो इसलिए परमकृपालु परमात्माने पौषध जैसा सुंदर अनुष्ठान बताया है ।

● पौषध दौरान मुझे मेरी वृत्ति और प्रवृत्ति को दया और जयणा प्रधान बनाने की शिक्षा मिलती है । इससे जो संस्कारों की प्राप्ति होगी उससे साधु जीवन तो सुंदर बनेगा ही पर आज का गृहस्थ जीवन भी जयणा प्रधान बन जाएगा ।

● लक्ष्य शुद्धि के साथ पौषधोपवास करके मुझे आत्मभाव में रहने की आदत डालनी है, इसलिए मुझे पौषध दौरान तो शरीर, व्यापार आदि के राग से मुक्त होना है ।

बारहवाँ व्रत

अवतरणिका :

अब बारहवें अतिथि संविभागव्रत के स्वरूप तथा अतिचारों को बताते हैं-

गाथा :

सच्चित्ते निक्खिवणे, पिहिणे ववएस-मच्छरे चेव।
कालाइक्कमदाणे, चउत्थे सिक्खावए निंदे।।३०।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

सचित्ते निक्षेपणे, पिधाने व्यपदेश-मत्सरे च एव।
कालातिक्रम-दाने, चतुर्थे शिक्षाव्रते निन्दामि।।३०।।

गाथार्थ :

चौथे शिक्षाव्रत में दान विषयक : १. सचित्तनिक्षेप, २. सचित्तपिधान, ३. पर व्यपदेश, ४. मात्सर्य एवं ५. कालातिक्रम दान, ये पाँच अतिचार हैं। इन पाँचों में से कोई भी अतिचार लगा हो तो उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

विशेषार्थ :

सम्यक्त्वमूलक बारह व्रतों में अंतिम 'अतिथिसंविभाग व्रत' है। अतिथि को दान देने के बाद भोजन करना, उसे अतिथिसंविभाग व्रत कहते है। उसमें जिसने तिथि[1], पर्व या लौकिक व्यवहार का त्याग किया है अर्थात् अमुक पर्व दिवस में ही आराधना करना, ऐसा जिनका नियम नहीं, परंतु जिनका पूरा समय आत्मधर्म की साधना के लिए ही है, ऐसे महापुरुषों को अतिथि कहते हैं। ऐसे अतिथि में 'भिक्षु' आदि का समावेश हो सकता है, परंतु प्रस्तुत में श्रावक धर्म का अधिकार होने से अतिथि के रूप में वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत संयम की साधना करने वाले साधु भगवंतों को ही अतिथि समझना है और उनके संयमादि गुणों की पुष्टि करे ऐसे आहार, वस्त्र, पात्र या औषधादि का विधिवत् दान करना वह अतिथि-संविभाग[2] व्रत है। विधिवत्[3] दान करना अर्थात् देश, काल, आदि जानकर श्रद्धा, सत्कार आदि से दान करना।

---

1 **तिथिपर्वोत्सवा: सर्वे त्यक्ता: येन महात्मना।**
अतिथिं तेन जानीयाच्छेषमऽभ्यागतं विदु: ।। - द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका-१

2. वर्तमान काल में चौविहार उपवास के साथ रात-दिन का पौषध करके दूसरे दिन ठाम चौविहार ऐकासना करना और साधु भगवंत ने जो वस्तु वहोरी हो उस वस्तु से ही भोजन करके अतिथिसंविभाग व्रत किया जाता है। इस व्रत को स्वीकार करनेवाले को वर्ष में जितने दिन अतिथिसंविभाग करना हो उन दिनों की संख्या निश्चित कर लेनी चाहिए।
- तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (अ.७ से १६)

3 **विधिवत = (१) देश** - इस देश में अमुक वस्तु सुलभ है कि दुर्लभ, इत्यादि विचार करके दुर्लभ वस्तु का अधिक प्रमाण में दान देना आदि ।

(२) काल - सुकाल है या दुष्काल इत्यादि का विचार करना। दुष्काल हो और अगर हमें आहारादि सुलभ हो तो साधुओं को अधिक प्रमाण में वोहराना। किस समय किस वस्तु की अधिक जरूरत है, वर्तमान में कौन सी वस्तु सुलभ या दुर्लभ है इत्यादि विचार करके उस प्रमाण से वोहराना आदि ।

(३) श्रद्धा - विशुद्ध विचारों से वोहराना। 'कोई घर आए तो देना पडता है इसलिए देते है या नहीं देंगे तो बुरा लगेगा इसलिए देते हैं' ऐसी बुद्धि से नहीं, किन्तु इनका हमारे ऊपर महान उपकार है, हमें भी इसी रास्ते जाना है । उनको दान देने से हम इस मार्ग पर चलने के लिए समर्थ बन सकेंगे और हमारे अनेक पाप नाश हो जाएँगे इत्यादि विशुद्ध भावना से दान देना चाहिए ।

मोक्ष का अनन्य साधन संयम है और संयमी आत्मा के प्रति आदर, सत्कार एवं बहुमान से संयम की प्राप्ति होती है। अत: श्रावक सदैव सोचता है कि ऐसे गुण सम्पन्न आत्मा की भक्ति करके मैं अपनी आत्मा को संसार सागर से पार उतारुँ ।

संसार सागर से तरने की भावना से श्रावक पर्व दिनों में पौषध करता है। दूसरे दिन सुंदर वस्त्र, अलंकारों से सजकर उपाश्रय जाकर महात्माओं को आहार-पानी के लिए निमंत्रण देता है। मुनि भगवंत भी विलंब किए बिना ईर्यासमिति पालते हुए उसके साथ जाते हैं। विलंब करने से श्रावक को भोजन के लिए देर होती है, उससे अंतराय पड़ता है एवं साधु को पूर्वकर्मादि[4A] दोष लगने की संभावना रहती है। मुनि भगवंत के साथ श्रावक राजमार्ग पर चलता है, घर में आए हुए मुनि भगवंत को आसन ग्रहण करने की विनती करता है। कारण हो तो मुनि भगवंत उस आसन का उपयोग करते हैं, वरना निषेध करते हैं। उसके बाद व्रतधारी श्रावक अपने हाथ से ही प्रथम उत्तम द्रव्य एवं बाद में अन्य द्रव्य वोहराता है। कई बार घर का अन्य व्यक्ति दान देता हो तो भी व्रतधारी श्रावक बहुमानपूर्वक योग्य आहार का भाजन अपने हाथ में रखकर वहाँ ही खड़ा रहता है। मुनि भगवंत भी उसके पात्र में से अपने संयम के लिए उपयोगी कुछ आहार ग्रहण करते हैं; पर उसका पात्र संपूर्णतया खाली हो जाए उतना नहीं लेते क्योंकि वैसा करने में पश्चात् कर्म[4B] दोष लगने की

---

(४) सत्कार - आदर सहित वोहराना, निमंत्रण देने जाना, उनके आने की खबर मिले तो सामने लेने जाना, वोहराने के बाद थोड़ी दूर तक छोड़ने जाना वगैरह सत्कारपूर्वक दान करना।

(५) क्रम - श्रेष्ठ वस्तु का या जो जिस समय ज़रूरी हो उस वस्तु का पहले निमंत्रण करना, बाद में दूसरी वस्तु का निमंत्रण करना, अथवा जिस देश में जो क्रम हो उस क्रम से वोहराना।

(६) कल्पनीय - आधाकर्म आदि दोष से रहित, संयम के लिए उपकारक बने, ऐसी वस्तु कल्पनीय है अथवा तमाम वस्तुओं के नाम बताकर महात्मा की इच्छानुसार जरूरी चीजें वोहराना, उसे भी कल्पनीय कहते हैं।

4A पूर्वकर्म - दान देने के पहले हाथ, पात्र धोना, रसोई गरम करनी आदि पूर्वकर्म जिसमें हुआ हो वैसी भिक्षा वोहरने से पूर्वकर्म नाम का दोष लगता है।

4B पश्चात्कर्म - दान देने के बाद पात्र या हाथ धोने में पानी का उपयोग करने रूप 'पश्चात् कर्म' जिसमें हो वैसी भिक्षा वोहरने से पश्चात्कर्म नाम का दोष लगता है।

संभावना रहती है । बाद में श्रावक अपनी शक्ति अनुसार साधु को थोड़ी दूर तक छोड़ने जाता है और वापस आकर जिस वस्तु का दान दिया हो उस द्रव्य से ही भोजन करता है।

जिज्ञासा : मुनि को आहार वोहराते समय श्रावक को कैसी भावना से अपने हृदय को भावित करना चाहिए ?

तृप्ति : मुनि को आहार प्रदान करते समय श्रावक को मुनि के निर्दोष जीवन का विचार करते हुए उनकी कल्याणकारी प्रवृत्तिओं को याद करना चाहिए । एवं उनके अहिंसक एवं क्षमा प्रधान जीवन के सामने अपनी कदम-कदम पर होने वाली हिंसा एवं कषायों की प्रवृत्ति की तुलना करके अपनी प्रवृत्तियों की निन्दा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त उसे सोचना चाहिए कि *'ये महापुरुष तो क्रोध के स्थान में भी समता धारण करते हैं । मान के स्थान में कितने नम्र दिखाई देते हैं। विनय और विवेक तो कभी चूकते ही नहीं। कहीं भी आसक्ति नहीं करते। सचमुच ऐसे महात्माओं की भक्ति करके मैं भी ऐसे गुण प्रकट करुँ।'* इस तरह मुनि के गुण एवं सुपात्र दान के लाभों की विचारणा से अपने हृदय को भक्ति भाव से भरकर श्रावक को दान देना चाहिए। ऐसी भावना के प्रभाव से आत्मा के चारित्रादि गुण को आवरण करनेवाले कर्म शिथिल होते हैं एवं कभी तत्काल या कभी समय आने पर उस श्रावक को भी वे चारित्रादि गुण प्राप्त होते हैं।

जिज्ञासा : गाँव में मुनि भगवंत न हों तो श्रावक को अपने व्रत का पालन कैसे करना चाहिए ?

तृप्ति : गाँव में मुनि भगवंत न हों तो श्रावक गृहद्वार के पास आकर चारों दिशाओं का अवलोकन करे। कहीं से मुनिभगवंत आते हैं कि नहीं उसकी तलाश करे। कहीं से भी आते न दिखाई दें तो शुद्ध चित्त से विचारे कि 'धन्य है वह नगरी ! धन्य है वहाँ के लोगों ! जहाँ साधु-भगवंत सुलभ हैं। मैं पुण्यहीन हूँ। मुझे सदा के लिए तो संयमी आत्मा का सुयोग मिलता नहीं, तो भी आज अगर किसी महात्मा का योग हुआ होता तो मैं उनकी अन्नादि से भक्ति करके मेरी आत्मा का कल्याण करता'। ऐसी भावना का भावन करे और फिर भी किसी साधु या साध्वी का योग प्राप्त न हो तो शक्ति हो तो उपवास करे और न हो तो श्रावक या श्राविका की आहारादि से भक्ति करने के बाद स्वयं भोजन करे। क्योंकि

मुख्यरूप से साधु-साध्वी भक्ति पात्र होने पर भी गौणरूप से श्रावक-श्राविका भी भक्तिपात्र है।

'श्रावक-प्रज्ञप्ति'[5] नाम के आगम में बताया गया है कि, 'साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका जब घर आए तब अतिथि का आगमन हुआ ऐसा मानना चाहिए। वे आएँ तब भक्ति सहित खड़ा होना, आसन प्रदान करना, पैर धोना, नमस्कार करना आदि रूप से उनकी पूजा करनी चाहिए और फिर योग्य आहार-पानी, वस्त्र, औषध, वसति (रहने का निवास) इत्यादि का दान करके अपने वैभव में से इन शुभ क्षेत्रो में वैभव के व्यय करने के तौर में संविभाग करना चाहिए।' आगम के इस पाठ के अनुसार अतिथि संविभाग व्रत का पालन श्रावक-श्राविका की भक्ति करके भी किया जा सकता है।

जिज्ञासा : अतिथिसंविभागव्रत पौषधोपवास करके होता है या उसके बिना भी हो सकता है ?

तृप्ति : सामान्यतौर से श्रावक को नित्य अतिथि सत्कार करना चाहिए, परन्तु बारह व्रत में जो अतिथिसंविभाग व्रत बताया है, वह वर्तमान की परंपरा अनुसार पौषधोपवास करके, दूसरे दिन महात्माओं को आहार प्रदान करके, वे जो वहोरे उन वस्तुओं से ठाम चौविहार एकासना करने से संपन्न होता है।

इस व्रत की आराधना करते हुए अनाभोग, सहसात्कार या लोभादि कषाय के अधीन होने से श्रावक को जिन-जिन दोषों की संभावना रहती है, उन्हें अब इस गाथा में बताते हैं।

सच्चित्ते निक्खिवणे - सचित्तनिक्षेप।

मुनिराज को दान देने योग्य वस्तु के उपर सचित्त जल, मिट्टी या अन्य सचित्त पदार्थ रख देना 'सचित्तनिक्षेप' नामक प्रथम अतिचार है। जैसे कि कच्चे पानी में रखा हुआ आम का रस इत्यादि।

---

5 **अतिथिसंविभागो नाम अतिथय: साधव: साध्व्य: श्रावका: श्राविकाश्च एतेषु गृहमुपागतेषु भक्त्याभ्युत्थानासनदानपादप्रमार्जननमस्कारादिभिरर्चयित्वा यथाविभवशक्तिं अन्न-पान-वस्त्रौषधालयादिप्रदानेन संविभाग: कार्य इति ।** - श्रावकप्रज्ञप्तिसूत्र

पिहिणे - सचित्तपिधान।

सचित्त श्रीफल, बिजोरा वगैरह पदार्थों से दान देने योग्य वस्तुओं को ढाँकना अथवा नींबू वगैरह सचित्त पदार्थ वाले ढक्कन से ढकी हुई तपेली आदि में से वोहराना यह 'सचित्तपिधान' नामक दूसरा अतिचार है।

मुनि भगवंत अन्य को लेश मात्र भी पीड़ा हो ऐसी प्रवृत्ति नहीं करते। इसलिए साधु को दान देने योग्य चीज़ के नीचे या ऊपर अगर सचित्त अर्थात् जीवमय पदार्थ रखा हुआ हो और दान देते समय हलन-चलन के कारण उस जीवमय पदार्थ के जीव को पीड़ा होने की संभावना हो तो मुनि भगवंत वैसा दान नहीं लेते। अत: कई बार उपयोग के स्खलन से या कई बार लोभादि के कारण, दान नहीं देने की बुद्धि से, श्रावक दान देने योग्य वस्तु को सचित्त से ढाँक दे तो उसे यह दोष लगता है।

ववएस - परव्यपदेश।

'पर' अर्थात् दूसरा और 'व्यपदेश' अर्थात् व्यवहार। दान देने की बुद्धि से पर (अन्य) की वस्तु को अपनी बतानी, और दान न देने की बुद्धि से अपनी चीज़ को भी यह पराई है ऐसा बताना, यह परव्यपदेश नाम का तीसरा अतिचार है।

यह वस्तु मेरी नहीं, ऐसा कहने से तो मुनि भगवंत आहारादि नहीं लेंगे, इसलिए दान देने की तीव्र भावना से पराई वस्तु को अपना बताना एवं दान न देने की बुद्धि से अपनी वस्तु को पराई बताना; इससे व्रतविषयक अतिचार लगता है। जैन धर्म विवेक एवं भाव की प्रधानता वाला धर्म है। दूसरे की वस्तु को अपनी कहने में विवेक की कमी है एवं अपनी वस्तु को पराई कहने में भाव की न्यूनता है। भाव एवं विवेक की कमी वाला दान दोष युक्त है। ऐसा दान मुनि को देने से 'परव्यपदेश' नाम का तीसरा अतिचार लगता है।

मच्छरे चेव - और मात्सर्य

मात्सर्य का अर्थ है दूसरों का अच्छा सहन न होना अथवा मात्सर्य अर्थात् क्रोध। दूसरे को दान देते हुए देखकर कहना कि, 'मैं उससे कुछ कम नहीं हूँ।' अर्थात् दूसरे के दान से खुद का दान अधिक है वैसा जताने के लिए दान करना अथवा श्रमण किसी विशेष कारण से किसी वस्तु की याचना करे तो उन पर कोप

करके, क्रोध से देना, अथवा वस्तु होने पर भी क्रोध से न देना - इत्यादि से 'मात्सर्य' नामक चौथा अतिचार लगता है।

कालाइक्कमदाणे - कालातिक्रम - दान देने के समय का उल्लंघन करना।

भिक्षा देने के समय का उल्लंघन करना। दान देने की इच्छा न होने से भिक्षा का समय बीत जाने पर मुनि को बुलाने जाना जिससे वे कुछ न ले अथवा कम ले। यह 'कालातिक्रम' नामक पाँचवा अतिचार है।

चउत्थे सिक्खावए निन्दे - 'अतिथि-संविभाग' नाम के चौथे शिक्षाव्रत के विषय में जो कोई भी अतिचार लगे हों, उनकी मैं निन्दा करता हूँ।

इस गाथा में पाँच अतिचार बताए हैं, परंतु उनके उपलक्षण से दूसरे भी अनेक अतिचार समझने हैं। जैसे कि मुनि को निमंत्रण देना भूल जाना, मुनि भगवंत पधारें तब देश, काल या उनके स्वास्थ्य के अनुरूप आहार नहीं देना, उनको क्या अनुकूल होगा ऐसा सोचे बिना अपनी मर्जी से प्रतिकूल चीजों से पात्र को भर देना, भावना का अतिरेक होने के कारण पूर्वकर्म, पश्चात्कर्म दोष का ख्याल नहीं रखना, भिक्षा संबंधी ४२ दोषों[6] की जानकारी लेकर निर्दोष आहार नहीं देना, दोषित को निर्दोष बताना वगैरह अनेक अतिचार हैं। इन सब अतिचारों को याद करके श्रावक उनकी निन्दा करता है और पुनः एसी गलती न हो जाए इसलिए सावध बनता है।

जिज्ञासा - अतिथि को दान देकर स्वयं भोजन करना - ऐसा व्रत स्वयं अपनी मर्जी से स्वीकारने के बाद उपरोक्त दोषों की संभावना कैसे हो सकती है ?

समाधान - मुनि को दान देने से कैसा विशिष्ट फल मिलेगा, यह जानते हुए भी दानांतराय कर्म एवं लोभादि कषायों के उदय के कारण दान देने के समय कभी ऐसे दोषों की संभावना रहती है। ऐसे दोषों के सेवन के बाद दोषों का पश्चाताप आदि हो तो ही यह व्रत टिकता है। वरना कृपणतादि दोषों के कारण दान न दे, देने वाले को रोके या देने के बाद 'बहुत दे दिया' वगैरह पश्चाताप करे तो व्रतभंग ही होता है।

---

6 गोचरी संबंधी ४२ दोषों की जानकारी योगशास्त्र, धर्मसंग्रह आदि ग्रन्थों से गुरुगम द्वारा प्राप्त करें।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'संसार सागर को तरने का अमोघ साधन संयम है, परंतु अविरति के कारण घर में बैठा हुआ मैं इस संयम के लिए समर्थ नहीं, तो भी गुणवान आत्माओं की भक्ति, बहुमान एवं सत्कारादि द्वारा मैं अपने में भी यह सामर्थ्य प्रकट कर सकूँ, इसलिए मैंने यह व्रत स्वीकार किया था। तो भी कृपणता, अनुपयोग आदि दोषों के कारण इस व्रत संबंधी बहुत से दोषों का आसेवन मुझ से हो गया है। उन सब दोषों को याद करके, आत्मसाक्षी से उनकी मैं निन्दा करता हूँ, गुरु समक्ष उनकी गर्हा करता हूँ और इस व्रत का निरतिचार पालन करने का सत्त्व मुझ में भी प्रकट हो, इसलिए शालिभद्र, धन्नासार्थवाह जैसे पूर्वकालीन महात्माओं को प्रणाम करके उनसे प्रार्थना करता हूँ कि मुझ में भी आप जैसी शक्ति प्रकट हो, जिससे मैं भी निर्दोष रीति से इस व्रत का पालन कर भवसागर तर सकूँ।'

अवतरणिका :

बारहवें व्रत के पाँच अतिचार बताने के बाद भी इस व्रत में और भी जिन अतिचारों की संभावना हैं, उन्हें अब बताते हैं -

गाथा :

सुहिएसु अ दुहिएसु अ, जा मे अस्संजएसु अणुकंपा।
रागेण व दोसेण व, तं निंदे तं च गरिहामि ।।३१।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

सुखि(हि) तेषु च दुःखितेषु च, अस्वं(सं)यतेषु मे या अनुकम्पा।
रागेण वा द्वेषेण वा, तां निन्दामि तां च गर्हे ।।३१।।

गाथार्थ :

सुहिएसु[1] (सुहितेषु) = शोभन हितवाले और **दुहिएसु** (दुःखितेषु) - दुःखी या पीड़ित, अर्थात् तप या रोगादि के कारण जिनको शारीरिक पीड़ा हो रही हो

1 **सुहितेषु - सुष्ठु हितं ज्ञानादित्रयं येषां ते सुहिता: तेषु** - वन्दारुवृत्ति

अथवा जिनके वस्त्र जीर्ण हो वैसे **अस्संजएसु**[2] (अस्वंयतेषु) - अस्वंयतों के विषय में, अर्थात् जो अपनी मर्जी से विहार नहीं करते अर्थात् स्वेच्छाचारी नहीं है, परंतु गुरु आज्ञा में जो विचरते हैं, वैसे साधुओं के विषय में, मुझ से जो अनुकम्पा[3] अर्थात् भक्ति, राग से या द्वेष से हुई हो, उसकी मैं निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ।

विशेषार्थ :

स्व एवं पर के उपकार के लिए अपनी वस्तु अन्य को देना उसे दान कहते हैं। उसके पाँच प्रकार हैं : अभयदान, ज्ञानदान, सुपात्रदान, अनुकंपादान एवं उचित दान। उसमें से यहाँ सुपात्रदान का विषय चल रहा है। सुविशुद्ध संयम का पालन करनेवाली संयमी आत्माएँ, दान के लिए सुपात्र हैं। ऐसे सुपात्र को किसी भी प्रकार की भौतिक आकांक्षा बिना, मात्र भवनिस्तार की भावना से निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र वगैरह का उल्लासपूर्वक दान करने को सुपात्र दान कहते हैं।

इस प्रकार के सुपात्र दान करने की भावनावाले श्रावक को सर्वप्रथम पात्र-अपात्र की परीक्षा करनी चाहिए। परीक्षा करके सुपात्र को पाकर उसको अति आदर और बहुमान से दान देना चाहिए। दान करते समय कोई भौतिक आशंसा रखे बिना मात्र इतनी ही भावना रखनी चाहिए कि इन महात्मा की भक्ति करके मैं भी संयमादि गुणों की शक्ति प्रकट करके शीघ्र संसार सागर से पार हो जाऊँ। ऐसी भावनापूर्वक दान किया जाए तो वह दान महा कर्म निर्जरा का कारण बन सकता है, वरना इस गाथा में बताए गए तरीके से दोष का कारण भी बन सकता है।

---

2. **अस्संजएषु - अस्वंयतेषु न स्वं-स्वच्छंदेन यता उद्यता: तेषु** शब्द की ऐसी व्युत्पत्ति करने से जो अपनी मर्जी से संयम में उद्यम नहीं करते पर हमेशा गुरु की आज्ञानुसार ही संयम का उद्यम करते हैं। उन्हें अस्वंयत भी कहा जाता है अर्थात गुरु की आज्ञा अनुसार जीनेवाले साधु को 'अस्संजएस' माना जाता है। - वन्दारुवृत्ति

3. **अनु-पश्चात्, दीन-दु:ख्यादि-दर्शनानन्तरं कम्पा=कम्पनं=आत्मप्रदेशानां कम्पनं तद्दु:ख-परिहार-गोचरेच्छात्मकम्।** - बृहत्कल्पवृत्तौ

अनुकम्पा-अनु=पश्चात्, कंप=कंपना-हृदय आर्द्र होना। दु:खिओं के दु:ख को देखकर हृदय दयार्द्र होना, उनके दु:ख दूर करने की इच्छा होनी, वह अनुकंपा है। परन्तु यहाँ अनुकंपा शब्द का विशिष्ट अर्थ में अर्थात् भक्ति के अर्थ में उपयोग हुआ है।

सुहिएसु अ दुहिएसु अ जा मे अस्संजएसु अणुकंपा रागेण व दोसेण व - सुविहित साधु एवं दुःखी साधु एवं गुरुनिश्रा में रहे हुए साधु को, राग से या द्वेष से, दान देना।

सुहिएसु (सुहितेषु) - शुभ हितवाले साधु में अर्थात् गुणों की आराधना करते हुए अपना हित कर रहे हों ऐसे साधुओं में एवं उपदेशादि द्वारा दूसरों को भी हित के मार्ग में जोड़ने का प्रयत्न कर रहे हों, ऐसे साधुओं में।

दुहिएसु (दुःखितेषु) - दुःखी या पीड़ित साधु में, यहाँ दुःखी का अर्थ दुःखी साधु नहीं करना है, परंतु तप की आराधना करते हुए या रोगादि के कारण जो शरीर से कृश हो गए हों, बाह्य रीति से जिनके शरीर में कोई पीड़ा हो ऐसे साधु में।

अस्संजएसु (अस्वंयतेषु) - अस्वंयतो के विषय में।

जो गुरुनिश्रा में रहकर, गुरु आज्ञा के अधीन होकर, मन, वचन, काया से गुरु को समर्पित होकर साधना कर रहे हों, वैसे साधुओं के विषय में।

अनुकंपा रागेण व दोसेण व - उपरोक्त सुहित या संयमी साधु को राग या द्वेष से दान देना (भक्ति करना)।

राग से देने में अर्थात् यह मेरे स्नेही हैं, स्वजन हैं, परिचित हैं, ऐसे लगाव या अपनेपन से दान करे तो इस व्रत में दोष लगता है, क्योंकि अपने स्नेही, स्वजन या परिचित मुनि को भी भक्ति से दान करना होता है; अर्थात् ये गुणवान हैं, ऐसा मानकर गुणी को आदर सहित दान करना है, परंतु परिचय के कारण रागवश दान नहीं करना है। इसका अर्थ परिचित को दान न देना ऐसा नहीं है, परंतु उनको भी भक्ति से, संसार सागर से तैरने की इच्छा से दान करना चाहिए, नहीं तो इस व्रत में दोष लगने की संभावना रहती है।

मुनि को जिस प्रकार राग से दान नहीं देना चाहिए, उसी प्रकार द्वेष से या अनादर से भी दान नहीं देना चाहिए, जैसे कि यह साधु क्षुधादि से पीड़ित है, उसके पास आहार पानी नहीं है, हम नहीं देगें तो उस बिचारे को कौन देगा ? ऐसे अनादर भाव से दान देना या मांगने आया है तो दे दो, उसे देकर रवाना करो, ऐसे द्वेष या निन्दा के भाव से सुपात्र को दान करने से भी इस व्रत में दूषण लगता है।

इसलिए इस प्रकार अप्रशस्त राग या द्वेष आदि के भाव से मुनि को दान नहीं देना चाहिए, परंतु प्रशस्त शुभ भाव से ही मुनि को दान देना चाहिए।

इसके साथ-साथ इतना भी विशेष ध्यान रखना चाहिए कि, विशेष कोई कारण ज्ञात न हो तो मुनि को शुद्ध आहार-पानी आदि का ही दान करना चाहिए, परंतु भक्ति के प्रवाह में भावुक होकर विशेष कोई कारण बिना, उनके लिए तैयार किया हुआ आधाकर्मिक आदि दोषयुक्त अशुद्ध आहार आदि से भक्ति नहीं करनी चाहिए। वैसा करने से पुण्यबंध कम एवं पापबंध अधिक होता है।

द्वात्रिंशत्द्वात्रिंशिका ग्रंथ में तो कहा है कि सुपात्र[2] को अनुकंपा बुद्धि से अर्थात् यह बिचारा दु:खी है ऐसी विपरीत बुद्धि से दान देने में दोष लगता है, क्योंकि सुपात्र में अनुकंपा बुद्धि विपरीत बुद्धि है। मुनि कभी भी करूणा का पात्र नहीं होता। करूणा के पात्र तो दीन, दु:खी या अनाथ जीव होते हैं। आहारादि की प्राप्ति हो या न हो तो भी मुनि कभी दीन नहीं होता। वह तो सदा अपनी मस्ती में जीता है। हाँ ! मुनि भगवंत को भी आहारादि की जरूरत पड़ती है, परंतु वे नहीं मिले तो व्याकुल हो जाऐं ऐसे कायर नहीं होते। दान में योग्य आहारादि मिले या न मिले मुनि भगवंत की मन स्थिति समान रहती है, क्योंकि **'मिले तो संयम वृद्धि और न मिले तो तपोवृद्धि'** ये जिन वचन उन्हें आत्मसात् होते हैं। ऐसे गुणसंपन्न महात्माओं ऊपर करूणा की बुद्धि कर्मबंध का कारण है। विहारादि के कारण कभी मुनि श्रमित या क्षुधादि से पीड़ित हो सकता है एवं ऐसे मुनि को देखकर श्रावक उनके श्रम या पीड़ा को दूर करने के लिए आहार आदि वोहराने की इच्छा करता है, परंतु तब भी उसको उनके प्रति दया का भाव नहीं होता अर्थात् ये बिचारा साधु भूखा है ऐसा भाव नहीं होता परंतु संयमादि गुणों के कारण उनके प्रति तीव्र भक्ति भाव रहता है।

---

2. **अनुकम्पाऽनुकम्प्ये स्याद्, भक्ति: पात्रे तु सङ्गता।**
अन्यथाधीस्तु दातृणामतिचारप्रसञ्जिका।। **– दानद्वात्रिंशिका श्लो. २**

अनुकंपनीय में अनुकंपा उचित है, भक्ति तो पात्र में=सुपात्र में ही उचित है। इससे विपरीत बुद्धि तो दातार को दोष लगाती है।

इसके अतिरिक्त सुपात्र में अकारण अशुद्ध दान देने में अल्प पुण्यबंध एवं दीर्घ अशुभ आयुष्य का बंध होता है[3]। अत: आत्मकल्याण के अभिलाषी साधक को, जब जब दान का प्रसंग आए तब तब यदि कोई विशेष कारण न हो तो अशुद्ध आहारादि नहीं देना चाहिए। सुपात्र को तो शुद्ध भाव से, शुद्ध आहार का दान देकर भक्ति करनी चाहिए, इसके संबंध में विशेष बातें आगे की गाथा में बताई हैं।

इस गाथा का अर्थ दूसरे तरीके[4] से भी कर सकते हैं। असंयमी अर्थात् पार्श्वस्थ[5] आदि कुसाधु, उनका आडंबर देखकर 'यह सुखी अच्छे साधु हैं ऐसा मानकर अथवा भले ही कुसाधु हैं परंतु मेरे स्वजन, मित्र या परिचित हैं' - ऐसा मानकर राग से दान देना अथवा 'यह बिचारा दु:खी है, उसकी सेवा करने वाला कोई नहीं है इसलिए हमें सेवा करनी चाहिए' ऐसा मानकर, द्वेष से या दया के भाव से दान करने से भी इस व्रत में दोष लगते हैं।

जिज्ञासा : श्रावक, संयमी के सिवाय कुसाधुओं को दान दे या नहीं ?

3 **संयताशुद्धदाने अल्पायुष्कहेतुताऽशुभदीर्घायुहेतुता। (द्वा.त्रि. १/२५ वृत्तौ)**

संयत को दिया हुआ अशुद्ध दान, अल्प आयुष्य और दीर्घ अशुभ आयुष्य का कारण है।

4 **सुहिएसु-** (सुहितेषु) = सुखीओ में - जिसके पास वस्त्र, पात्र, उपधि आदि पर्याप्त हैं वैसे एवं **दुहिएसु -** (दु:खितेषु) = दु:खिओ में - जिसके पास वस्त्र, पात्र, उपधि आदि ठीक न हो अथवा रोग से पीड़ित हो, तप से शरीर कृश हो गया हो, ऐसे **असंसजएसु -** (असंयतेषु) = असंयमीओं में - संयम से भ्रष्ट हुए पार्श्वस्थ, अवसन्न आदि साधु अथवा उनके अलावा अन्य लिंगी याने अन्य धर्म के साधु आदि में, राग से या द्वेष से अनुकंपा की हो तो उसकी मैं निंदा करता हूँ, गर्हा करता हूँ। - वृन्दारुवृत्ति

5 पाँच प्रकार के साधु को शास्त्र में कुसाधु कहा है : (१) पासत्था - जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र के उपकरणों को अपने पास रखता है, परंतु विधिपूर्वक उनका उपयोग नहीं करता, अथवा मिथ्यात्व आदि कर्मबंध के कारणरूप **'पाश'** (बंधनों) में रहता है। ये दोनों **पासत्था** कहलाते हैं।

(२) ओसन्न : प्रमाद के कारण मोक्ष मार्ग की क्रिया में निरूत्साही साधु ओसन्न कहलाता है।

(३) कुशील : ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के घातक ऐसे दुष्ट आचार (शील) वाला साधु कुशील कहलाता है।

(४) संसक्त - संवेगी या असंवेगी, जैसा साधु मिले उसके साथ वैसा बर्ताव करनेवाला साधु 'संसक्त' कहलाता है।

(५) यथाछंद - गुरु आज्ञा या आगम की मर्यादा बिना सब कार्यों में स्वेच्छा से मनचाहा वर्तन करनेवाला साधु यथाछंद कहलाता हैं। - धर्मसंग्रह

तृप्ति : कहते हैं कि श्रावक के द्वार अभंग अर्थात् दान के लिए सदा खुले रहने चाहिए। उसके द्वार पर आया हुआ कोई भी भिक्षु खाली हाथ नहीं लौटना चाहिए। अत: श्रावक को माँगने आए हुए संयमी या असंयमी किसी भी व्यक्ति को भिक्षा तो देनी ही चाहिए, परंतु भिक्षा देते समय श्रावक को व्यक्ति अनुसार आदर आदि भाव रखने चाहिए। दान लेने वाला पात्र यदि गुणवान और सुसंयमी हो तो उसको भक्ति-बहुमान एवं अंतरंग प्रीतिपूर्वक दान देना चाहिए, दु:खी या पीड़ित असंयमी हो तो करूणा या अनुकंपा की बुद्धि से देना चाहिए तथा अन्य को औचित्य बुद्धि से देना चाहिए।

कलिकाल सर्वज्ञ पू. हेमचन्द्राचार्यजी ने तो कहा है कि - पात्र एवं अपात्र की विचारणा तो जिस दान से मोक्ष मिले वैसे सुपात्र दान में ही करनी है, परंतु अनुकंपा दान के विषय में तो सर्वज्ञों ने कहीं भी निषेध नहीं किया है।[6]

तं निंदे तं च गरिहामि - सुपात्रदान के विषय में जो कोई दोष लगा हो उसकी मैं निन्दा करता हूँ एवं गुरु समक्ष उसकी गर्हा करता हूँ।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक को दिनभर में स्वयं दिए हुए दान को याद करना चाहिए। उसमें कहीं राग-द्वेष आदि रूप अशुभ भाव तो नहीं आया, उसकी विचारणा करनी चाहिए और विचार करते हुए अगर उसे ख्याल आए कि सुपात्रदान के अवसर पर अधिकतर भक्तिभाव के बदले शून्यमन से दान दिया है, आदर आदि शुभ भाव बिना दिया है, या रागादि भाव से दिया है, तो पश्चात्तापपूर्ण हृदय से सोचना चाहिए कि, *'मैंने यह गलत किया है। इस तरीके से दान करके मैंने पुण्यकर्म से अपने आपको ठगा है। गुण के बदले दोष का उपार्जन किया है। मेरे ऐसे वर्तन को मैं धिक्कारता हूँ एवं पुन: ऐसे दोष का सर्जन न हो इसके लिए सावधान बनता हूँ।'*

---

6. **इयं मोक्षफले दाने, पात्रापात्रविचारणा।**
दयादानं तु तत्त्वज्ञैः, कुत्रापि न निषिध्यते॥ - योगशास्त्र, तृतीय प्रकाश

अवतरणिका :

अब बारहवें अतिथि संविभाग व्रत में सुपात्र का एवं दान देने योग्य वस्तु का स्वरूप बताकर उनके विषय में भी प्रमाद के कारण करने योग्य कार्य न हो सका हो तो उसका प्रतिक्रमण करते हैं -

गाथा :

साहूसु संविभागो न कओ तव-चरण-करण-जुत्तेसु।
संते फासुअदाणे, तं निंदे तं च गरिहामि।।३२।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

प्रासुकदाने सति तपश्चरण-करण-युक्तेषु साधुषु।
संविभागः न कृतस्तं निन्दामि तं च गर्हे।।३२।।

गाथार्थ :

प्रासुक[7] (जीव रहित एवं ऐषणीय ४२ दोष रहित) आहार होते हुए भी, तप-चारित्र एवं क्रिया से युक्त साधुभगवंतों के लिए संविभाग न किया हो अर्थात् भक्तिपूर्वक उनको दान न दिया हो, तो उस प्रमादाचरण की मैं निन्दा करता हूँ एवं गर्हा करता हूँ।

विशेषार्थ :

साहूसु संविभागो न कओ तव-चरण-करण-जुत्तेसु - तप-चारित्र एवं क्रिया युक्त मुनिओं को दान न दिया हो।

बारहवें व्रत को स्वीकार करके जैसे सुपात्र को विधिपूर्वक दान न दें तो दोष लगता है, वैसे ही दान देने की अपनी शक्ति हो, दान देने योग्य आहार आदि अपने पास हो एवं पुण्य योग से सुपात्र का संयोग भी मिला हो; फिर भी अगर प्रमादादि दोषों के कारण दान न दें तो भी दोष लगता है। इसलिए इस गाथा में उन दोषों की निन्दा करते हुए सर्वप्रथम सुपात्र की पहचान करवाते हुए कहते हैं कि -

---

7. **प्रगता असंव उच्छ्वासादयः प्राणा यस्मात् स प्रासुकः।** - वृन्दारुवृत्ति
श्वासोच्छवासादि प्राण जिसमें से निकल गए हों उन्हें प्रासुक कहते हैं, अथवा निष्प्राण शरीर को प्रासुक कहते हैं।

तव-चरण-करण-जुत्तेसु साहूसु - जो बारह प्रकार के तप[8] में सदा उद्यत हैं तथा चरण=चरणसित्तरी[9] एवं करण = करणसित्तरी[10] से युक्त हैं, वैसे सुसाधु पधारे हों फिर भी दान न दिया हो तो दोष लगता है।

जो मुनिभगवंत बारह प्रकार के तप में रत हैं अर्थात् शक्ति अनुसार बाह्य एवं अभ्यंतर तप में सदा तत्पर रहते हैं, पाँच महाव्रत, दस यति धर्म, सत्रह प्रकार के संयम, दस प्रकार की वैयावच्च आदि सत्तर प्रकार से जो चारित्र धर्म की सुंदर

---

८ बारह प्रकार के तप का वर्णन सूत्र संवेदना -३ के अंतर्गत **'नाणम्मि'** सूत्र में है।

९ **'चरण-सित्तरी'** अर्थात् ७० प्रकार का चारित्र धर्म

५ महाव्रत	- 'सूत्र संवेदना भाग-१ में सूत्र नं. २ में देखिए'
१० यतिधर्म	- 'सूत्र संवेदना भाग-१ में सूत्र नं. २ तथा ३ देखिए'
१७ प्रकार का संयम	- पृथ्वी[1], पानी[2], अग्नि[3], वायु[4], वनस्पति[5], बेइन्द्रिय[6], तेइन्द्रिय[7],चउरिन्द्रिय[8], पंचेन्द्रिय[9] एवं अजीव[10] की रक्षा करना, पारिष्ठापना[11], प्रमार्जना[12], प्रतिलेखना[13] तथा उपेक्षा[14], मन[15], वचन[16], काया[17] का शुभ व्यापार।
१० प्रकार की वैयावच्च	- आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान, शैक्ष, साधर्मिक, कुल, गण एवं संघ इन दस की सेवा-सुश्रुषा करना।
९ ब्रह्मचर्य की गुप्ति	- 'सूत्र संवेदना भाग-१ सूत्र नं २ देखिए'
३ ज्ञानादि त्रिक	- ज्ञान-दर्शन-चारित्र धर्म
१२ प्रकार का तप	- सूत्र संवेदना भाग ३ में 'नाणम्मि' सूत्र देखिए
४ कषायों का निग्रह	- चार कषायों के स्वरूप के लिए देखिए सूत्र संवेदना भाग-१ का पंचन्द्रिय सूत्र.
७० (कुल)	

१० **'करण-सित्तरी'** अर्थात् ७० प्रकार का क्रियारूपी धर्म

४ पिंड विशुद्धि	- निर्दोष आहार, वस्त्र, पात्र, शय्या करनी.
५ इन्द्रिय निरोध	- 'सूत्र संवेदना भाग-१ में सूत्र नं. २ देखिए'
५ समिति	- 'सूत्र संवेदना भाग-१ में सूत्र नं. २ देखिए'
१२ भावना	- अनित्य, अशरण आदि बारह प्रकार कि भावना से भावित होना.
१२ प्रतिमा	- श्रमण की बारह प्रकार की विशिष्ट साधना करना
२५ प्रतिलेखना	- वस्त्र, पात्र को देखकर, जीव रहित करके उपयोग में लेना.
३ गुप्ति	- 'सूत्र संवेदना' भाग-१, सूत्र नं.२ देखिए
४ अभिग्रह	- द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव विषयक अभिग्रह लेना.
७० (कुल)	

आराधना करते हैं; और जो संयम मार्ग की पोषक सत्तर प्रकार की क्रियाएँ अप्रमत्त भाव से कर रहे हैं, वैसे मुनिभगवंत दान के लिए सुपात्र हैं; परंतु जिन्होंने साधु का वेष पहना हो, रजोहरण रखा हो पर जो ऊपर बताए हुए तप, संयम या क्रिया मार्ग की आराधना नहीं करते, वैसे पार्श्वस्थ आदि साधु कुगुरु हैं। वे दान के लिए सुपात्र नहीं हैं।

सुपात्र साधु विद्यमान हो फिर भी प्रमादवश, लोभ से या परीक्षा करने की अपेक्षा से सुसाधु को दान न दे तो श्रावक के लिए दोष है।

सुपात्र की पहचान कराने के बाद अब दान देने के योग्य वस्तु कैसी होनी चाहिए वह बताते हैं -

संते फासुअदाणे - दान योग्य प्रासुक वस्तु होने पर भी।

दान देने योग्य वस्तु प्रासुक अर्थात् जीव रहित (अचित्त) एवं आहार संबंधी शास्त्र में बताए हुए ४२ दोष रहित निर्दोष होनी चाहिए। ऐसी वस्तु घर में हो और सुपात्र साधु भगवंत पधारे हों तो भी प्रमाद, कृपणता, उपयोगशून्यता, अन्यमनस्कता, अन्य कार्य में व्यग्रता आदि दोषों के कारण सुपात्र को दान न दिया हो, तो वह श्रावक के लिए अपराध है, क्योंकि वह अपने कर्त्तव्य से चूका है, अपने हित को उसने दूर धकेल दिया है, प्राप्त पुण्य क्षणों को उसने गँवा दिया है । इसलिए ऐसे दोषों की निन्दा करते हुए अब कहते हैं -

तं निंदे तं च गरिहामि - उनकी मैं निन्दा करता हूँ एवं गर्हा करता हूँ।

सुपात्र दान की विधि में पात्र-अपात्र की परीक्षा न की हो, सुपात्र में करूणा बुद्धि की हो या अपात्र में भक्ति भाव किया हो, अकारण अशुद्ध आहार वोहराया (दिया) हो, ये सब इस व्रत विषयक अतिचार हैं। ऐसे कोई भी दोष का आसेवन हुआ हो तो उन पापों की आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ एवं गुरु समक्ष गर्हा करता हूँ।

सुपात्रदान के लिए तीन चीजें जरूरी हैं - चित्त, वित्त एवं पात्र[11] उसमें संयमी महात्मा 'सुपात्र' हैं, निर्दोष आहार 'वित्त' है और दान देने योग्य भावना, अध्यवसाय या संवेदना वह 'चित्त' है। इन तीनों का सुयोग मिलने पर एक बार भी किया हुआ दान शालिभद्र जैसा वैभव और उसके प्रति अनासक्त रहकर उसके त्याग की

11 **विधि-द्रव्य-दातृ-पात्र विशेषाद् तद् विशेषः ॥७-३४॥** - तत्त्वार्थाधिगम सूत्र

शक्ति प्रकट करता है। जब कि इन तीनों का सुयोग न मिले तो गुणसेन-अग्निशर्मा की तरह अनर्थ की परंपरा का सर्जन भी हो सकता है। इसलिए जब सुपात्र का सुयोग मिले, तब उनको शुद्ध आहार वोहराने में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'महापुण्य के उदय बिना गुणवान आत्मा का सुयोग नहीं होता। परम पुण्योदय से मुझे सुपात्र की प्राप्ति हुई है। देव-गुरु की कोई विशेष कृपा से महात्माओं की साधना में अनुकूल बने ऐसी सामग्री भी मुझे मिली है, तो भी प्रमाद से मैं उनका सफल उपयोग नहीं कर सका। सच में वित्त एवं पात्र का सुयोग तो मुझे मिला परंतु योग्य चित्त निष्पन्न करने में मैं लापरवाह रहा। मेरे इस प्रमाद एवं लोभादि कषायों को धिक्कार है। धन्य है धन्ना सार्थवाह एवं शालिभद्र के जीव को जिन्होंने पूर्व भव में भावपूर्ण हृदय से घर पधारे हुए महात्माओं की शुद्ध आहार से भक्ति कर पुण्यानुबंधी पुण्य का उपार्जन किया। ऐसे महापुरुषों के चरणों में मस्तक झुकाकर उनके जैसी भक्ति की शक्ति मुझमें भी प्रकट हो, ऐसी प्रार्थना करता हूँ एवं सुविशुद्ध प्रकार से व्रतपालन में स्थिर रहने का यत्न करता हूँ।'

चित्तवृत्ति का संस्करण :

बारहवें व्रत का सुंदर पालन करने की इच्छा वाले श्रावक को

- संयमी आत्मा का संयोग हो तो सदा मुनि भगवंत को वोहराने के बाद ही भोजन करना चाहिए।
- मुनि भगवंत न हों तो उनका आगमन किस तरफ से हो रहा है उसकी जानकारी के लिए चारों दिशाओं का अवलोकन करना चाहिए। मुनि भगवंत दिखाई न दें तो साध्वीजी भगवंत को एवं वे भी न हो तो श्रावक एवं श्राविका की भी अन्नादि से भक्ति करने के बाद भोजन करना चाहिए।
- वर्ष में कम से कम एक बार पौषधोपवास के साथ इस व्रत का पालन करना चाहिए ।
- दान में क्रम, विवेक, सद्भाव, बहुमान का ख्याल रखना चाहिए ।
- दान देने के बाद उसका पश्चात्ताप नहीं बल्कि अनुमोदना करनी चाहिए।

संलेखना व्रत

अवतरणिका :

ज्ञानाचार, दर्शनाचार तथा चारित्राचार रूप सम्यक्त्व मूलक बारह व्रत का स्वरूप तथा अतिचारों का वर्णन करके अब तपाचार के एक अति महत्त्व के भेदस्वरूप संलेखना व्रत के अतिचार बताते हैं। इस गाथा में सामान्यत: 'जीवन के अन्त समय अवश्य स्वीकार करने योग्य संलेखना व्रत के कोई भी अतिचार मुझे न लगें' ऐसी प्रार्थना श्रावक करता है -

गाथा :

इहलोए परलोए, जीविअ-मरणे अ आसंस-पओगे।
पंचविहो अइआरो, मा मज्झ हुज्ज मरणंते।।३३।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

इहलोके परलोके, जीविते मरणे च आशंसा-प्रयोगे।
पञ्चविधोऽतिचार:, मरणान्ते मम मा भवेत्।।३३।।

गाथार्थ :

१. इहलोक-आशंसा-प्रयोग, २. परलोक-आशंसा-प्रयोग, ३. जीवित-आशंसा-प्रयोग, ४. मरण-आशंसा-प्रयोग एवं ५. कामभोग-आशंसा-प्रयोग (कामभोग-आशंसा-प्रयोग ऐसा अर्थ जीविअ-मरणे और आसंस-पओगे के बीच वाले 'अ' शब्द से ग्रहण किया है), ये पाँच अतिचार अंत समय में भी मुझे न हों।

विशेषार्थ :

संलेखना[1] का सामान्य अर्थ अनशन है। विशेषतौर से सोचें तो अंदर में पड़े हुए मोह एवं ममत्व के भावों को खोद-खोदकर निकालने की एक विशिष्ट प्रक्रिया को अर्थात् विषयों और कषायों का जोर घटाने की क्रिया को भी संलेखना कहते हैं। जन्म से जिसका सहवास है वैसे शरीर का ममत्व मृत्यु की वेदना के समय समाधि को खंडित करता है। प्रयत्न से प्राप्त की हुई धनसंपत्ति या परिवार आदि को छोड़कर जाने का समय जब नजर के समक्ष दिखाई देता हो तब मानव व्याकुल हो घबरा जाता है, विवेक चूक जाता है। मन को आत्मभाव या परमात्म भाव में स्थिर करने के बदले अन्य की चिंता उसके मन को चंचल कर देती है। ऐसे चंचल मन के कारण समाधिमरण प्राप्त नहीं होता।

समाधिमरण द्वारा भव परंपरा को उत्तरोत्तर उज्जवल बनाकर मोक्ष के महाआनंद तक जिसको पहुँचना है वैसा साधक, मरण समीप आने पर सावधान बन जाता है। तप द्वारा शरीर के ममत्व को तोड़ने का यत्न करता है, श्रुत (स्वाध्याय) द्वारा अपने मन को तमाम प्रकार के बाह्य भावों से हटाकर आत्मा में स्थिर रहने का प्रयास करता है, एवं शील द्वारा अनेक प्रकार की चेष्टाओं का त्याग करके काया को किसी उचित आसन में स्थिर करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार श्रुत, शील और तपादि द्वारा, अपनी शक्ति का निर्णय करके, अंत समय समीप जानकर, चारों अथवा तीनों प्रकार के आहार का त्याग कर, काया को स्थिर करके, मन को आत्मभाव में स्थापन करने का जो प्रयत्न है उसे अनशन या संलेखना व्रत कहते हैं।

इस व्रत का स्वीकार करने के बाद उसके निरतिचार पालन से आत्मा की विशिष्ट शक्ति प्रकट होती है और साथ-साथ पुण्य प्रभाव भी बढ़ता है। पुण्योदय के कारण उसकी सेवा-शुश्रुषा और दर्शनादि के लिए जन समुदाय के साथे देव-देवेन्द्र भी आते हैं। ऐसे समय यदि मन चल-विचल हो तो इस गाथा में बताए हुए दोषों की संभावना रहती है। इस कारण साधक पहले से सावधान बन जाता है।

1 संलेखना = **लिख्** धातु खोदने या कुतरने के अर्थ में है, जो तप-क्रिया कर्मों एवं कषायों को खोद डालती है, वैसी क्रिया को 'संलेखना' कहते हैं। जैन शास्त्रों के अनुसार अर्थ करें तो आयुष्य के अंतिम समय में शास्त्रोक्त विधि अनुसार करने योग्य तप को संलेखना कहते हैं।

वह प्रभु से प्रार्थना करता है कि, *'हे प्रभु ! इस जीवन में तो ऐसे दोषों का सेवन नहीं हो, परंतु मरणांत समय भी ऐसे अतिचारों का आसेवन मुझ से न हो।'*

जिज्ञासा : वर्तमान में अनशन व्रत का स्वीकार हो सकता है या नहीं ?

समाधान : विशिष्ट ज्ञानी के अभाव के कारण वर्तमान में एक-एक उपवास के पच्चक्खाण पूर्वक साधक अनशन की ओर आगे बढ़ सकता है, परंतु दीर्घकाल के लिए (आजीवन) अनशन का स्वीकार नहीं हो सकता; तो भी अल्प समय के लिए इस व्रत का स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं दिखाई देती। वर्तमान में भी, 'जीवन-दीप बुझने का समय समीप आ रहा है', ऐसा महसूस होने पर आत्म-हितेच्छु साधक आमरण चारों आहार का त्याग कर, अपनी शय्या के अलावा क्षेत्र का त्याग कर, मौन धारण कर, मन को परमात्मा ध्यान में लीन बनाकर, अमुक छूट (आगार) रखकर, सागारिक अनशन स्वीकार कर सकता है। उत्तराध्ययन[2] सूत्र का पाठ पढ़ते हुए भी लगता है कि श्रावक या श्रमण वर्तमान में यह सागारिक अनशन स्वीकार कर सकते हैं, फिर भी इस विषय में विशेषज्ञों को विमर्श करना चाहिए।

संलेखना व्रत संबंधी संभवित अतिचार इस प्रकार हैं -

इहलोए - इस लोक के विषय में।

इहलोक- आशंसा-प्रयोग : इस लोक संबंधी इच्छा करनी।

इस लोक का अर्थ है मनुष्यलोक। 'इस तप के प्रभाव से मरकर मनुष्य जीवन में चक्रवर्ती, राजा या श्रेष्ठी आदि बनूँ' ऐसी इच्छा रखना, अथवा इस तप के प्रभाव से मुझे मान-सम्मान मिले, मेरा सत्कार हो, अंतिम समय में मेरी सेवा-भक्ति अच्छी हो ऐसी इच्छा 'इहलोक-आशंसा-प्रयोग' नामक प्रथम अतिचार है।

---

2. **'सव्वावि अ अज्जाओ, सव्वेवि अ पढमसंघयणवज्जा। सव्वेवि देसविरया, पच्चखाणेण उ मरंति।' अत्र हि प्रत्याख्यानशब्देन भक्तपरिज्ञैव ज्ञेया।**

- उत्तराध्ययन सूत्र

अर्थ - प्रथम संघयण वाली आर्याओं के अलावा सभी साध्वीयाँ और सभी देशविरतिधर श्रावक-श्राविकाएँ पच्चक्खाण पूर्वक प्राण त्याग करते हैं। पच्चक्खाण का अर्थ यहाँ भक्तपरिज्ञा नामका अनशन है। (तीन प्रकार के अनशन की जानकारी सूत्र संवेदना ३ के अंतर्गत नाणम्मि सूत्र से मिलेगी।)

परलोए - परलोक के विषय में।

परलोक-आशंसा-प्रयोग : परलोक संबंधी इच्छा करनी।

परलोक का अर्थ है मनुष्य लोक के अलावा अन्य लोक। इस तप के प्रभाव से मरकर मैं देव देवेन्द्र बनूँ, दैविक ऋद्धि-समृद्धि का स्वामी बनूँ अथवा मेरे तप के प्रभाव से आकर्षित होकर यहाँ आए हुए देव मेरी भक्ति या प्रशंसा करें, ऐसी इच्छा रखना वह 'परलोक-आशंसा-प्रयोग' नामक दूसरा अतिचार है।

जीविअ - जीने के विषय में।

जीवित-आशंसा-प्रयोग : जीने की इच्छा करनी।

इस व्रत का स्वीकार करने के कारण लोगों की तरफ से बहुत मान-सम्मान, सत्कार प्राप्त होता हो तब 'इस अवस्था में अधिक जीने को मिले तो अच्छा, जिससे कीर्ति में वृद्धि हो', ऐसी इच्छा रखना। यह 'जीवित-आशंसा-प्रयोग' नामक तीसरा अतिचार है।

मरणे - मरण के विषय में।

मरण-आशंसा-प्रयोग : मरने की इच्छा करनी।

इस व्रत का स्वीकार करने के बाद द्रव्य-क्षेत्रादि की प्रतिकूलता के कारण, तथा पूजा, सत्कार, सम्मान आदि के अभाव में ऐसा विचार करना कि अब मुझे जल्दी मौत आ जाए तो अच्छा, यह 'मरण-आशंसा-प्रयोग' नामक चौथा अतिचार है।

अ आसंसपओगे - आशंसा के विषय में।

कामभोग-आशंसा-प्रयोग : कामभोग की इच्छा करनी।

इस तप के प्रभाव से, मरने के बाद मैं देवलोक में या मनुष्य लोक में जहाँ भी उत्पन्न होऊँ, वहाँ मुझे इच्छित काम भोग की प्राप्ति हो। ऐसी इच्छा रखना 'कामभोग-आशंसा-प्रयोग' नामक पाँचवाँ अतिचार है।

ये पाँचों अतिचार मात्र 'संलेखनाव्रत' विषयक ही नहीं; परंतु कोई भी धर्मानुष्ठान करते हुए इन पाँचों में से किसी भी प्रकार की आशंसा दोषरूप ही है; क्योंकि

किसी भी प्रकार का धर्म निराशंस भाव से करना है। **निराशंस भाव से किया हुआ धर्म ही मोक्षफल देता है।** आशंसापूर्वक किया हुआ धर्म कभी भौतिक सुख दे, तो भी उससे आत्महित नहीं होता। धर्म का फल मोक्ष है। चिंतामणि के बदले में कोई भी प्रज्ञावान मनुष्य बैर जैसे तुच्छ फल को नहीं खरीदता, उसी प्रकार मोक्षफल को छोड़कर कोई भी विद्वान भौतिक सुख की इच्छा नहीं रखता।

पंचविहो अइआरो, मा मज्झ हुज्ज मरणंते - हे प्रभो ! ये पाँच अतिचार मुझे मरणांत भी न हों।

इसके पहले बारह व्रत संबंधी जो अतिचार बताए, वे व्रत को स्वीकारने के बाद उनमें हुई मलिनतारूप थे। यहाँ जो अतिचार बताए हैं, वे इस व्रत को लेने के पहले सुविशुद्ध व्रतपालन की पूर्व तैयारी के लिए हैं । संलेखना व्रत और अंतिम समय में समाधिभाव टिकाना ये दोनों बहुत ही दुष्कर कार्य हैं। प्रयत्न करके इनमें टिक गए तो भी जब विशिष्ट मान-सम्मान की प्राप्ति होती है, तब मन को स्थिर रखना अति मुश्किल होता है और अगर अनशन या संलेखना का स्वीकार करने के बाद जब कष्ट बढ़ जावे तो उस कष्ट से कायर बनकर कैसी-कैसी कामनाएँ हो सकती हैं, वह तो कहा भी नहीं जा सकता। अत: इन सब भावों से बचने के लिए रोज प्रतिक्रमण करता हुआ श्रावक अपना पंडित मरण हो, अंत समय कोई हीनभाव परेशान न कर पाए एवं इस व्रत का विशुद्ध पालन हो, वैसी भावना रखकर व्रत संबंधी संभवित अतिचारों को याद करके उसके प्रति जुगुप्सा भाव प्रकटाने का यत्न करता है।

इस गाथा का उच्चारण करता हुआ श्रावक प्रभु के सामने प्रार्थना करता है कि -

'हे भगवंत ! मैं अभी तो इस शरीरादि के ममत्व को त्याग कर यह व्रत ले सकूँ ऐसा नहीं, तो भी हे विभु ! मरण समय नजदीक आने पर जब इस शरीरादि की ममता का त्याग कर के मैं अनशन व्रत लूँ, तब कोई ऐसी अयोग्य आशंसाऐं मेरे व्रत को मलिन न करें। मान-सम्मान की कोई इच्छा मेरे मन को विह्वल न करे, काम भोग की कोई भावना मेरी मृत्यु को न बिगाड़े, ऐसा ख्याल रखना एवं हे प्रभु ! मेरी मृत्यु को सुधारने और अंत समय समाधि ज्वलंत रखने का सत्त्व मुझे जरूर देना।'

ऐसी प्रार्थना द्वारा वह अपने हृदय को ऐसे भावों से भावित करता है, मानादि दोषों के प्रति ऐसी जुगुप्सा पैदा करता है कि निमित्त मिलने पर भी मान-सम्मान या वैषयिक भोग की भावना जागृत न हो एवं इस व्रत का निरतिचार पालन कर, समाधि मरण पाकर, सद्गति की परंपरा द्वारा, शिवसुख पा सके।

चित्तवृति का संस्करण :

अंत समय की तैयारी :

आराधना का अंतिम फल समाधिमरण है। मरण को समाधिमय बनाने के लिए साधक को हमेशा तैयारी रखनी चाहिए एवं शास्त्र में बताई हुई इन भावनाओं से हृदय को विशेष प्रकार से भावित करना चाहिए।

एकत्व भावना - मैं अकेला आया हूँ एवं मुझे अकेले ही जाना है। मुझे मेरे कर्मानुसार ही सुख-दुःख मिले हैं। दुःख में सहायता करने वाला एवं सुख देने वाला, मेरे कर्म के सिवाय और कोई नहीं। इस प्रकार एकत्व भावना से हृदय को भावित करना चाहिए।

श्रुत भावना - समाधिभावपूर्वक शास्त्र पंक्तिओं को पढ़कर, विचारकर, कंठस्थ करके उसके ऊपर गहरी अनुप्रेक्षा करके श्रुत को इस रीति से भावित करना चाहिए कि चाहे कैसी भी आपत्ति आए उसके सहारे मन को समाधि में रख सके।

तप भावना - यथाशक्ति तप चालू रखना, जिसके कारण रोगादि में यदि आहार-पानी न लिया जा सके तब या स्वेच्छा से अनशन आदि लिया हो तो क्षुधा-तृष्णा की वेदना हो तब मन व्याकुल न हो जाए।

सत्त्व भावना - महापुरुषों के चरित्र का विचार कर सर्व स्थिति में निर्भय रहने का प्रयत्न करना।

बल भावना - किसी भी प्रकार की आपत्ति में धीरज न टूटे उसके लिए शरीर बल एवं मनोबल को तैयार करने के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए। इसके उपरांत नीचे की बातों की भी सतत भावना करनी चाहिए।

- आत्मा शरीर से भिन्न है यह बात सुनी हुई है, समझ में भी आती है, परंतु प्रतीति नहीं होती, उसकी प्रतीति के लिए हर पल प्रयत्न करना चाहिए।

- जो होता है वो शरीर को होता है, मुझे (आत्मा को) कुछ नहीं होता, एवं जिस शरीर को मैं संभालता हूँ उसे तो यहाँ ही छोड़ जाना है, इस विश्वास को दृढ़ करना।
- अरिहंतादि चार उत्तम शरण स्वीकार करना चाहिए ।
- जीवन में अनेक पाप किए हैं, उसके द्वारा पड़े हुए कुसंस्कारों को निर्मूल करने के लिए किए हुए दुष्कृत्यों की आत्मसाक्षी से निंदा एवं गुरु समक्ष गर्हा करनी चाहिए।
- शुभ संस्कारों को दृढ़ करने के लिए सतत सर्व जीवों के सुकृतों की अनुमोदना करनी चाहिए ।

सामान्य से सर्व पापों का प्रतिक्रमण

अवतरणिका :

सामान्यतौर से सब व्रतों के अतिचार अशुभ मन, वचन, काया की प्रवृत्ति से होते हैं। इसी कारण से प्रत्येक व्रत के अलग-अलग अतिचार बताकर, अब जिस योग द्वारा जो अतिचार उत्पन्न हुआ हो उन तीनों योगों से उनका प्रतिक्रमण करते हुए कहते हैं :

गाथा :

काएण काइअस्स(स्सा) पडिक्कमे वाइअस्स वायाए।
मणसा माणसिअस्स(स्सा) सव्वस्स वयाइआरस्स ।।३४ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

सर्वस्य व्रतातिचारस्य कायिकस्य, कायेन।
वाचिकस्य वाचा मानसिकस्य मनसा प्रतिक्रामामि ।।३४ ।।

गाथार्थ :

सर्व व्रतों के अतिचारों में कायिक अतिचारों का काया द्वारा, वाचिक अतिचारों का वाणी द्वारा, एवं मानसिक अतिचारों का मन द्वारा मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

(सव्वस्स वयाइआरस्स) काएण काइअस्स(स्सा) पडिक्कमे - (सर्व व्रतों के अतिचार में) कायिक अतिचारों का काया द्वारा मैं प्रतिक्रमण करता हूँ।

व्रतों को मलिन करनेवाले अतिचार लगभग तीनों योगों से उत्पन्न होते है; तो भी किसी अतिचार में काया की मुख्यता होती है, तो किसी में मन, वचन की मुख्यता होती है। इस कारण यहाँ मुख्यता को लक्ष्य में रखकर बताया है कि, काया द्वारा जो दोष हुआ हो, अर्थात् काया पर नियंत्रण नहीं रहने के कारण, काया के ममत्व के कारण या कायिक अनुकूलता प्राप्त करने के कारण, अगर किसी जीव का वध, बंध आदि हुआ हो, तो वह व्रत संबंधी कायिक अतिचार है। 'हे भगवंत ! इन सब दोषों का मैं काया से प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् जिस काया के राग से इन दोषों का सेवन हुआ है, उस काया के राग को तप, कायोत्सर्ग आदि क्रिया द्वारा दूर करने का प्रयत्न करता हूँ एवं पुन: व्रतादि की शुभ प्रवृत्ति में काया को स्थिर करता हूँ ।'

(सव्वस्स वयाइआरस्स) वाइअस्स वायाए - (सर्व व्रतों के अतिचार में) वाचिक अतिचारों का वाणी द्वारा (मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

व्रतधारी श्रावक की भाषा किसी को पीड़ा हो ऐसी नहीं होनी चाहिए। ऐसा होते हुए भी कषाय की अधीनता से, विषयों की आसक्ति से या सोचे बिना, बोलने के कारण किसी को दु:ख हो वैसे शब्द बोले हों, किसी के उपर गलत आक्षेप लगाए हों, किसी को कलंक लगे ऐसी वाणी का व्यवहार किया हो या अपने कुल को शोभा न दे वैसे वचन बोले हों, तो वे सब व्रत संबंधी वाणी के अतिचार हैं। जैसे काया की ममता का त्याग करने का उपाय कायोत्सर्ग है, वैसे ही असभ्य, अनुचित, कषायग्रस्त, अप्रिय और दूसरों के दोष बोलकर वचन से जिस दोष का सेवन हुआ हो उससे मुक्त होने का उपाय स्वाध्याय और मौन है। 'इसलिए श्रावक भगवान से कहता है कि 'हे भगवंत ! इन सब दोषों का मैं वाणी से प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् दु:खार्द्र हृदय से की हुई भूल के बदले मिच्छामि दुक्कड़ं देता हूँ एवं पुन: ऐसा न हो उसके लिए जिस अनुचित वाणी से मैंने पाप किया था उससे मुक्त होने के लिए मैं अब से अपनी वाणी का ज्यादा से ज्यादा

प्रयोग प्रभु वचन का स्वाध्याय करने में करूँगा और अधिकतर समय में मौन रहूँगा।'

मणसा माणसिअस्स (स्सा) सव्वस्स वयाइआरस्स - सब व्रतों के अतिचार में मानसिक अतिचारों का मन द्वारा (मैं प्रतिक्रमण करता हूँ)।

व्रतधारी श्रावक अपने मन को सतत शुभ भावों में रखने का प्रयत्न करता है, तो भी मन चंचल है, चंचल मन को व्रत के भाव में स्थिर रखना दुष्कर है। मोह के आधीन होकर व्रतमालिन्य हो वैसे दुष्ट विचार, व्रत की मर्यादा का उल्लंघन हो ऐसा अशुभ चिंतन, देव-गुरू-धर्म के प्रति की हुई शंका-कुशंकाएँ या आर्त्त-रौद्र ध्यान ये सब व्रत विषयक मानसिक अतिचार हैं।

'हे भगवंत ! इन सब दोषों का मैं मन से प्रतिक्रमण करता हूँ अर्थात् हृदयपूर्वक आलोचना करके मन को शुभ भावों में, शुभ चिंतन या शुभ ध्यान में जोड़कर पुनः व्रतादि में स्थिर होता हूँ।'

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'मन, वचन, काया के नियंत्रण के बिना व्रत, नियमों का सुविशुद्ध पालन करना असंभव है। इस सत्य को समझने के बावजूद भी मन, वचन, काया के ऊपर पूर्ण नियंत्रण नहीं रख सका हूँ। इस कारण बहुतसी जगह मैं व्रत मर्यादा में चूक गया हूँ। यह मैंने गलत किया है। इस पाप से मुक्त होने के लिए मैं काया के अनुकूल व्यवहार से हुए दोषों का काया को प्रतिकूल बने वैसे व्यवहार द्वारा, वाणी के अनियंत्रण से हुए दोषों का वाणी के नियंत्रण द्वारा एवं मन की चंचलता से हुए दोषों का मन के अशुभ भावों को रोककर उसे शुभ भाव में स्थिर करके, प्रतिक्रमण करूँगा। इस प्रकार मैं व्रत में स्थिर बनूँगा।'

अवतरणिका :

बारह व्रतों के अतिचार जानकर अब श्रावक के लिए करने योग्य जो शुभ क्रियाएँ हैं एवं न करने योग्य जो अशुभ क्रियाएँ हैं, उन विषयों में जो अतिचार लगें हों उनका विशेष प्रतिक्रमण बताते हैं।

गाथा :

वंदण-वय-सिक्खा-गारवेसु, सन्ना-कसाय-दंडेसु।
गुत्तीसु अ समिईसु अ, जो अइआरो अ तं निंदे।।३५।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

वन्दन-व्रत-शिक्षा-गारवेषु, संज्ञा-कषाय-दंडेषु च।
गुप्तिषु च समितिषु च, योऽतिचारः तं निन्दामि।।३५।।

गाथार्थ :

देव-गुरु को वंदन, बारह व्रत, (ग्रहण-आसेवन) शिक्षा, तीन गारव, चार संज्ञा, चार कषाय, तीन दंड, तीन गुप्ति, पाँच समिति - इन सबके विषय में जो अतिचार लगे हों उन सबका मैं निन्दारूप प्रतिक्रमण करता हूँ।

विशेषार्थ :

वंदण - देववंदन, गुरु वंदन।

गुणवान के गुणों के प्रति आदर सूचित करनेवाली मन-वचन-काया की शुभ प्रवृत्ति को वंदन कहते हैं। दोषमुक्ति और गुणप्राप्ति यह श्रावक का लक्ष्य है और गुणवान के प्रति आदर व्यक्त करने से गुण प्राप्ति का यह लक्ष्य सुलभता से सिद्ध होता है। इसलिए अनंत गुणों के सागर अरिहंत-परमात्मा का तीन संध्याओं में दर्शन, वंदन एवं पूजा करना तथा संयमादि गुणों के स्वामी श्रमण-भगवंतों का दिन में तीन बार वंदन, दर्शन, शुश्रुषादि करना, ऐसा नियम गुणेच्छु श्रावक को लेना चाहिए। इस प्रकार के नियम पालन से ही वह अपने दोषों को दूर करके समतादि गुणों को प्राप्त कर सकता है।

प्रमाद आदि दोषों के कारण श्रावक इस प्रकार के नियम न ले, नियम ले तो उनका यथायोग्य पालन न करे, बाह्य रीति से सुन्दर पालन करे परंतु **प्रभुदर्शनादि क्रिया द्वारा आत्मगुणों के दर्शन कर,** उन गुणों को अपने में प्रकट करने का प्रयत्न न करे, तो श्रावक के लिए वह सब दोष रूप है। दिन में हुए ऐसे दोषों को याद करके इस पद द्वारा उनकी निन्दा करनी हैं।

वय - सम्यक्त्व मूलक बारह व्रत या अन्य छोटे बड़े नियम।

ज्यादातर पाप-बंध अनियंत्रित मन-वचन-काया से होते हैं। उनको नियंत्रित करने के लिए जो संकल्प किए जाते हैं, उन्हें व्रत या नियम कहते हैं। आत्म कल्याण के अभिलाषी श्रावक को शक्ति अनुसार व्रत-नियमों का स्वीकार करना चाहिए। एक पल भी विरति के बिना नहीं रहना चाहिए, परंतु प्रमाद आदि दोषों के कारण व्रत-नियम स्वीकार न किए हों या स्वीकार कर उनका यथायोग्य पालन न किया हो तो उन व्रतों के विषय में अतिचार लगता है।

सिक्खा - ग्रहण शिक्षा एवं आसेवन शिक्षा।

गुरूभगवंत से विनयपूर्वक सूत्र तथा अर्थ का ज्ञान पाना वह ग्रहण-शिक्षा है, एवं प्राप्त हुए सूत्र एवं अर्थ के सैद्धांतिक ज्ञान को जीवन में किस रीति से प्रयोग में लाना, उसका व्यवहारिक आचारात्मक ज्ञान पाना अर्थात् साधु को साधु की सामाचारी का एवं श्रावक को श्रावक की सामाचारी का शास्त्रानुसार किस तरह पालन करना है उसकी शिक्षा पाना, वह आसेवन[1] शिक्षा है। ये दोनों प्रकार की शिक्षाएँ शक्ति अनुसार प्राप्त नहीं की हों अथवा अविधि से प्राप्त की हों, प्राप्त करने के बाद उसका पालन जिस रीति से करना चाहिए उस रीति से नहीं किया हो, तो वे शिक्षा के विषय में अतिचार हैं।

गारवेसु - रस गारव, ऋद्धि गारव एवं शाता गारव : इन तीन प्रकार के गारव अथवा आठ प्रकार के मद के विषय में।

गारव का अर्थ है गृद्धि या आसक्ति, अथवा गारव का अर्थ गुरुता या बड़प्पन भी होता है। ईष्ट भोजन के प्रति आसक्ति **रसगारव** है। धन, कुटुंब या वैभव आदि की आसक्ति **ऋद्धि गारव** है एवं कोमल शय्या, कोमल वस्त्र या पाँच इन्द्रियों के अनुकूल सामग्रियों के प्रति आसक्ति **शाता गारव** है तथा मेरे पास दूसरे से बेहतर जाति, लाभ, कुल, ऐश्वर्य, बल, रूप, श्रुत एवं तप हैं, इसलिए मैं कुछ हूँ - इस प्रकार का जो अभिमान है, वह आठ प्रकार का मद है।[2] गारव अथवा मद, मान

1 ग्रहणशिक्षा सामायिकादिसूत्रार्थग्रहणरूपा, आसेवनशिक्षा पुनः नमस्कारेण विबोध इत्यादिदिनकृत्यलक्षणा। - अर्थदीपिका

२. गौरवाणि जात्यादिमदस्थानानि तानि प्रतीतानि, ऋद्धादीनि वा

- अर्थदीपिका

दोनों श्रावक के लिए त्यागने योग्य हैं। मद एवं गारव का त्याग करने के लिए श्रावक को हमेशा सोचना चाहिए कि - *'मान एवं आसक्ति ये मेरा स्वभाव नहीं है, कर्म एवं कुसंस्कार के कारण प्रकट हुआ यह एक प्रकार का विकार है। इनके अधीन होने से मेरी आत्मा वर्तमान में भी शांति और समाधि गँवा देती है और नए कर्म का बंध करती है एवं कुसंस्कार के कारण भवांतर में भी सुखी नहीं होती। इसके बजाय मैं मानादि का त्याग करके विनय, नम्रता आदि गुणों को प्रकट करूँगा तो इस भव में भी सुख पाऊँगा और पुण्यबंध तथा सुसंस्कारों के कारण भविष्य में भी सुख की परंपरा प्राप्त करके परम सुख पा सकूँगा'* ऐसा सोचकर श्रावक को मान गारव के संस्कारों को नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। श्रावक अगर ऐसा प्रयत्न न करे या शुभ भावों का सहारा लेकर, कुसंस्कारों के कारण, निमित्त मिलने से प्रकट होते हुए मानादि भावों को काबू में लाने का प्रयत्न न करे तो वह श्रावक जीवन के लिए दोष रूप है, क्योंकि श्रावक जीवन भी एक प्रकार से साधना का जीवन है। अतः उसमें मान, मद, आसक्ति या अनुकूलता के भाव रखने उचित नहीं, इसलिए दिन भर में ऐसे जो भी मलिन भाव हुए हों, उनको याद कर इस पद द्वारा उनकी निन्दा करनी है।

सन्ना - चार प्रकार की संज्ञा[3]।

मोहनीयादि कर्म के उदय से जीव को आहारादि करने की इच्छा होती है, आहार आदि मिलने से आनंद का अनुभव होता है, जिससे पुनः पुनः आहारादि करने की इच्छा रहती है। इस प्रकार के भाव को आहार संज्ञा, भय संज्ञा, मैथुन संज्ञा एवं परिग्रह संज्ञा कहते हैं। इस संज्ञा को छोड़ने के लिए श्रावक सोचता है कि, 'इन संज्ञाओं के कारण मैं अनंतकाल से इस संसार में भटक रहा हूँ, एवं विविध प्रकार के दुःखों का पात्र बना हूँ। वर्तमान में भी जो अनेक प्रकार की कदर्थना मुझे प्राप्त हुई है उनका मूल कारण ये संज्ञाएँ ही हैं। इसलिए सुगुरु के पास संज्ञा का स्वरूप समझकर मुझे इनका त्याग करना चाहिए। उनके त्याग के लिए

---

3. **संज्ञाः- अशातावेदनीय - मोहनीयकर्मोदय - सम्पाद्या आहाराभिलाषादि-रूपाः चेतनाविशेषाः।** - समावायांग - टीका सूत्र ४

मोहनीयादि कर्मों के उदय से प्राप्त हुई आहारादि की अभिलाषावाली विशिष्ट चेतना शक्ति को संज्ञा कहते हैं।

मुझे दान, शील, तप एवं भाव धर्म का शास्त्र रीति से अच्छी तरह आचरण करना चाहिए। *क्योंकि विधिपूर्वक दान करने से परिग्रह संज्ञा के, शील का पालन करने से मैथुन संज्ञा के, तप करने से आहार संज्ञा के और भावधर्म का पालन करने से भय संज्ञा के संस्कार धीरे-धीरे अल्प-अल्पतर होते हुए नष्ट हो सकते हैं।'*

श्रावक जीवन स्वीकारने के बाद श्रावक यदि संज्ञा को नहीं समझता, इन संज्ञाओं को अल्प करने के लिए दानादि धर्म का आसेवन नहीं करता, परंतु मात्र कीर्ति आदि की कामना से या गतानुगतिक रीति से दानादि करता है तो वे सर्व क्रियाएँ उसके लिए दोष रूप हैं। दिनभर में हुए ऐसे दोषों को याद करके दुःखार्द्र हृदय से श्रावक उनकी निन्दा करता है।

कसाय - चार प्रकार के कषायों[4] के विषय में।

जिस भाव से संसार की वृद्धि हो या प्राणी दुःखी हो उसे कषाय कहते हैं । सामान्य तौर से वह चार प्रकार का माना गया है : क्रोध, मान, माया एवं लोभ। ये चार कषाय संसार रूप वृक्ष के बीज हैं। अनेक प्रकार के दुःखों के कारण हैं। जीवन में अशांति एवं असमाधि को प्रकटाने वाले हैं। सभी प्रकार के क्लेश, संक्लेश एवं झगड़े के उद्भव स्थान हैं। इसलिए श्रावक को हमेशा इन कषायों के स्वरूप को जानकर उनको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए नित्य जिनवाणी का श्रवण करना चाहिए। शास्त्र-वचन से हृदय को भावित करना चाहिए एवं देवगुरु की भक्ति द्वारा उनकी कृपा का पात्र बनकर, इन कषायों को अंकुश में लाने का सतत प्रयत्न करना चाहिए। जब तक ये कषाय अंकुश में नहीं आते, तब तक विवेकपूर्वक उनको सुयोग्य स्थान में जोड़ना चाहिए। अगर इस प्रकार कषायों को अंकुश में लाने का यत्न न किया जाए तो श्रावक का जीवन दोष प्रचुर बनता है। इसलिए, दिनभर में कषायों के अधीन होकर जो प्रवृत्ति हुई हो एवं कषायों को निकालने का कोई यत्न न किया हो तो उसकी इस पद से निन्दा करनी है।

---

4. कषःसंसार : तस्यायो लाभो येभ्यस्ते कषाया: क्रोधादय: - अर्थदीपिका

कषायों तथा समिति गुप्ति का विशेष स्वरूप जानने के लिए देखें 'सूत्र संवेदना भाग-१ सूत्र-२'

दंडेसु - मन, वचन, काया रूप तीन दंड के विषय में।

जीव को महापुण्य के उदय से मन, वचन एवं काया की शक्ति प्राप्त होती है, प्राप्त हुई इस शक्ति का सदुपयोग करने से आत्मा महासुख को प्राप्त करती है एवं प्राप्त हुई इस शक्ति का दुरूपयोग करने से आत्मा को नरकादि का महादु:ख भुगतना पड़ता है। इसलिए नरकादि के दु:खों को प्राप्त करवाने वाले इन मन, वचन, काया के योगों को मनदंड, वचनदंड एवं कायदंड कहते हैं। प्राप्त हुई ये तीनों शक्तियाँ दंडरूप न बनें इसलिए श्रावक को सतत सावधान रहना चाहिए और मन-वचन-काया की शक्तियों को देव-गुरु एवं धर्म रूप तत्त्वत्रयी के साथ एवं दर्शन-ज्ञान एवं चारित्र रूप रत्नत्रयी के साथ जोड़ने का यत्न करना चाहिए। उनकी भक्ति, उनके ध्यान, उनके ही गुणगान एवं उनकी ही उपासना करने में तीनों योगों को उद्यमशील रखना चाहिए। इस तरह से तीनों योगों को सफल करना चाहिए। उसके बदले विषय कषाय के अधीन बनकर इन तीनों योगों को आत्मा का अहित हो ऐसे हिंसादि मार्ग पर उनका प्रवर्तन करना दोष है। इस पद द्वारा उसकी निन्दा करनी है।

गुत्तिसु अ समिईसु अ - तीन गुप्ति एवं पाँच समितियों के विषय में।

मन-वचन-काया को आत्मभाव में स्थित रखना अर्थात् उन्हें और कहीं भी प्रवृत्त न होने देना वही मन-वचन-काया की गुप्ति कही जाती है और मन-वचन-काया की सम्यग् प्रवृत्ति को समिति कहा जाता है । गुप्ति मे निवृत्ति का प्राधान्य होता है तो समिति में सम्यग् प्रवृत्ति का प्राधान्य होता है। कर्म का आश्रव रोककर संवरभाव प्रगट करने में समिति और गुप्ति अति महत्व की भूमिका अदा करते हैं। इसलिए श्रावक को उनके ऊपर अत्यधिक आदर होना चाहिए और सामायिकादि करते समय अवश्य समिति-गुप्ति का पालन करना चाहिए, परंतु प्रमाद आदि दोषों के कारण उनका पालन न हुआ हो तो वह दोष है, जिसका प्रतिक्रमण इस पद द्वारा करना है।

जो अइआरो अ तं निंदे - इन सब विषयों में जो अतिचार हुए हों उनकी **मैं** निन्दा करता हूँ।

वंदन आदि क्रिया नहीं करने से या विपरीत करने से श्रावक को उस क्रिया विषयक दोष लगते हैं एवं जो चीज़ें करने योग्य नहीं है वैसे कषाय आदि करने से श्रावक की आत्मा कर्ममल से मलिन होती है, जिससे आत्मा पर भव की परंपराओं को बिगाड़ने वाले अशुभ संस्कार पड़ते हैं।

अतः इस गाथा का उच्चारण करते समय श्रावक दिवस संबंधी अपनी शुभाशुभ प्रवृत्ति पर दृष्टिपात करता है एवं उनमें जहां त्रुटियाँ रही हों, खुद चूका हो, नहीं करने योग्य हो गया हो, करने योग्य रह गया हो अथवा अयोग्य हुआ हो, उनको याद करता है । उन भूलों की आलोचना, निन्दा एवं गर्हा करके पुनः ऐसा ना हो उस लिए संकल्प करता है। इस तरह वह शुभानुष्ठान में स्थिर रहने का यत्न करता है।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि 'दिनभर में मैंने गुरुवंदन आदि सत्क्रिया करने का प्रयत्न ज़रूर किया है, पर उसमें बहुत बार मेरी गलतियाँ हो गई हैं । कभी बाह्य क्रिया की है तो अंतरंग भावो से मैं भावित नहीं हुआ । कभी भाव किए हैं तो क्रिया में त्रुटियाँ रही हैं । विधि का ध्यान मैं नहीं रख सका । ये सब मैंने गलत किया है । आज ऐसे जो भी अपराध हो गए हैं उनकी आलोचना, निन्दा करके में गुरु समक्ष उनकी गर्हा करता हूँ । आगे से ऐसी गलतियाँ न हो जाएँ उसका संकल्प करके, पुनः सुविशुद्ध अनुष्ठान में स्थिर होने का प्रयत्न करता हूँ ।'

सम्यग्दृष्टि का प्रतिक्रमण

अवतरणिका :

इस प्रकार व्रत विषयक सामान्य एवं विशेष अतिचारों की आलोचना, निन्दा, गर्हा एवं प्रतिक्रमण तो श्रावक करता है, परंतु उसके लिए प्रतिक्रमण की यह क्रिया 'हस्तिस्नान' जैसी है। हाथी जिस प्रकार एक तरफ स्नान से शुद्ध होता है एवं दूसरी तरफ कीचड़ से मैला हो जाता है, उसी प्रकार श्रावक एक तरफ प्रतिक्रमण द्वारा आत्मा को शुद्ध करता है और पुनः सांसारिक व्यवहार आदि से पाप करके आत्मा को मलिन करता है, तो इस प्रकार प्रतिक्रमण करने से क्या फायदा ? ऐसी शंका का समाधान करते हुए बताते हैं:

गाथा :

सम्मद्दिट्ठी जीवो, जइ वि हु पावं समायरइ किंचि।
अप्पो सि होइ बंधो, जेण न निद्धंधसं कुणइ ।।३६ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

सम्यग्दृष्टिः जीवो यद्यपि खलु किञ्चित् पापं समाचरति।
येन निद्धंधसं (निर्दयं) न कुरुते तस्य बन्धो अल्पो भवति ।।३६ ।।

गाथार्थ :

सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि किंचित् = थोड़ा पाप का आचरण करता है, परंतु उसका भाव निर्ध्वंस = निर्दयी नहीं होता, इसलिए उसको कर्म बंध अल्प होता है।

विशेषार्थ :

सम्मद्दिट्ठी जीवो जइ वि हु पावं समायरइ किंचि - सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि थोड़े पाप का आचरण करता है।

भावपूर्वक प्रतिक्रमण करने वाला श्रावक प्राय: सम्यग्दृष्टि होता है। वह पाप कर्मों को एवं उनके फलों को भली भांति जानता है। इसी कारण वह पाप से होने वाली दुर्गति की परंपरा को नहीं चाहता । अत: जहाँ तक संभव हो वहाँ तक वह पाप करता ही नहीं। ऐसा होते हुए भी संसार के प्रति आसक्ति होने के कारण एवं सर्वांश से पाप व्यापार का त्याग करने में समर्थ न होने के कारण, कितने पाप तो उसे लाचारी से करने ही पड़ते हैं, जैसे कि धनार्जन के लिए व्यापार, कुटुंब के पालन-पोषण के लिए रसोई करना इत्यादि, इन सब कार्यों में हिंसादि पापों की संभावना रहती हैं।

अप्पोसि होइ बंधो जेण न निद्धंधसं कुणइ - सम्यग्दृष्टि जीव पाप करता है परंतु जिस कारण से उसका अध्यवसाय निर्ध्वंस - निर्दयी नहीं होता, उस कारण उसको अल्प कर्म बंध होता है।

सम्यग्दृष्टि जीव संसार में रहता है परंतु उसका मन मोक्ष[1] में होता है। इसलिए

1. **भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनुः।**
तस्य तत् सर्व एवेह योगो योगो हि भावतः।। **योगबिन्दु -२०३ श्लो**

ग्रन्थि भेद करनेवाले सम्यग्दृष्टि का जिस कारण से चित्त प्राय: मोक्ष में एवं शरीर संसार में होता है, उस कारण से उसका सम्पूर्ण व्यवहार भाव से योग ही है।

नार्या यथाऽन्यसक्तायास्तत्र भावे सदा स्थिते।
तद्योगः पापबन्धश्च तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम्।। **योगबिन्दु - २०४ श्लो**

जिस प्रकार अन्य पुरुष में आसक्त नारी का मन सदा अन्य पुरुष में ही होता है, इसलिए उसकी पति की देखभाल करना आदि सभी अच्छी प्रवृत्तियाँ भी पापबन्ध रूप ही होती हैं। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि संसार में होते हुए भी उसका चित्त मोक्ष में होने के कारण उसके सम्पूर्ण व्यापार भाव से योग ही कहलाते हैं।

न चेह ग्रन्थिभेदेन पश्यतो भावमुत्तमम्।
इतरेणाऽऽकुलस्यापि तत्र चित्तं न जायते।। **योगबिन्दु - २०५ श्लो**

ग्रन्थि भेद द्वारा मोक्ष के उत्तम भावों को देखनेवाला सम्यग्दृष्टि कभी ईतर से = संसार की कोई क्रिया से, आकुल हुआ हो तो भी उसका चित्त मोक्ष में नहीं होता ऐसा नहीं होता; अर्थात् उसका चित्त तो मोक्ष में ही होता है।

उसकी पाप प्रवृत्ति को शास्त्रों में 'तप्त लोह पदन्यास[2]' तुल्य कहा है, अर्थात् शरीर का रागी जीव जहाँ तक संभव हो गर्म लोहे पर पैर नहीं रखता और यदि किसी संयोगवश उसको वहाँ पैर रखना भी पड़े तो भी कहीं जल न जाए, उसका वह पूरा ख्याल रखता है। उसी प्रकार, सम्यग्दृष्टि जीव भी जहाँ तक संभव हो वहाँ तक पाप नहीं करता। ऐसा होते हुए भी वह कर्म से परतंत्र है, विषयों की आसक्ति उसके लिए बाधक होती है और संसार में होने के कारण उसे अनिवार्य रूप से फर्ज निभाने के लिए भी अमुक कार्य करना पड़ता है; लेकिन ये कार्य करते हुए उसमें रागादि का अंश मिल न जाए उसके लिए और बाह्य से भी अधिक हिंसादि न हो जाए उसके लिए सम्यग्दृष्टि अत्यधिक सावधानी रखता है। अतः उसे ऐसी प्रवृत्ति से जिन पाप कर्मों का बंध होता है, वह तीव्र रसवाला एवं दीर्घ स्थिति वाला नहीं होता, परंतु अल्प रसवाला एवं अल्प स्थितिवाला होता है, एवं ऐसे पाप कर्म से उसके भव भ्रमण में वृद्धि नहीं होती।

इससे समझ में आता है कि पाप कर्म दुर्गति की परंपरा का सर्जन करते ही हैं ऐसा ऐकांतिक नियम नहीं है। खुशी-खुशी किया हुआ थोड़ा भी पाप दीर्घ भव भ्रमण का कारण बनता है, जब कि दुःखद दिल से, मजबूरन किया हुआ बड़ा पाप भी, भव भ्रमण को नहीं बढ़ा सकता। बल्कि ऐसा जीव थोड़े समय में ही इन पापों का नाश करके मुक्ति सुख को प्राप्त कर सकता है।

इससे निश्चित हुआ कि आलोचना, निन्दा एवं प्रतिक्रमण द्वारा श्रावक पाप का रस घटा सकता है एवं पापों के प्रति तिरस्कार भाव को प्रकट कर सकता है। इसलिए उसकी यह क्रिया, 'हस्तिस्नान' जैसी बेकार नहीं जाती, परंतु पाप के रस को घटाने में बड़े लाभ का कारण बनती है।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि,

'प्रतिक्रमण करके भी पाप प्रवृत्ति तो मुझे करनी ही पड़ती है। फिर भी अगर मैं चाहता हूँ कि मुझे तीव्र पापबंध न हो तो मुझे सम्यग् दर्शन का परिणाम ज्वलंत

2. **अतोऽन्यदुत्तरास्वस्मात्पापे कर्मागसोऽपि हि।**
तप्तलोहपदन्यास - तुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि।। **- योगदृष्टिसमुच्चय ७० श्लो**

ऊपर की स्थिरादि चार दृष्टियों में वेद्यसवेद्य पद होने के कारण हिंसादि प्रवृत्ति होती ही नहीं और अगर कर्म के दोष से ऐसी प्रवृत्ति होती भी हो, तो वह तपे हुए तवे के उपर पैर रखने की क्रिया जैसी प्रवृत्ति होती है।

करना होगा। यह परिणाम ज्वलंत होगे तो पाप का बंध तीव्र नहीं होगा एवं कभी पाप प्रवृत्ति का पूर्णतया विराम भी संभवित है, इसलिए मुझे हताश होने की ज़रूरत नहीं है, परंतु प्राप्त सम्यग् दर्शन के परिणामों को टिकाने एवं अप्राप्त को पाने का सतत प्रयत्न करना ज़रूरी है।'

अवतरणिका :

सम्यग्दृष्टि जीव को अल्प कर्म बंध होता है यह बात सत्य है, फिर भी वह अल्प कर्मबंध भी मोक्षमार्ग में तो विघ्नकर्ता ही है। इसलिए उसका नाश श्रावक किस तरह से करता है, वह एक दृष्टांत द्वारा समझाते हुए कहते हैं :

गाथा :

तं पि हु सपडिक्कमणं, सप्परिआवं सउत्तरगुणं च।
खिप्पं उवसामेई, वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो ।।३७।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

सुशिक्षितो वैद्य इव व्याधिं क्षिप्रम् उपशमयति।
तदपि खलु सप्रतिक्रमणं, सपरितापं सोत्तरगुणं च।।३७।।

गाथार्थ :

सुशिक्षित वैद्य जैसे व्याधि को (वमन, जुलाब, लांधन आदि से) शीघ्र ठीक कर देता है वैसे ही श्रावक प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप एवं उत्तरगुण के समान उपचारों द्वारा उन अल्प पापों का भी शीघ्र उपशम कर देता है।

विशेषार्थ :

तं पि हु सपडिक्कमणं सप्परिआवं सउत्तरगुणं च - उस अल्प पाप का भी प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप एवं उत्तरगुण रूप (उपचारों द्वारा शीघ्र उपशम करते हैं)।

श्रावक को अनिवार्य रूप से जो हिंसादि पाप करने पड़ते हैं, उनमें कभी काषायिक भाव भी मिल जाता है, जिससे श्रावक को अल्प कर्मों का बंध होता है। ये कर्मबंध श्रावक को शल्य की तरह चुभते हैं। उनको निकालने के लिए वे अरिहंत भगवंत द्वारा प्ररूपित **प्रतिक्रमण** क्रिया करते हैं।

ये क्रिया भी वे संमूर्च्छिम की तरह या पोपटपाठ की तरह बिना अर्थ समझे नहीं करते, परंतु क्रिया में आने वाले प्रत्येक शब्द में मन को स्थिर करके, उसके अर्थ की विचारणापूर्वक करते हैं। हृदय को उस अर्थ के भावों के साथ जोड़कर आत्म निरीक्षण करते हैं। किस संयोग में, किस प्रकार के भाव से पाप हुआ है, उसका स्मरण करते हैं एवं स्मृति में आए तमाम पापों का दु:खार्द्र हृदय से गुरु भगवंत के पास प्रायश्चित्त करते हैं। उस पाप का नाश करने के लिए गुरु भगवंत उन्हे पाप के अनुरूप जो विविध प्रकार के तप या कायोत्सर्गादि करने का विधान करते हैं उन तपादि प्रायश्चित्त को शास्त्रीय भाषा में **उत्तरगुण** कहते हैं। प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप और उत्तरगुण की क्रियाएँ 'श्रावक ये मेरे पाप का दंड है' ऐसा सोच कर, उस रीति से करते हैं कि जिसके द्वारा पाप के संस्कार नष्ट हो जाएँ।'

इसी बात को दृष्टांत से समझाते हैं।

खिप्पं उवसामेई वाहि व्व सुसिक्खिओ विज्जो - सुशिक्षित वैद्य जिस प्रकार शीघ्रता से व्याधि को दूर कर देता है उस प्रकार...

शरीर को निरोगी रखने के लिए शास्त्रों का जिसने उचित रीति से अभ्यास किया हो उन्हें सुवैद्य कहते हैं। जैसे सुवैद्य वमन या विरेचन द्वारा, भूखा रखवाकर या औषध द्वारा रोगों का शीघ्र नाश करते हैं, वैसे ही थोड़े भी बंधे हुए कर्मों को श्रावक हृदय से पश्चात्ताप, प्रायश्चित्त एवं प्रतिक्रमण करके नाश करते हैं। इससे यह निश्चित होता है कि पाप कर्मों का नाश करने के लिए प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप एवं उत्तरगुणों की साधना, ये तीनों ज़रूरी हैं क्योंकि ये तीनों इकट्ठे होकर पाप का नाश करते हैं।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'यदि हृदय-मंदिर में सम्यग्दर्शन रूप दीपक प्रकट हुआ हो तो चिंता नहीं, क्योंकि बंधे हुए थोड़े भी पापों को इस दीपक के माध्यम से मैं सम्यग् प्रकार से देख सकूँगा और उनसे मुक्त होने के लिए प्रयत्नरूप प्रतिक्रमण, पश्चात्ताप एवं कायोत्सर्गरूप उत्तरगुणों का सेवन भी कर सकूँगा, परंतु यदि यह सम्यग्दर्शन गुण प्रकट नहीं हुआ हो तो पाप को यथार्थरूप से देख भी नहीं सकूँगा एवं पाप कर्मों को दूर करने के लिए सुविशुद्ध प्रयत्न भी नहीं कर सकूँगा। इस कारण से अब मुझे

सम्यग्दर्शन प्राप्त करके प्रतिक्रमण के सुविशुद्ध भाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना है। अतीत के पापों के प्रति तीव्र पश्चात्ताप का भाव प्रकट करना है एवं जब जब समय मिले तब तब कायोत्सर्गादि उत्तरगुणों का आसेवन कर, वैद्य जैसे व्याधि को दूर करता है उसी प्रकार मुझे मेरे कषायों को एवं कषाय से प्रकट होने वाले दोषों को दूर करना है। प्रभु ! आपके प्रभाव से मुझे इसमें सफलता प्राप्त हो।'

अवतरणिका:

यही बात सूत्रकार अन्य दृष्टांत द्वारा अधिक स्पष्ट करते हैं।

गाथा :

जहा विसं कुट्ठगयं, मंत-मूल विसारया।
विज्जा हणंति मंतेहिं, तो तं हवइ निव्विसं ।।३८ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

यथा मन्त्र-मूल-विशारदा: वैद्या: कोष्ठगतं विषम्।
मन्त्रै: घ्नन्ति, तत: स निर्विष: भवति ।।३८ ।।

गाथार्थ :

मंत्र एवं मूल के विशेषज्ञ वैद्य जैसे पेट में गए हुए जहर को मंत्र एवं मूल द्वारा नाश कर देते हैं, जिससे वह विषग्रस्त मानव निर्विष हो जाता है, उसी तरीके से अल्प पाप बंधवाला श्रावक भी प्रतिक्रमणादि से पापमुक्त हो जाता है।

विशेषार्थ :

जहा विसं कुट्ठगयं मंत-मूल-विसारया विज्ञा हणंति मंतेहिं - जैसे पेट में गए हुए विष को, मंत्र मूल का विशेषज्ञ वैद्य, मंत्रों द्वारा हनन करता है।

प्राण नाशक वस्तु को विष कहते हैं। यह विष दो प्रकार का होता है : १. स्थावर और २. जंगम। उसमें अफीम, सोमल (पोटेशियम साइनाइड) वगैरह को स्थावर विष कहते हैं एवं सर्प बिच्छू आदि प्राणियों के विष को जंगम विष कहते हैं। इन दोनों प्रकार के विष में से कोई भी प्रकार का विष अगर शरीर में जाए तो इन्सान की मृत्यु हो सकती है। जो वैद्य ज़हर उतारने वाले मंत्रों एवं औषधियों

को जानते हैं, मात्र जानते ही नहीं अपितु अनुभवों द्वारा उनकी विधि, मात्रा आदि का जिन्होंने विशेष ज्ञान प्राप्त किया हो, वैसे मंत्र-मूल के विशेषज्ञ वैद्य, पेट में गए हुए ऐसे विष का भी नाश कर सकते हैं।

तो तं हवइ निव्विसं - (मंत्रों द्वारा जहर का हनन होता है) इस कारण से वह निर्विष होता है।

मंत्र शास्त्र के जानकार गारूडिक विधिपूर्वक मंत्रों के शब्दों का उच्चारण करते हैं, उच्चरित शब्द विषव्याप्त व्यक्ति के शरीर को स्पर्श करते हैं एवं धीरे-धीरे उसके शरीर में से ज़हर नष्ट होता है और वह व्यक्ति निर्विष बन जाता है।

अवतरणिका :

ऊपर की गाथा में बताए हुए दृष्टांत का उपनय बताते हुए कहते हैं-

गाथा :

एवं अट्ठविहं कम्मं, राग-दोस-समज्जिअं।
आलोअंतो अ निंदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ।।३९।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

एवं आलोचयन् च निन्दन्, सुश्रावकः।
राग-द्वेष-समर्जितम्, अष्टविधं कर्म क्षिप्रं हन्ति।।३९।।

गाथार्थ :

इस प्रकार (सुवैद्य जिस प्रकार जहर का नाश करता है उस प्रकार) आलोचना[1] एवं निंदा करता हुआ सुश्रावक, राग, द्वेष के संयोग से एकत्रित किए हुए आठ कर्मों का शीघ्रता से नाश करता है।

विशेषार्थ :

अट्ठविहं कम्मं राग-दोस-समज्जिअं - राग और द्वेष के कारण उपार्जित किए गए आठ प्रकार के कर्मों का।

1. इस गाथा के संदर्भ में आलोचना का अर्थ है 'चारों तरफ से देखना, खोजना, सूक्ष्म रीति से आत्म निरीक्षण करना, एवं निंदा का अर्थ है जुगुप्सा अथवा तिरस्कार भाव।

कर्म जड़ है एवं आत्मा चेतन है, कर्म निर्गुण है और आत्मा अनंत ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वीर्य स्वरूप गुणों से युक्त है। अनंत शक्तिवान आत्मा भी मोह से व्यथित होने के कारण अनुकूल सामग्री प्राप्त होने पर उसमें राग करती है और प्रतिकूल सामग्री के संयोग में द्वेष करती है। इस राग-द्वेष के फलस्वरूप आत्मा में एक प्रकार की स्निग्धता पैदा होती है, जिसके कारण आत्मा ज्ञानादि गुणों को आवृत करनेवाले ज्ञानावरणीय[1] आदि आठ प्रकार के कर्मों (कार्मणवर्गणा) के साथ संबंधित हो जाती है। आत्मा और कर्मों का यह संबंध ही तो संसार है एवं इस संबंधों के कारण ही सम्पूर्ण भव नाटक चलता है। जन्म और मृत्यु, हर्ष और शोक, सुख और दुःख, संयोग और वियोग : इन सबका मूल कर्म है। कर्म के साथ आत्मा का संबंध न हो तो जन्मादि का होना संभव ही नहीं। श्रावक समझता है कि वर्तमान में जिस किसी दुःख की परंपरा का सर्जन हो रहा है और भविष्य में भी जिस किसी दुःख की परंपरा का सर्जन होने वाला है उस सबके मूल में स्वयं बांधे हुए कर्म ही हैं। उसमें और किसी का दोष नहीं है। इसलिए अगर मुझे सुखी होना हो तो सर्व प्रथम मुझे इन पाप कर्मों का नाश करना चाहिए।

अब पाप कर्मों के नाश के लिए श्रावक क्या करता है, यह बताते है :

एवं आलोअंतो अ निंदंतो, खिप्पं हणइ सुसावओ - इस तरह (सुवैद्य जिस प्रकार जहर को मिटा देता है उस तरह)आलोचना और निन्दा करता हुआ श्रावक शीघ्रता से कर्मों का नाश करता है।

शरीर में से विष निकालने के लिए वैद्य जिस प्रकार गारुडिक मंत्र का प्रयोग करता है उसी प्रकार सुश्रावक भी राग द्वेष से बांधे हुए आठ प्रकार के कर्मों का नाश करने के लिए सर्वप्रथम आलोचना करता है। उसके लिए साधक अपनी उपयोग धारा को बाह्य विषयों से हटाकर उसको अंतर की ओर मोड़ता है। आत्मा के कुसंस्कारों का ख्याल आने पर साधक का हृदय अत्यंत खलबला उठता है। उसको ऐसा लगता है कि कहाँ मेरा निर्मल होने का लक्ष्य और कहाँ मेरी ये मलिनता। अपने दोषों को दूर करने के लिए वह गंभीरता से संशोधन शुरू करता

1. कर्म सामान्य से आठ प्रकार के होते है : १. ज्ञानावरणीय कर्म, २. दर्शनावरणीय कर्म, ३. वेदनीय कर्म, ४. मोहनीय कर्म, ५. आयुष्य कर्म, ६. नाम कर्म, ७. गोत्र कर्म, ८. अंतराय कर्म.

है कि उसने किन कारणों से और किस रीति से दोषों का सेवन किया ? खुद के कौन से कुसंस्कार, आसक्ति, कषाय, विषय, प्रमाद, आर्त्त-रौद्र ध्यान के भावों के कारण भूल हुई ? जिन दोषों का सेवन हुआ है वह संयोगवश हुए है या आसक्तिवश ? जान-बूझकर किए या अकस्मात हुए? परवशता से हुए या स्वार्थवश हुए ? स्वरुचि से हुए या पर के आग्रह से उनका सेवन करना पड़ा ? दोषों के सेवन करते समय राग-द्वेष की अधीनता किस प्रकार की थी ? उसके कारण कौन-से जीवों का वध हुआ ? कितनों को पीड़ा हुई? झूठ, चोरी वगैरह का कितना आश्रय लिया ? किसके सुख की उपेक्षा हुई ? मुझ से किसका अहित हुआ? किसके हित की चिन्ता करनी बाकी रह गई ? आदि बातों पर सम्यग् प्रकार से और गहराई से विचार करता है। खुद के दोषों को खोजने के लिए की जाती ऐसी विचारधारा को शास्त्रीय भाषा में आलोचना कहते हैं।

आलोचना करने के बाद श्रावक, पाप करते समय जितने प्रमाण में रागादि अशुभ भाव प्रकट हुए हों उतने अथवा उससे अधिक मात्रा में पश्चात्ताप रूप शुभ भाव प्रकट करता है। शुभ भाव को प्रकट करने के लिए श्रावक सोचता है कि -

'मोह और ममता के अधीन होकर जो मैंने किया वो गलत किया। भगवान के ऐसे उत्तम शासन को पाकर भी मैं प्रमाद के कारण हार गया हूँ। सद्गुरूओं के वचनामृत का पान करते हुए भी मैं प्रमाद के कारण थक चुका हूँ। मैं पापी हूँ, मैं अधम हूँ, मैं कायर हूँ। मैं निकम्मा (नालायक) हूँ, जिस कारण भिन्न-भिन्न निमित्तों से मैं या तो राग से रंग जाता हूँ या तो आवेश में आ जाता हूँ या अनुचित प्रवृति कर बैठता हूँ। सही में मेरी इस वृत्ति एवं प्रवृत्ति को धिक्कार है। इस प्रकार अपने पाप की निन्दा (पश्चात्ताप) करते हुए सुश्रावक किए हुए पाप का तत्क्षण हनन (नाश) कर डालता है।'

जिज्ञासा : यहां **'सावओ'** शब्द का प्रयोग न करके **'सुसावओ'** शब्द का प्रयोग क्यों किया ?

तृप्ति : प्रत्येक वैद्य जिस प्रकार हर रोग का नाश नहीं कर सकता और हर एक गारूडिक जहर नहीं उतार सकता, परंतु मंत्र और औषध में विशारद सुवैद्य ही रोग और जहर का नाश कर सकता है। उसी प्रकार प्रत्येक श्रावक प्रतिक्रमण की क्रिया

से जल्दी कर्मनाश कर सके ऐसा नहीं होता, परंतु शास्त्रों में निर्देशित विशिष्ट गुणोंवाला सुश्रावक (भाव श्रावक) प्रतिक्रमण की क्रिया द्वारा आलोचना एवं निन्दा करता हुआ अवश्य कर्म नाश कर सकता है। हाँ ! इसके अलावा भी जो श्रावक श्रद्धापूर्वक प्रतिक्रमण करता है, उसका प्रतिक्रमण निष्फल नहीं जाता, परंतु फर्क इतना है कि वह धीमी गति से कर्मनाश का कारण बनता है। अत: गाथा में सुशिक्षित शब्द की तरह **सावओ** शब्द का प्रयोग ना करते हुए **'सुसावओ'** शब्द का प्रयोग किया है।

जिज्ञासा : सुश्रावक किसे कहा जाता है ?

तृप्ति- धर्मरत्न प्रकरण[2] में पू. हरिभद्रसूरि म. सा. बताते हैं कि धर्मरत्न की प्राप्ति के लिए आवश्यक ऐसे (३५० गाथा के स्तवन में बताये गए) इक्कीस गुणों से जो सुशोभित हो उसे भाव श्रावक कहते हैं। यहाँ ऐसे भावश्रावक को ही सुश्रावक कहा है । शास्त्र में ऐसे भावश्रावक के क्रिया विषयक छ: लिंग इस प्रकार के बताएँ हैं :

१. कृतव्रत कर्मा :

जिसने व्रत संबंधी कार्य किए हो वह 'कृतव्रतकर्मा' है। 'कृतव्रतकर्मा' गुणवाला श्रावक निम्नांकित गुणों से संपन्न होता है ।

१. **आकर्णन** - विनय-बहुमानपूर्वक (श्रावकादि के) व्रतों को (गीतार्थ गुरु से) श्रवण करता हो।

२. **ज्ञान** - व्रतों के प्रकार, भंग स्थान, अतिचार आदि का सम्यग् ज्ञान प्राप्त किया हो ।

३. **ग्रहण** - गुरू से अल्पकालीन या जीवन पर्यन्त व्रतों का स्वीकार किया हो।

४. **प्रतिसेवन** - व्रतों का सम्यक् प्रकार से पालन करता हो।

---

2. **'कय-वयकम्मो तह सीलवं च गुणवं च उज्जुववहारी।**
गुरु-सुस्सूओ पवयण-कुसलो खलु भावओ सड्ढो ।।३३ ।।
- प.पू. हरिभद्रसूरीश्वरजीकृतधर्मरत्नप्रकरण

२. शीलवान :

शील के छः गुण जिसमें होते हैं वह शीलवान होता है।

१. **आयतन सेवी** - ऐसे स्थान में ही रहता हो जहाँ अधिकतर बहुश्रुत, सदाचारी, चारित्राचार संपन्न साधर्मिक धर्माराधना करते हों।

२. **परगृह प्रवेश त्याग** - विशेष कारण बिना दूसरों के घर न जाता हो।

३. **उद्‌भट वेष त्याग** - चमक-दमक वाले और असभ्य वेष का त्याग करनेवाला हो।

४. **विकार वचन त्याग** - विकार पैदा हो ऐसे वचन न बोलता हो।

५. **बाल-क्रीडा त्याग** - जुआ खेलना आदि बाल क्रिड़ाओं का त्याग करता हो।

६. **मधुर नीति से स्वकार्य साधन** - कठोर वचनों का वर्जन करते हुए मृदु एवं मीठे वचनों से स्वकार्य साधता हो।

३. गुणवान :

गुण अनेक प्रकार के होते हैं, फिर भी निम्न पाँच गुण जिसमें होते हैं वह गुणवान माना जाता है।

१. **स्वाध्याय** - वाचना, पृच्छना आदि पाँच प्रकार का स्वाध्याय करता हो।

२. **करण** - तप, नियम, वंदनादि अनुष्ठान करता हो।

३. **विनय** - गुरू इत्यादि का अभ्युत्थानादि विनय करने में प्रयत्नशील रहता हो।

४. **सर्वत्र अनभिनिवेशी** - हर कार्य में कदाग्रहरहित, सरल और प्रज्ञापनीय होता हो।

५. **जिनवचन रुचि** - जिनवचन - जिनाज्ञा में रुचि, श्रद्धा, इच्छा रखता हो।

४. ऋजु व्यवहारी :

ऋजु अर्थात जिसका व्यवहार सहज हो वह ऋजुव्यवहारी होता है। चार गुणों वाला ऋजुगुण व्यवहारी कहलाता है।

१. **यथार्थ भाषण** - जैसा है वैसा यथार्थ अविसंवादी वचन बोलता हो।

२. **अवंचिका क्रिया** - मन-वचन काया से अन्य को न ठगता हो।

३. **अपाय कथक** - अशुद्ध व्यवहार करने वाले को भविष्य में जो अपाय प्राप्त होगा उसे बताने वाला होता है। इसलिए, 'हे भद्र ! चोरी वगैरह न करो । ये पाप, इस लोक में और परलोक में अनर्थ करने वाले हैं' - ऐसी हित शिक्षा देता हो।

४. **मैत्री भाव** - सद्भाव से निष्कपट मैत्री भाव वाला होता हो ।

५. गुरुशुश्रुषा (सेवा)कारी :

निम्न चार गुण जिसमें होते हैं वह गुरु सेवाकारी है।

१. **सेवा** - गुर्वादि की सेवा - पर्युपासना करता हो ।

२. **कारण** - गुरू की प्रशंसा आदि करके जो दूसरे लोगों को भी गुरू की सेवा में जोड़ता हो ।

३. **संपादन**- गुरू को आवश्यक औषधादि द्रव्य उपलब्ध करवाता हो ।

४. **भाव** - गुरूजनों की इच्छानुसार आचरण करता हो ।

इन चार प्रकार से आराध्य गुरूवर्ग की सेवा करनेवाला गुरूशुश्रुषाकारी बनता है। यद्यपि माता, पिता, कलाचार्य आदि भी गुरू कहलाते हैं तो भी यहाँ धर्म का अधिकार होने से धर्माचार्य वगैरह को ही गुरू रूप माना गया है।

६. प्रवचनकुशल :

जिसमें छः गुण होते हैं, वह प्रवचन कुशल होता है।

१. **सूत्र कुशल** - श्रावक-अवस्था के योग्य सूत्र के विषय में कुशलता प्राप्त की हो और श्रावक योग्य सूत्रों का अभ्यास करता हो ।

२. **अर्थ कुशल** - उन सूत्रों में निहित अर्थ को संविग्न गीतार्थ के पास समझ कर अर्थ में कुशलता प्राप्त की हो।

३. उत्सर्ग कुशल - सामान्य धर्म नियमों (उत्सर्ग) के बारे में प्रवीण हो।

४. अपवाद कुशल - विशेष धर्म नियमों याने अपवाद के बारे में कुशलता प्राप्त की हो । केवल उत्सर्ग या केवल अपवाद का ही आलंबन न लेकर यथायोग्य दोनों का आलंबन लेता हो ।

५. भाव कुशल - हर एक धर्मानुष्ठान विधिवत् करने में कुशल हो। विधि अनुसार करनेवाले अन्य का बहुमान करता हो। सामग्री अनुसार यथाशक्ति विधिपूर्वक धर्मानुष्ठान करता हो। सामग्री न मिले तो भी विधिपूर्वक करने का मनोरथ रखता हो।

६. व्यवहार कुशल - गीतार्थों ने जो आचरण (व्यवहार) किया हो उसे करने में कुशल हो। देश-काल वगैरह की अपेक्षा से उत्सर्ग और अपवाद, गुरूदोष और लघुदोष आदि के ज्ञान में निपुण गीतार्थों द्वारा आचरित व्यवहार को दूषित न करता हो।

जिज्ञासा : क्या प्रतिक्रमण जैसी छोटी क्रिया से दिवस, रात्रि, पक्ष, चातुर्मास या वर्ष में किए हुए सर्व पापों का नाश हो सकता है ?

तृप्ति : क्रिया बहुत बड़ी या उत्कृष्ट हो परंतु अगर उसमें कर्म नाश के लिए योग्य भाव न जुड़ा हो तो उस क्रिया से कोई फल नहीं मिलता। **क्रिया यद्यपि छोटी भी हो परंतु अगर भावना की मात्रा तीव्र हो तो उससे कर्मनाश होता ही है।** जिस प्रकार अईमुत्तामुनि[3] ने भगवान की बताई 'ईर्यावहि प्रतिक्रमण' की

---

3. 'अईमुत्ता' नामक एक नन्हें राजकुमार ने संयम स्वीकार किया । एक बार वह बालमुनि स्थविर मुनिभगवंतों के साथ स्थंडिल भूमि गए थे । वहाँ दूसरे बालकों को पानी में खेलता देखकर बालमुनि भी अपना छोटा पात्र पानी में डालकर खेलने लगे। यह देखकर स्थविर मुनि भगवंतों ने बताया कि 'ऐसा करने से पानी के असंख्यात जीवों की विराधना हुई है,' यह सुनकर अईमुत्तामुनि को अपने पापों का ख्याल आया। उनको बहुत दुःख हुआ। प्रभु के पास जाकर उन्होंने पाप की आलोचना कर प्रायश्चित्त की प्रार्थना की। प्रायश्चित्त के तौर पर प्रभु ने जो क्रिया करने को कहा उन्होंने वह क्रिया पश्चातापपूर्ण हृदय से खूब भावपूर्वक की। फल स्वरूप उन्होंने उस पाप का नाश तो किया ही परंतु अपने एक पाप के प्रति जुगुप्सा करते-करते उनको सब पापों के प्रति घृणा हुई और ऐसे तिरस्कार के परिणाम से उन्होंने अपने सर्व पापों का भी नाश कर दिया।

एक छोटी-सी क्रिया मात्र भावपूर्वक की तो उन्होंने सर्वघाती कर्मों का नाश कर तुरंत ही केवल ज्ञान प्राप्त किया।

इसलिए 'प्रतिक्रमण की इतनी छोटी क्रिया से इतने ज्यादा पापकर्मों का क्षय कैसे होगा ?' - ऐसा विचार छोड़कर, इस क्रिया को किस तरह से सम्पूर्णतया भगवान की आज्ञानुसारी एवं भावमयी बनाऊँ, वैसा विचार शुरू कर देना चाहिए।

यदि क्रिया भावमय बनेगी तो अवश्य ही सर्व पापों का नाश करेगी।

इन दोनों गाथाओं का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि :-

'मंत्र-मूल के जानकार सुवैद्य शरीर में फैले हुए जहर को जैसे खत्म कर सकते हैं, वैसे ही सुश्रावक आलोचना एवं निन्दा द्वारा आठ प्रकार के कर्मों का नाश कर सकता है; परंतु मुझमें अभी तक सुश्रावकपना प्रकट नहीं हुआ है जिसके कारण यद्यपि मैं आलोचना, निन्दा करता हूँ, तो भी मेरे पापकर्मों का नाश नहीं होता। प्रभु ! आपकी कृपा के बिना योग्यता भी प्रकट नहीं होती एवं जितना चाहिए उतना प्रयत्न भी नहीं होता। प्रभु ! आपके चरणों में मस्तक झुकाकर प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझमें सुश्रावकपना प्रकटाओ और कर्म के बंधन से मुक्त करो'।

अवतरणिका :

इस गाथा में आलोचना एवं निन्दा द्वारा जिसने कर्मनाश किया है, ऐसे श्रावक की मानसिक परिस्थिति का परिचय उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है।

गाथा :

कयपावो वि मणुस्सो, आलोइअ निंदिअ गुरु-सगासे।
होइ अइरेग लहुओ ओहरिअ-भरु व्व भारवहो।।४०।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

कृतपापोऽपि मनुष्यो गुरु-सकाशे आलोच्य निन्दित्वा।
अपहृतभारो भारवह इव अतिरेक-लघुको भवति।।४०।।

गाथार्थ :

पापी मनुष्य, गुरू के समक्ष आलोचना एवं निन्दा करके, भार उतारे हुए मजदूर की तरह, पाप के भार से अत्यंत हल्का हो जाता है।

विशेषार्थ :

कयपावो वि मणुस्सो - जिसने पाप किया है ऐसा मनुष्य भी।

कयपावो मणुस्सो याने पापी मनुष्य। संसार में सभी जीव पाप तो करते ही हैं पर उसमें अधिकतम जीव तो पाप को पापरूप समझते नहीं एवं बहुत से ऐसे भी हैं जो पाप है ऐसा जानकर भी अपने सुख के लिए आनंद और हर्ष से पाप करते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इन दोनों से अलग होता है। वह पाप को पाप रूप समझता है तो भी वह पाप कर बैठता है या उसे पाप करना पड़ता है। इसलिए उसे भी पापी या 'कृत पापकर्म' तो कहा जाता है। फिर भी पाप का स्वरूप समझने के कारण वह किए हुए पाप से व्यथित रहता है। 'मुझसे यह पाप हो गया, अब मैं इस पाप से कैसे मुक्त हो पाऊँगा' ऐसी चिन्ता में वह सतत व्यग्र रहता है और पापनाशक उपाय करने में भी वह निरंतर प्रवृत्त रहता है।

जिज्ञासा - 'कयपावो वि मणुस्सो' : इस पद में यदि **'कयपावो वि जीवो'** ऐसा लिया होता तो सम्पूर्ण जीवों का संग्रह हो जाता, फिर **मणुस्सो** शब्द का प्रयोग क्यों किया है ?

तृप्ति : मूल गाथा में **'मणुस्सो'** शब्द का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि चारों ही गति के जीव पाप कर्म करते हैं, अत: कृत पापवाले तो सभी होते हैं, परंतु किए हुए पापों का प्रतिक्रमण कर, सम्पूर्ण शुद्ध होने की शक्ति मात्र मनुष्य में होती है। यद्यपि देव अथवा नरक के भव में सम्यग् दर्शन होता है, तथापि पापनाशक विरति की क्रिया रूप प्रतिक्रमण वहाँ नहीं होता। तिर्यंच के भव में देशविरति है, परंतु उनके पास भी प्रतिक्रमण की क्रिया द्वारा सम्पूर्ण शुद्ध होने की शक्ति या मनुष्य जैसी सानुकूलता नहीं होती। इसलिए यहाँ 'कयपावो वि जीवो' का उल्लेख न करते हुए 'कय पावो वि मणुस्सो' का प्रयोग किया गया है।

कृतपापवाला मनुष्य क्या करता है ?

आलोइअ निंदिअ गुरुसगासे - गुरु के समक्ष आलोचना निन्दा करके।

किए हुए पापों की आलोचना किसी के भी पास या किसी भी तरह करने से श्रावक को लाभ नहीं होता। इसलिए पाप के बोझ तले दबा हुआ श्रावक पहले गुरु को खोजता है। सदगुरु मिलने पर उनके समक्ष पश्चात्ताप पूर्वक अपने पापों का

स्वीकार करता है एवं गुरु नहीं मिले तो ज्ञानादि उपकरणों में गुरु की स्थापना कर, 'गुरुभगवंत मेरे समक्ष ही है' ऐसा भाव हृदय में धारण कर, नतमस्तक होकर जो पाप, जिस प्रकार, जिस भाव से किए हों उन पापों की उसी प्रकार से आलोचना करके, श्रावक अपने अनुचित कृत्यों की निन्दा करते हुए कहता है कि, 'हे भगवंत ! संसार के राग के कारण अथवा प्रमाद के कारण मैंने बहुत पापकर्म किए हैं, वह मैंने गलत किया है। मेरे प्रमादादि दोषों को धिक्कार है !'

इस रीति से आलोचना एवं निन्दा करने का जो परिणाम प्राप्त होता है, उसे बताते हैं -

होइ अइरेग लहुओ - अत्यंत हलका हो जाता है।

पापों के भार से दबा हुआ श्रावक भी, गुरु के समक्ष इस रीति से आलोचना एवं निन्दा करके अत्यन्त हलका हो जाता है। जब तक इस रीति से आलोचना नहीं की थी तब तक उसके मन के ऊपर पाप का बोझ था, 'इस पाप से मेरा क्या होगा? उसकी चिंता थी, पाप के कैसे फल भुगतने पड़ेंगे ? उसका भय था, परंतु एक बार, सरल भाव से, पश्चात्ताप पूर्वक, गुरुभगवंत के पास जो पाप, जिस रीति से हुआ हो उसका स्वीकार करके एवं गुरुभगवंत के द्वारा दिया प्रायश्चित्त स्वीकार करने के बाद, उसे विश्वास हो जाता है कि अब मुझे कोई चिंता नहीं, अब मुझे कोई डर नहीं, अब मुझे पाप के कटु-परिणाम नहीं भुगतने पड़ेंगे। इस रीति से वह पाप के भार से मुक्त होकर फूल जैसा हलका हो जाता है।

उसका हलकापन कैसा है वह सूत्रकार एक दृष्टांत से बताते हैं -

ओहरिअ – भरु व्व भारवहो - भारवाहक मज़दूर जैसे भार को दूर करके हलका हो जाता है (वैसे)।

अपनी क्षमता से अधिक वजन उठाता हुआ मज़दूर जब थक जाता है, तब कब इस भार को उतार कर हलकाई का अनुभव करूँ ? ऐसा सोचता रहता है। योग्य स्थान मिलने पर वह भार को उतार कर 'हाश ! अब हलका हुआ' - ऐसे हलकेपन का अनुभव करता है। उसी प्रकार प्रतिक्रमण करनेवाला श्रावक भी प्रतिक्रमण द्वारा मानसिक भार को उतारकर हलकेपन का अनुभव करता है।

जो श्रावक भावपूर्वक प्रतिक्रमण करता है, सूत्र की एक-एक गाथा बोलकर अपने पापों को याद करता हुआ, गुरु भगवंत समक्ष आलोचना एवं निन्दा करता है, उस श्रावक को यह गाथा बोलते हुए जरूर ऐसा अनुभव होता है - 'हाश ! भगवान ! मेरे कर्म का भार कम हुआ, मेरे पाप का अनुबंध टूटा एवं मेरे कुसंस्कार कम हुए।' और उससे वह आनंद का भी अनुभव करता है।

जिज्ञासा : क्या प्रतिक्रमण की क्रिया करने वाला प्रत्येक श्रावक इस तरीके से पाप से हलका हो सकता है ?

तृप्ति : जिन श्रावकों को पाप का भार लगता है, जिनको पाप की चिंता है, वैसे श्रावक यथायोग्य रीति से आलोचना, निन्दा करते हैं, इसलिए वे इस क्रिया से जरूर हलकापन अनुभव करते हैं, परंतु जिन्हें पाप भाररूप नहीं लगता, जिन्हें पाप की कोई चिंता भी नहीं, फिर भी सामान्य रूप से 'प्रतिक्रमण करना ठीक है। सब करते हैं, इसलिए करना चाहिए।' ऐसा समझकर प्रतिक्रमण करते हैं, परंतु प्रतिक्रमण करते हुए जिस प्रकार पाप की आलोचना या निन्दा आदि करनी चाहिए उस प्रकार नहीं करते तो वे पाप से हलके नहीं होते।

अवतरणिका :

दृष्टांत सहित आलोचना की महिमा समझाकर अब प्रतिक्रमण रूप आवश्यक की महिमा दर्शाते हुए कहते है -

गाथा :

आवस्सएण एएण, सावओ जइ वि बहुरओ होइ।
दुक्खाणमंतकिरिअं, काही अचिरेण कालेण ।।४१ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

श्रावक: यद्यपि बहुरज: भवति, (तदपि) एतेन आवश्यकेन।
अचिरेण कालेन, दु:खानाम् अन्तक्रियां करिष्यति ।।४१ ।।

गाथार्थ :

यद्यपि श्रावक बहुत पापरज से युक्त होता है, तो भी आवश्यकरूप प्रतिक्रमण द्वारा वह अल्प काल में ही दु:खों का अंत कर देता है (भव दु:ख से मुक्त होकर, मोक्ष सुख प्राप्त करता है) ।

विशेषार्थ :

आवस्सएण एएण - इस (प्रतिक्रमण रूप भाव) आवश्यक[1] द्वारा।

साधु और श्रावक को जो क्रिया अवश्य करने योग्य है, उसे आवश्यक कहते है अथवा जिस क्रिया द्वारा ज्ञानादि गुण अवश्य प्रगट होते हैं, वह आवश्यक है।

यह आवश्यक छः प्रकार के होते हैं - १. सामायिक, २. चउविसत्थो, ३. वंदन, ४. प्रतिक्रमण, ५. कायोत्सर्ग एवं ६. पच्चक्खाण।

उसमें, सब सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर समताभाव में स्थिर रहने के प्रयत्न को **सामायिक**, अनंत गुणों के भंडार चौबीस तीर्थंकरों के नामपूर्वक स्तवन को **चउविसत्थो**, गुणवान गुरूभगवंतों के प्रति आदर व्यक्त करनेवाली क्रिया को **वंदन**, पाप से पीछे हटकर निष्पाप भाव में स्थिर रहने की क्रिया को **प्रतिक्रमण**, मन-वचन-काया के अशुभ व्यापार के त्याग को **कार्योत्सर्ग** तथा पौद्गलिक भावों का त्याग करने हेतु जो नियम लिए जाते हैं, उन्हें **पच्चक्खाण** कहते हैं।

इन छः प्रकार के आवश्यकों में सुश्रावकों को सतत प्रयत्न करना चाहिए। १. ममता के बंधन तोड़ने के लिए जब भी समय एवं अनुकूल संयोग मिले तब सर्व सावद्य प्रवृत्तियों का त्याग कर, सामायिक व्रत को स्वीकार करके, समता के भावों में रहने का प्रयास करना चाहिए। २. सामायिक जैसे सुन्दर अनुष्ठानों को बताकर अनंत जीवों पर अनंत उपकार करने वाले अरिहंत भगवंतों का सतत स्मरण करना चाहिए। ३. गुणवान गुरू भगवंतों के गुणों को स्मरण में लाकर पुनः पुनः उनको

---

1. अवश्य करने योग्य, वह 'आवश्यक' - अवश्यं कम्मं आवश्यकम्। उसके लिए श्री विशेषावश्यक भाष्य में कहा है

   समणेण सावएण य, अवस्स-कायव्वं हवइ जम्हा।
   अंतो अहो-निसिस्स उ, तम्हा आवस्सयं नाम ।।८७३ ।।

   साधु एवं श्रावक के लिए रात्रि और दिवस के अंत में अवश्य करने योग्य है, इस कारण से यह 'आवश्यक' कहलाता हे।

   जमवस्सं करणिज्जं, तेणावस्सयमिदं गुणाणं वा।
   आवस्सयमाहारो, आ मज्जाया-ऽभिविहिवाई ।।८७४ ।।

   अवस्सं वा जीवं करेई जं नाण-दंसण-गुणाणं।
   सनेज्झ-भावण-च्छायणेहिं वाऽऽवासयं गुणओ ।।८७५ ।।

वंदन करना चाहिए। ४. जब जब पाप हो जाए तब तब उस पाप की निन्दा, गर्हा करके उस पाप से पीछे हटने का यत्न कर प्रतिक्रमण करना चाहिए एवं ५. जीवन में पुनः पुनः पाप न हो इसलिए मन, वचन एवं काया को शुभ स्थान में स्थिर करने के यत्न रूप कायोत्सर्ग करना चाहिए। ६. पाप के विचारमात्र से मन को मुक्त रखने के लिए और दोबारा वही पाप न हो जाए इस लिए देव-गुरु की साक्षी में पाप न करने का पच्चक्खाण करना चाहिए।

इस रीति से छः आवश्यकों में सतत प्रयत्न करने की भावना होने पर भी प्रमादादि दोषों के कारण जिस समय जो आवश्यक करने योग्य हो और वह न हुआ हो तो भी दिवस एवं रात्रि के अंत में तो श्रावक इन छः आवश्यकरूप प्रतिक्रमण की क्रिया अवश्य करता है।

इस तरह प्रतिक्रमण छः आवश्यक में से एक आवश्यक है फिर भी छः आवश्यक के समूह को भी प्रतिक्रमण शब्द से ही सूचित किया जाता है। इसलिए छः आवश्यक क्रियाएँ का समुदाय षड् आवश्यक के बजाय प्रतिक्रमण के रूप में ही प्रसिद्ध है।

जिस कारण से अवश्य करने योग्य है उस कारण से वह आवश्यक है अथवा आवश्यक पद में 'आ' शब्द मर्यादा एवं अभिविधि अर्थ का वाचक है। इससे मर्यादा तथा अभिविधि (व्याप्ति) द्वारा गुणों का आधार आवश्यक है अथवा जो 'आ' अर्थात् समस्त प्रकार से जीव को ज्ञान-दर्शन गुणोंवाला बनाता है वह 'आवश्यक' अथवा सान्निध्य, भावना तथा आच्छादन द्वारा जो गुणों से आत्मा को वासित करता है वह आवासक-आवश्यक कहलाता है।'

(सुगंध या धूप के सान्निध्य से जिस प्रकार वस्त्र सुवासित बन जाता है, उसी प्रकार जिस क्रिया का सान्निध्य आत्मा को गुणों द्वारा आच्छादित कर शोभायमान करता है वह आवासक-आवश्यक है। आयुर्वेद में जिस प्रकार प्रवालपिष्ट आदि औषाधियाँ को चंद्र की किरणों या गुलाब जल द्वारा भावन करने में आती हैं उसी प्रकार जिस क्रिया द्वारा आत्मा के गुणों का भावन होता है वह आवश्यक कहलाता है। जो क्रिया आत्मा को दोषों से संवरण करे - आच्छादन करे अर्थात् जो क्रिया आत्मा में दोषों को आने ही न दे वह आवासक - आवश्यक।)

आवश्यक-क्रिया दो प्रकार की है - **द्रव्य- आवश्यक** और **भाव-आवश्यक**। इसमें शरीर के रक्षण के लिए की गई भोजन, शयन, शौच आदि क्रियाएँ द्रव्य-आवश्यक हैं, एवं आत्मा की रक्षा के लिए की हुई सामायिक आदि क्रियाएँ भाव-आवश्यक हैं। यहाँ भाव आवश्यक प्रस्तुत होने से उसका ही 'आवश्यक' की तरह व्यवहार किया है।

इस तरीके से छः आवश्यक रूप प्रतिक्रमण में यत्न करने से श्रावक को क्या लाभ होता है वह बताते है-

सावओ जइवि बहुरओ होइ - श्रावक यद्यपि बहुकर्मरज वाला होता है तो भी।

सम्यग्दृष्टि श्रावक यथाशक्ति पाप से दूर रहने का ही प्रयत्न करता है, पाप करना पड़े तो भी मन से नहीं करता, ऐसा होते हुए भी प्रबल निमित्त कभी उसे पतन के मार्ग पर धकेलते है, एवं न करने योग्य कर्म करवाकर बहुत कर्म बंधवाते हैं, जिस से श्रावक बहुकर्मरज वाला हो जाता है अथवा दूसरे तरीके से विचारें तो अविरत सम्यग्दृष्टि या देशविरतिधर श्रावक भी आरंभ-समारंभ में ही रहता है। इसीलिए अविरति जन्य पाप तो उसे प्रतिक्षण लगता ही है। इससे भी श्रावक कर्मरज वाला होता है।

जिज्ञासा : क्या बारह व्रत एवं चौदह नियम से जिसने अपना जीवन संयमित किया हो वैसा श्रावक भी बहुरज वाला हो सकता है ?

तृप्ति : बारह व्रत या चौदह नियम भी सागर जितनी अविरति के सामने बिन्दु जितनी विरति के समान हैं। दुनियाभर के पापों में से, श्रावक संकल्प करे तो भी कितने पापों से दूर हो सकता है ? जैसे कि, 'पाँच से अधिक वनस्पति मुझे नहीं खानी', ऐसा नियम लेने वाला श्रावक भी अपने घर के लिए, कुटुंब के लिए एवं खाने-पीने के सिवाय अपने उपभोग के लिए करण, करावण एवं अनुमोदन रूप बहुत सारे वनस्पति जीवों की हिंसा करता है। अतः उसका वनस्पति की हिंसा संबंधी नियम तो सवा वसा जितना भी नहीं एवं अनुमोदना के त्याग की तो उसे प्रतिज्ञा भी नहीं है। स्पष्ट है कि ऐसे श्रावक को भी अविरति का बहुत पाप लगता है। इसलिए ऐसा देशविरतिधर श्रावक भी बहु रजवाला होता है।

दुक्खाणमंतकिरिअं, काही अचिरेण कालेण - अल्पकाल में दुःखों का अंत करेगा।

पूर्व में बताये हुए तरीके से श्रावक भले ही बहु पापरूप रजवाला हो तो भी भावपूर्वक की हुई इस क्रिया में ऐसी ताकत है कि दो घड़ी जितने अल्पकाल में भी वह श्रावक के सर्व कर्मों का नाश कर सकती है, क्योंकि जिस तरह रंग राग से भरे हुए संसार की क्रियाओं में कर्मबन्ध करने की शक्ति है, उसी तरह संसार की

क्रियाओं से पूर्णतया विपरीत वैराग्य एवं समता के भाव से भरी हुई प्रतिक्रमण की क्रिया में बंधे हुए कर्मों के पटलों को भेदने की तीव्र शक्ति है।

सामान्यतया व्यवहार में भी नियम है कि शरीरादि में उत्पन्न रोग या दोष जिस कारण से होते है, उसके विरूद्ध उपाय करने से वह रोग या दोष शांत हो जाते है। उसी प्रकार आत्मा ने जिस परिणाम एवं प्रवृत्ति से कर्म बंध किया हो, उससे विपरीत परिणाम एवं प्रवृत्ति करने से कर्मनाश भी हो सकता है। यह छः आवश्यक कर्मनाश के लिए जरूरी विपरीत परिणाम स्वरूप ही हैं।

१. सामायिक : जीव ममता के कारण अधिकतर कर्मों को उपार्जित करता है। क्योंकि शरीर, धन, कुटुंब, परिवार एवं प्रतिष्ठादि की ममता के कारण जीव अनंत कर्मों का बंध करवाए वैसी हिंसा, झूठ, प्रपंच आदि पाप प्रवृत्ति करता है। इन कर्मों का नाश ममता के विरोधी समता के भाव से ही होता है। इस समता के भाव को प्रकट करने के लिए इन छः आवश्यक की क्रियाओं में सर्वप्रथम श्रावक **सामायिक** करता है। सामायिक की प्रतिज्ञा याने दुनियाभर की सावद्य (पापवाली) प्रवृत्तियों का त्याग कर समभाव में रहने का संकल्प । ऐसा संकल्प ममता के विरोधी होने से उससे सावद्य प्रवृत्तियों एवं ममता के संस्कार क्षीण होते हैं। फल स्वरूप ममता के कारण बंधे हुए कर्मों का नाश होता है।

२. चउविसत्थो : अनादिकाल से जीव को रागादि दोषवाले जीवों के प्रति ही राग, स्नेह या पक्षपात रहा है। इसलिए उनकी कथाएँ करके जीव ने बहुत कर्मबंध किए हैं। इन कर्मों को तोड़ने का उपाय है, गुणवानों के गुणों की स्तवना। अरिहंत भगवंत अनंत गुणों के भंडार हैं और **चउविसत्थो** नामका दूसरा आवश्यक उनकी स्तवना या कीर्तनरूप है। इस आवश्यक द्वारा गुण एवं गुणी के प्रति प्रीति प्रकट होती है, जिसके कारण दोष एवं दोषवान की प्रीति से या कथा से बंधे हुए कर्मों का नाश होता है।

३. वंदन : भौतिक स्वार्थ जिससे सिद्ध होते हैं, उनको नमन-वंदन करने द्वारा जीव ने अनंत कर्म बाँधे हैं। इन कर्मों के क्षय का उपाय है आत्मिक सुखों का मार्ग बतानेवाले सद्गुरू भगवंतों को **वंदन**। इसलिए, श्रावक ऐसे गुणवान गुरु भगवंतों को नमन-वंदन करता है। वंदन द्वारा संसारी जीवों के प्रति सद्भाव से या उनको नमस्कार आदि करने से बंधे हुए कर्मों का नाश होता है।

४. प्रतिक्रमण : व्रत-नियम की मर्यादा का उल्लंघन करने से जिन पाप कर्मों का बंध हुआ हो, वे पाप कर्म **प्रतिक्रमण** की क्रिया से नाश हो जाते हैं। इस क्रिया के प्रत्येक सूत्र का उच्चारण उसके अर्थ की विचारणापूर्वक करने में आए तो उस समय हृदय में ऐसे भाव प्रकट होते हैं कि जिससे दिन में किये गए पापों की स्मृति होती है, उन पापों के प्रति तिरस्कार का भाव पैदा होता है और इस तिरस्कार भाव या निन्दा, गर्हा से ही उन पापों का समूल नाश होता है।

५. कायोत्सर्ग : जब मन-वचन-काया अशुभ स्थान में प्रवृत्त होते हैं तब आत्मा कुसंस्कार एवं कर्मबन्ध की भागी बनती है। **कायोत्सर्ग** मन-वचन-काया को शुभ स्थान में स्थिर करने की एक प्रक्रिया है। उससे कर्म का आश्रव नहीं होता और आत्मा संवर भाव में स्थिर होती है। इस तरह शुभ स्थान में मन की एकाग्रता होने से पूर्वसंचित कर्मों की निर्जरा होती है, जिससे आत्मा के ज्ञानादि गुणों की वृद्धि होती है, वीर्यधारा की शुद्धि होती है और आत्मा समाधि द्वारा सिद्ध गति की ओर प्रयाण करती है।

६. पच्चक्खाण[1] :

निरंकुश इच्छाओं के कारण जीव अपने मन को स्वस्थ और स्थिर नहीं रख सकता जिससे वह कर्मबन्ध करके भविष्य में दु:खी होता है ओर वर्तमान में भी दु:खी होता है। पाप नहीं करने का संकल्प करने से मन की अस्वस्थता में काफी सुधार हो जाता है क्योंकि इस संकल्प से इच्छाएँ स्वत: अंकुश में आ जाती हैं। इस तरह संकल्प अर्थात् **पच्चक्खाण** मन की स्वस्थता का कारण बनकर वर्तमान में भी आत्मा को सुखी करता है और भविष्य में पाप प्रवृत्ति और कर्मबंध को रोककर सुख प्राप्त करवाता है।

इस रीति से छ: आवश्यक की क्रिया से श्रावक विविध प्रकार से बहुत से पाप कर्मों का नाश कर सकता है।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि-

'जैन शासन की कैसी बलिहारी है ! भगवान की बताई हुई इस एक क्रिया में कैसी शक्ति है ! भले ही मुझसे बहुत पाप हो गये हैं, तो भी हताश होने की

1. इसके अतिरिक्त छः आवश्यक विषय की समझ के लिए इस पुस्तक की भूमिका देखें।

आवश्यकता नहीं है ,परंतु प्रयत्नपूर्वक प्रतिक्रमण करूँगा तो मेरे पाप करने के सर्व संस्कार नाश हो जाएँगे। लेकिन वह भी तब ही संभव बनेगा जब मैं भाव से श्रावक बनकर भावपूर्वक प्रतिक्रमण करूँगा। इन दोनों के लिए मुझे देव-गुरू की कृपा प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए जिससे आखिर में मैं भी संपूर्ण शुद्ध बन सकूँ।'

अवतरणिका :

प्रतिक्रमण की महिमा बताने के बाद अब प्रतिक्रमण करते समय जो अतिचार स्मृति में नहीं आए हैं, उनकी निन्दा, गर्हा करते हुए बताते हैं।

गाथा :

आलोअणा बहुविहा, न य संभरिआ पडिक्कमण-काले।
मूलगुण-उत्तरगुणे, तं निंदे तं च गरिहामि ।।४२ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

मूलगुणे-उत्तरगुणे, आलोचना बहुविधा।
प्रतिक्रमण-काले न संस्मृता, तां निन्दामि तां च गर्हे ।।४२ ।।

गाथार्थ :

पाँच मूल गुण एवं सात उत्तरगुणों के (१२ व्रतों के) विषय में आलोचना अनेक प्रकार की होती है। (इसलिए) प्रतिक्रमण के समय (उपयोग होते हुए भी) जो आलोचना स्मृति में न आई हो, उनकी मैं निन्दा एवं गर्हा करता हूँ।

विशेषार्थ :

मूलगुण-उत्तरगुणे आलोअणा बहुविहा - मूलगुण एवं उत्तरगुण के विषय में बहुत प्रकार की आलोचना[1] होती है।

---

1. 'आलोचना' शब्द का सामान्य अर्थ गुरु समक्ष 'स्वदोष का प्रकाशन' होता है, परंतु यहाँ 'आलोचना' शब्द का अर्थ कारण में कार्य का उपचार करके 'अतिचार' किया है। अतिचार कारण है, आलोचना कार्य है, तो भी कार्यरूप आलोचना में कारण रूप अतिचार का उपचार कर, उसे यहाँ 'आलोचना' शब्द से सूचित किया है।

मूलगुण अर्थात् पाँच अणुव्रत और उत्तरगुण अर्थात तीन गुणव्रत और चार शिक्षा व्रत, इन बारह व्रत विषयक सामान्य से १२४ अतिचारों की आलोचना पूर्व की गाथाओं द्वारा की है, तो भी प्रत्येक व्रत विषयक असंख्य अतिचार होते हैं। शास्त्र में कहा है कि प्रायश्चित्त के स्थान 'असंख्य[2]' हैं। मन की चंचलता और प्रमाद की बहुलता के कारण इनमें से बहुत दोषों का सेवन हुआ हो पर वे सब दोष प्रतिक्रमण के समय याद न भी आएँ ऐसा हो सकता है। इसीलिए कहते है -

न य संभरिआ पडिक्कमण-काले, तं निंदे तं च गरिहामि- प्रतिक्रमण करते समय (जो अतिचार) याद न आए हों, उनकी मैं निन्दा एवं गर्हा करता हूँ।

प्रतिक्रमण के समय सूत्र के एक एक पद के माध्यम से अतिचारों को याद करने का खूब प्रयत्न किया हो तो भी धारणा एवं स्मृति की निर्बलता के कारण मन, वचन, काया से हुई सर्व स्थूल या सूक्ष्म प्रवृत्तियाँ, स्मरण में न आई हों और उसके कारण कई अतिचारों की आलोचना करनी रह गई हो तो उन सर्व पापों से शुद्ध होने की इच्छा वाला श्रावक कहता है, 'भगवंत ! जो अतिचार मुझे याद नहीं हैं, उन सब अतिचारों की भी मैं निन्दा करता हूँ, गुरु समक्ष उनकी गर्हा करता हूँ।'

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'मेरा मन एवं मेरी इन्द्रियाँ बहुत चंचल हैं, इस कारण से पल पल में मन के भाव परिवर्तित हो जाते हैं जिससे व्रत में छोटे-बड़े अनेक दोष लगते रहते हैं परंतु उन सब दोषों का हिसाब रखना मेरे लिए संभव नहीं है । इसके अलावा बहुत से दोषों को तो मैं दोष की तरह समझ भी नहीं पाया। तो भी हे प्रभु ! मुझे ऐसे दोषों से मुक्त तो होना ही है । रूक्मि की तरह छोटे दोषों को छुपाकर, मुझे मेरे भव की परंपरा की वृद्धि नहीं करनी है। इसीलिए जाने-अनजाने, छोटे-बड़े जो कोई दोष लगे हों, उनकी मैं आत्मसाक्षी से निन्दा करता हूँ एवं भगवंत ! आपके पास उनकी गर्हा करता हूँ एवं मेरे मन और इन्द्रियों को नियंत्रण में रखने का प्रयास करता हूँ।

---

2. **पायच्छित्तस्स ठाणाईं संखाईआइं गोअम्मा।**
अणालोइअं तु इक्कं वि, ससल्लं मरणं मरई ।। - प्रबोधटीका
हे गौतम ! प्रायश्चित्त के स्थान असंख्य हैं और उनमें से एक की भी आलोचना लेनी बाकी रह गई हो तो जीव की शल्य सहित मृत्यु होती है।

धर्माराधना से उपसंहार

अवतरणिका :

चित्तशुद्धि के बिना धर्म साधना संभव नहीं। इसलिए श्रावक सर्वप्रथम चित्त को मलिन करने वाले अतिचारों की आलोचना करता है। आलोचना द्वारा शुद्ध होकर श्रावक जब धर्माराधना के लिए अत्यन्त प्रयत्नशील बनता है तब गोदोहिका आसन का त्याग कर, खड़ा होता हुआ, यह गाथा बोलता है -

गाथा :

तस्स धम्मस्स केवलिपन्नत्तस्स
अब्भुट्ठिओ मि आराहणाए, विरओ मि विराहणाए।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं।।४३।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

तस्य केवलिप्रज्ञप्तस्य धर्मस्य
आराधनायै अभ्युत्थित: अस्मि, विराधनाया: विरत: अस्मि।
त्रिविधेन प्रतिक्रान्त:, चतुर्विंशतिं जिनान् वन्दे।।४३।।

गाथार्थ :

केवली भगवंत प्ररूपित श्रावक धर्म की आराधना करने के लिए मैं खड़ा हुआ हूँ। उनकी विराधनाओं से मैं विरमित हुआ हूँ एवं तीन प्रकार से होनेवाली पाप प्रवृत्तियों का प्रतिक्रमण करता हुआ मैं (मंगल हेतु) चौबीस जिनों को वंदन करता हूँ।

विशेषार्थ :

प्रतिक्रमण की क्रिया में यहाँ तक, वंदित्तु सूत्र गोदोहिका आसन में बैठकर बोला जाता है। यह मुद्रा लक्ष्य का वेध करने के लिए सज्ज हुए सैनिक के जैसी है। जिस प्रकार युद्ध में सैनिक इस मुद्रा में धनुष के ऊपर बाण चढ़ाकर शत्रु के ऊपर प्रहार करता है, वैसे ही मोह के साथ संग्राम करने की इच्छावाला श्रावक, इस मुद्रा में बैठकर, गणधरभगवंत के बनाए हुए इस सूत्र रूप धनुष को हाथ में लेकर, उसके प्रत्येक पद के भाव रूप बाण को धनुष के साथ जोड़कर, मोह के एक एक सैनिक पर प्रहार करता है। इस तरह अंतरंग शत्रुओं को खोखला करके आत्मा को निर्मल करने स्वरूप आंशिक विजय को प्राप्त करता हुआ श्रावक अब विशेष आराधना के लिए अपनी तत्परता बताते हुए खड़ा होकर **'अब्भुट्ठिओमि'** के बाद आनेवाले पदों का उच्चारण करता है।

तस्स धम्मस्स केवलि पन्नत्तस्स अब्भुट्ठिओ मि आराहणाए - केवली भगवंत के बताए हुए धर्म की आराधना के लिए मैं खड़ा हुआ हूँ।

धर्म के मूल प्ररूपक सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी अरिहंत परमात्मा हैं। उन्होंने साधुधर्म एवं श्रावक धर्म ऐसे दो प्रकार के धर्म बताए हैं। उसमें सम्यक्त्व मूलक बारह व्रतों का गुरूभगवंत के समक्ष स्वीकार करना श्रावक धर्म है। श्रावक धर्म को स्वीकार करने के बाद उसको सूक्ष्मता से पालने की हर श्रावक की इच्छा होती है, तो भी मोहाधीनता से व्रतों में मलिनता आने की संभावना रहती है। व्रत में आई मलिनता को प्रतिक्रमण द्वारा दूर करके शुद्ध हुआ श्रावक सोचता है कि 'केवली भगवंतों ने बताया हुआ और मैंने स्वीकारा हुआ धर्म करने के लिए मैं खड़ा हुआ हूँ, अर्थात् उसका निरतिचार पालन करने के लिए मैं तैयार हुआ हूँ। अब पुनः इन व्रतों में कोई दूषण न लग जाए इसलिए प्रमाद का त्याग करके अत्यन्त सावधान बना हूँ।'

विरओ मि विराहणाए तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं- विराधना से मैंने विराम पाया है। मन, वचन, काया द्वारा पाप से निवृत्त होता हुआ मैं (मंगल हेतु) चौबीस जिनों को वंदन करता हूँ।

विराधना का अर्थ है व्रत का खंडन, व्रत को स्वीकार करने के बाद उसमें लगे छोटे-बड़े दोष। इन दोषों से अटके बिना सुन्दर आराधना संभव नहीं होती, इसलिए श्रावक पुन: संकल्प करता है कि 'मैं विराधना से विरमित हुआ हूँ और **आराधना करने के लिए, मन, वचन, काया द्वारा पाप वृत्ति से वापस लौटता हुआ मैं चौबीस जिनों को वंदन करता हूँ'।**

इस प्रकार से इस गाथा में श्रावक ने बताया कि सर्व प्रकार के पापों का प्रतिक्रमण करने के बाद, अब मेरी भावना आराधना करने की है। आराधना भी मैं जैसे-तैसे करना नहीं चाहता, परंतु प्रमादादि दोषों को टालकर, तीव्र संवेग तथा निर्वेद पूर्वक करना चाहता हूँ क्योंकि ऐसी आराधना से ही कर्मनाश और मोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

ऐसी आराधना करने की मेरी तीव्र भावना है, फिर भी मैं समझता हूँ कि जीवन में विराधनाएँ निरंतर रहें तो आराधना कभी भी सम्यग् नहीं हो पाएगी। इस कारण से मैं विराधना से विराम पाता हूँ। भविष्य में कोई भी विराधना न हो जाए अर्थात् मेरे जीवन में दोष का दाग न लग जाए इसके लिए सदा सजग रहता हूँ।

मैं समझता हूँ कि आराधना का मार्ग कंटकाकीर्ण है। इस मार्ग पर चलने से जघन्य, मध्यम एवं उत्कृष्ट अनेक प्रकार के विघ्नों की संभावना है। इन विघ्नों के समूह का विदारण करने और विशुद्ध आराधना के मार्ग में आगे बढ़ने हेतु मन-वचन-काया से पाप का प्रतिक्रमण करके मैं चौबीस जिन की वंदना रूप मंगलाचरण करता हूँ। मुझे विश्वास है कि मेरी ये मंगल क्रिया आराधना में आगे बढ़ने में मुझे सहायता करेगी।

इस गाथा में **'अब्भुट्ठिओ मि आराहणाए'** पद द्वारा **वर्तमान** में निरतिचार व्रत पालन के लिए मैं तत्पर बना हूँ। **'विरओ मि विराहणाए'** पद द्वारा **भविष्य** में पाप न हो इसलिए जागृत हुआ हूँ, तथा **'तिविहेण पडिक्कंतों'** पद द्वारा **भूतकाल** में हुए पापों से वापस लौटता हूँ। ऐसा बताकर तीनों काल संबंधी व्रतपालन के प्रति सावधानी व्यक्त करने में आई है।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'जिनके प्रभाव से मैं धर्म की आराधना में जुड़ा तथा किए हुए दुष्कर्मों का

पश्चात्ताप करके आलोचना द्वारा आत्मशुद्धि करने का उभयकारी संयोग मुझे प्राप्त हुआ, उन अनंतगुण संपन्न देवाधिदेव के चरणों को मैं दोनों हाथ जोड़कर, मस्तक झुकाकर वंदन करता हूँ तथा उनके जैसे शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने का प्रयत्न करता हूँ।'

इस प्रकार से आराधना की शुरुआत करने से पहले चौबीस जिनों की वंदना करके यहाँ मध्यम मंगलाचरण भी किया है।

अवतरणिका :

पूर्व की गाथा में भाव जिन को वंदन करने के बाद, अब सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए तीनों लोक में रहे हुए सर्व चैत्यों को (मंदिरों को), शाश्वत-अशाश्वत स्थापना जिनों को (प्रतिमाओं को) वंदन करते हुए कहते हैं -

गाथा :

जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ।
सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं ।।४४ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

उर्ध्वे चाधश्च तिर्यग्लोके च यावन्ति चैत्यानि।
तत्र सन्ति तानि सर्वाणि इह सन् वंदे ।।४४ ।।

गाथार्थ :

ऊर्ध्व लोक, अधोलोक तथा तिर्च्छे लोक में जो कोई चैत्य हैं अर्थात् जिन मंदिर या जिन प्रतिमा हैं उन सबको यहां रहते हुए मैं वंदन करता हूँ।

विशेषार्थ :

जावंति चेइआइं, उड्ढे अ अहे अ तिरिअलोए अ -उर्ध्वलोक में, अधोलोक में एवं तिर्च्छेलोक में जितने भी चैत्य[1] हैं।

---

1. **चैत्यं जिनौकस्तद्बिंबं चैत्यं जिनसभातरुः।** चैत्य शब्द का अर्थ जिन मंदिर, जिन प्रतिमा एवं जिनराज की सभा का चौतरायुक्त वृक्ष होता है।

उर्ध्वलोक में - समभूतला पृथ्वी से ९०० योजन ऊपर के भाग को उर्ध्वलोक कहते हैं। मेरुपर्वत के ९०० योजन उपर सोमनसवन में, नंदनवन में, सहस्रकूट इत्यादि में जो चैत्य हैं तथा वैमानिक देवों के आवासों में जो जिनचैत्य है, वे उर्ध्वलोक के चैत्य कहलाते हैं।

अधोलोक में - समभूतला पृथ्वी से ९०० योजन नीचे के भाग को अधोलोक कहते हैं। अधोलोक में, भवनपति देवों के आवासों में तथा महाविदेह क्षेत्र के अधोग्रामो में जो जिन चैत्य हैं, उन्हें अधोलोक के चैत्य कहते हैं।

तिर्च्छालोक में - उर्ध्वलोक एवं अधोलोक के बीच में स्थित भाग को तिर्च्छालोक कहते हैं। इस लोक में जो द्वीप, समुद्र, पर्वत, सरोवर, नदियाँ, वृक्ष, वन, कुंड आदि हैं, वहाँ जितने भी जिन चैत्य हैं, उन्हें तिर्च्छालोक के चैत्य कहते हैं।

सव्वाइं ताइं वंदे, इह संतो तत्थ संताइं - यहाँ रहा हुआ मैं वहाँ स्थित सभी चैत्यों को वंदन करता हूँ।

श्रावक को जगत के सर्व चैत्यों की वंदना करने की इच्छा होने पर भी उसमें इतनी शक्ति नहीं होती कि उन-उन स्थानों पर जाकर अपनी काया से वंदना कर सके, इसलिए वह तीनों लोक में रहे हुए सर्व चैत्यों को स्मृति में लाकर सोचता है कि,

'ये चैत्य ही मेरे भव निस्तार के कारण हैं, मुझमें शुभ भाव पैदा करवाने में प्रबल निमित्त हैं। इन चैत्यों के दर्शन द्वारा ही मैं मेरी आत्मा का दर्शन कर, मेरी आत्मा के हित के लिए कुछ कर सकता हूँ। इसलिए परमात्मा की अनुपस्थिति में परम उपकारी इन चैत्यों को, यहां रहते हुए भी मैं वंदन कर, मेरी आत्मा को कृतार्थ करता हूँ।' चित्त शुद्धि बिना सुख मिलता नहीं और शुद्ध चैतन्य से युक्त प्रभु के आलंबन बिना चित्त शुद्धि पानी बहुत मुश्किल है। अतः मुझे सर्व जिन बिंबो को नमस्कार करके चित्तशुद्धि पानी है। हे प्रभु ! आपने तो अल्प समय में अपना सुविशुद्ध स्वरूप प्रकट कर लिया था। आप तो अनंत काल तक इस सुख और आनंद में लीन रहनेवाले हो। मुझे भी आप जैसा आनन्द पाना है इसलिए मैं प्रार्थना करता हूँ के आप मेरी चित्तशुद्धि का कारण बनकर मेरा संपूर्ण शुद्ध स्वरूप प्रकट करो।

प्रतिक्रमण करनेवाला श्रावक कर्म निर्जरा के उद्देश्य से और साथ साथ अपनी आराधना निर्विघ्न संपन्न हो इसलिए परमात्मा को वंदन कर मंगल कामना करता है ।

अवतरणिका :

सम्यक्त्व की शुद्धि के लिए सर्व प्रतिमाओं को वंदन करके, अब संयम पालन की शक्ति का संचय करने के लिए श्रावक सर्व साधु भगवंतों को भी वंदन करता है।

गाथा :

जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ।
सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं ।।४५ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

भरत-ऐरवत-महाविदेहे च यावन्त: के अपि साधव: ।
त्रिदण्ड-विरतेभ्य: तेभ्य: सर्वेभ्य: त्रिविधेन प्रणत: ।।४५ ।।

गाथार्थ :

भरत, ऐरावत और महाविदेह क्षेत्र में जो कोई तीन दंड से विरत साधु भगवंत हैं उन सबको मैं मन,वचन, काया से प्रणाम करता हूँ।

विशेषार्थ :

जावंत के वि साहू, भरहेरवय-महाविदेहे अ - भरतक्षेत्र, ऐरावतक्षेत्र और महाविदेह क्षेत्र में जो कोई भी साधु भगवंत हैं।

४५[1] लाख योजन प्रमाण मनुष्यलोक है। उसमें भरत, ऐरावत एवं महाविदेह क्षेत्ररूप १५ कर्मभूमियाँ हैं। इन कर्मभूमियों में जन्में मनुष्यों को ही साधु बनने के

१. अढाई द्वीप एवं दो समुद्र प्रमाण मनुष्य क्षेत्र है। इस मनुष्य क्षेत्र में भरत, ऐरावत एवं महाविदेह ऐसे तीन क्षेत्र आते हैं। इस अढाई द्वीप में सबसे मध्य में १ लाख योजन प्रमाण का जंबूद्वीप है। उसको घेरता हुआ २ लाख योजन प्रमाण का लवण समुद्र है। उसको घेरता हुआ ४ लाख योजन प्रमाण घातकी खंड है। उसको घेरता हुआ ८ लाख योजन प्रमाण कालोदधि समुद्र है एवं उसको घेरता हुआ १६ लाख योजन प्रमाण पुष्करावर्त नामका द्वीप है। इस द्वीप के बराबर मध्य में मानुषोत्तर पर्वत तक ही मनुष्यों की बस्ती है। इसलिए यह द्वीप अर्ध

योग्य अध्यवसाय हो सकते हैं। कर्मभूमि के सिवाय अन्य स्थलों में जन्म लेने वालों के लिए ऐसे अध्यवसाय संभव नहीं होते। इसलिए कहते हैं - भरत, ऐरावत एवं महाविदेह क्षेत्र में जो कोई भी साधु भगवंत हैं, -

अ - (च) - भी

यहां 'च' शब्द 'अपि' (भी) अर्थ में है। इससे यह कहना है कि कर्मभूमि में रहे हुए साधु भगवंतों को तो वंदना है ही, परंतु देवता संहरण आदि से कोई साधु भगवंत अकर्मभूमि में ले गए हों या नंदीश्वरादि तीर्थ की यात्रा के लिए कोई जंघाचरण, विद्याचरण आदि लब्धिसम्पन्न मुनि गए हों तो उन्हें भी वंदना करने में आती है। ऐसे प्रयोग द्वारा शास्त्रकार की साधु मात्र को वंदन करने की भावना व्यक्त होती है।

कहलाता है। इसके बाहर किसी भी मनुष्य का जन्म या मृत्यु नहीं होती, इस तरह जंबूद्वीप की एक ओर (२+४+८+८) कुल २२ लाख योजन प्रमाण क्षेत्र में एवं दूसरी ओर भी २२ लाख योजन प्रमाण क्षेत्रों में मनुष्य होते हैं। इस तरह जंबूद्वीप सहित (१+२२+२२) कुल ४५ लाख योजन प्रमाण मनुष्य लोक है। अढाई द्वीप में १५ कर्मभूमि, ३० अकर्मभूमि एवं ५६ अंतर्द्वीप आते हैं। जिसमें ३० अकर्मभूमि एवं ५६ अंतर्द्वीप में युगलिक मनुष्य उत्पन्न होते हैं जो साधु नहीं बन सकते। परंतु १५ कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए मनुष्य ही साधु बन सकते हैं। ये १५ कर्मभूमियाँ निम्नलिखित हैं-

जंबूद्वीप में	१ भरत	१ ऐरावत	१ महाविदेह
घातकी घंड में	२ भरत	२ ऐरावत	२ महाविदेह
अर्धपुष्करवर द्वीप में	२ भरत	२ ऐरावत	२ महाविदेह
कुल	५ भरत	५ ऐरावत	५ महाविदेह = १५ कर्मभूमि

३० अकर्मभूमियाँ निम्न प्रकार से है।

	हिमवंत	हिरण्यवंत	हरिवर्ष	रम्यकवर्ष	देवकुरु	उत्तरकुरु
जंबुद्वीप में	१	१	१	१	१	१
घातकीखंड में	२	२	२	२	२	२
अर्धपुष्करवर द्वीप में	२	२	२	२	२	२
कुल	५	५	५	५	५	५=३०

सव्वेसिं तेसिं पणओ, तिविहेण तिदंड-विरयाणं - तीन दंड से विराम पाए हुए उन सबको तीन योग से मैं नमन करता हूँ।

आत्मा को जो दंडे - दुःखी करे, उसे दंड कहते हैं। पाप प्रवृत्ति में प्रवर्तते मन, वचन एवं काया के योग आत्मा को अशुभ कर्मों का बंध करवाकर, दुर्गतियों में भटकाकर, दुःखी करते हैं, इसलिए उन्हें दंड कहते हैं।

हर एक मनुष्य को मन, वचन तथा काया की ये तीन शक्तियाँ मिलती हैं। ज्ञानी पुरुष इन तीन शक्तियों का साधना के क्षेत्र में सदुपयोग कर, आत्मा का अनंत आनंद प्राप्त करते हैं और अज्ञानी जीव काल्पनिक सुखों के पीछे, इन्द्रियों को संतुष्ट करने के लिए एवं आत्मा से भिन्न शरीर आदि के शृंगार के पीछे इस शक्ति का दुरुपयोग कर, इसी शक्ति द्वारा दुरंत संसार का सर्जन करते हैं। इस तरीके से महान पुण्योदय से प्राप्त हुए इन योगों को संसारी मानव दंड स्वरूप बनाता है।

अनंतकाल से अज्ञानता के कारण भौतिक सुख की आसक्ति से जीव ने कैसे-कैसे दुःख पाए हैं, वह शास्त्र के माध्यम से मुनिभगवंत जानते हैं । इसलिए वे संसार से - संसार के सुखों से सदा उद्विग्न रहते हैं। वे समझते हैं कि मन, वचन एवं काया को स्वेच्छा से प्रवर्तित करने के कारण मुझे ही फिर से दंड भुगतना पड़ेगा। इसलिए वे स्वेच्छा से प्रवर्तते हुए मन, वचन, काया को रोककर, परम कल्याणकारी, सुख की सच्ची राह बतानेवाले परमात्मा के वचनानुसार मन, वचन, काया का प्रवर्तन चालू रखते हैं। परमात्मा के वचनों को समझने के लिए शास्त्रों का अभ्यास करते हैं। जब तक शास्त्रों की पूरी जानकारी प्राप्त ना हो, तब तक गीतार्थ गुरुभगवंतों के आश्रित जन बनकर उनकी आज्ञानुसार जीवन जीते हैं अर्थात् उनकी निश्रा में विचरते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि भगवान के वचन के विरूद्ध लेशमात्र भी प्रवृत्ति हो तो निश्चय से कर्मबंध होगा एवं कर्म को भुगतने फिर दुःख सहना पड़ेगा। इसलिए ही संसार से अत्यंत भयभीत हुए मुनि जब तक स्वयं गीतार्थ न बनें तब तक शास्त्रज्ञ पुरुष के शरण में ही रहते हैं। उनके वचनों के अनुसार समिति-गुप्ति में रहने का प्रयत्न करते हैं, शरीर के धर्म का पालन भी अनासक्त भाव से करते हैं। ऐसे मुनि त्रिदंड से विराम प्राप्त किए हुए कहलाते हैं।

इस गाथा का उच्चारण करते समय श्रावक सोचता है कि, *'धिक्कार है मुझे ! एक ओर मैं पाप न करने का संकल्प कर प्रतिक्रमण करता हूँ और दूसरी ओर*

निमित्त उत्पन्न होते ही मैं वापस पाप के मार्ग पर चल बसता हूँ । धन्य हैं ! वे महात्मा, जिन्होंने मेरे जैसे ही काल में जन्म लिया है । उनमें भी मेरे जितनी ही शक्ति है, पर वे अपने मन-वचन-काया को काबू में रख सकते हैं । इसलिए वे एकबार जिस पाप का प्रतिक्रमण करते हैं उस पाप का वे प्राय: पुन: सेवन नहीं करतें । प्रतिक्रमण करके वे अपने पाप करने के संस्कार को ही नष्ट कर देते हैं । उनके चरणों में मस्तक झूकाकर प्रार्थना करता हूँ कि, भगवंत ! ऐसा सत्त्व प्रदान करो कि मैं भी प्रतिक्रमण के विशुद्ध भाव तक पहुंच सकूँ ।'

अवतरणिका :

इस प्रकार से चौबीस जिनों को, सर्व जिन प्रतिमाओं को तथा सर्व साधु भगवंतों को प्रणाम करके अब भविष्य के लिए भी शुभ भावों की अभिलाषा व्यक्त करते हुए सुश्रावक कहता है -

गाथा :

चिर-संचिअ-पाव-पणासणीइ, भव-सय-सहस्स महणीए।
चउवीस-जिण-विणिग्गय-कहाइ वोलंतु मे दिअहा ।।४६ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

चिर-सञ्चित-पाप-प्रणाशन्या, भव-शत-सहस्रमथन्या।
चतुर्विंशति-जिन-विनिर्गत-कथया मम दिवसा गच्छन्तु ।।४६ ।।

गाथार्थ :

लम्बे समय से एकत्रित किए हुए पापों का नाश करने वाली एवं लाखों भवों का विनाश करने वाली चौबीस जिनेश्वरों के मुखारविंद से निकली हुई कथाओं में मेरा दिन व्यतीत हो।

विशेषार्थ :

चिर-संचिअ-पाव-पणासणीइ- चिर समय से संचित पापकर्मों का नाश करने वाली।

तीर्थंकर की कथाएँ या उनकी वाणी, चिर काल से याने कि अनादि काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए एकत्रित किए हुए पापों को प्रकृष्ट रीति से नाश करने

वाली होती है। लम्बे समय से एकत्रित किए हुए कर्म दो प्रकार के होते हैं: पुण्य कर्म एवं पाप कर्म। उसमें पुण्य कर्म मोक्ष मार्ग में सहायक भी बन सकते हैं। इसलिए यहाँ उनके नाश की बात नहीं, परंतु जो कर्म मोक्ष मार्ग में बाधक बनते हैं उन पापकर्मों को नाश करने की शक्ति चौबीस जिनों की कथाओं में निहित है।

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अंतराय ये चार घाती कर्म मोक्ष मार्ग में बाधक हैं। उनमें मोहनीय कर्म तो महाबाधक है। इसके अलावा वेदनीय, आयुष्य, नाम और गौत्र कर्म अघाती कर्म हैं। ये चार कर्म मोक्षमार्ग में बाधक नहीं हैं, इसलिए उनको पापकर्म नहीं कहते हैं। असातावेदनीयादि जैसे इन कर्मों के अनेक प्रकार हैं जो मोक्ष मार्ग में बाधक नहीं होते, परंतु ये कर्म जीव को दु:ख या पीड़ा हो ऐसे संयोग उपस्थित करते हैं। इसलिए व्यवहार में ऐसे कर्मों को भी पापकर्म कहते हैं। साधक को ऐसे पाप कर्मों का अंत करने की इच्छा नहीं होती, पर भगवान के प्रति आदर, उनकी कथादि द्वारा हि ऐसे पाप कर्मों का नाश भी हो जाता है।

भव-सय-सहस्स-महणीए[1] - लाखों भवों का नाश करने वाली।

भव का अर्थ होता है संसार और संसार का अर्थ होता है चार गति का परिभ्रमण। इन चार गतियों का परिभ्रमण जीव अनंतकाल से कर रहा है। एक-एक गति में जीव जन्म-मरण आदि अनंत दु:खों को झेल रहा है। तीर्थंकर की कथाएँ या उनकी वाणी दुखमय संसार का नाश करने वाली होती हैं।

चउवीस-जिण-विणिग्गय[2]-कहाइ[3] वोलंतु मे दिअहा- चौबीस जिनों से निकली हुई कथाओं द्वारा मेरा दिन व्यतीत हो।

---

1. **अत्रोपलक्षणत्वादनन्ता भवा दृष्टव्या:** यहां उपलक्षण से अनंत भव जानना।

- अर्थ दीपिका

2. चौबीस जिन रूपी बीज में से अंकुर की तरह निकली हुई कथाओं द्वारा। यहाँ **(विणिग्गय)** अर्थात् **(विनिर्गत)** शब्द का अर्थ दो प्रकार से हो सकता है: १. चौबीस जिनों के जीवन चरित्र, उनके गुण, उनके नामोच्चार आदि भी उनमें से निकली हुई कथाएँ हैं तथा २. उनके मुख से निकले वचन भी उनसे निकली हुई कथाएँ हैं। इन दोनों को लक्ष्य में रखकर ऊपर का अर्थ किया है।
3. **कथया - तन्नामोच्चारणतद्गुणकीर्तनाचरित्रवर्णनादिकया वचनपद्धत्या -** कथा द्वारा अर्थात् उनका नामोच्चारण; उनके गुणों का कीर्तन, उनके चरित्र का वर्णन आदि वचन पद्धति द्वारा।

अनादिकाल से जीव में कथाओं (विकथाओं) का रस पड़ा है। इस रस के कारण राज्य की, देश की, भोजन की, स्त्रियों की, बाज़ार की या खेलकूद की कथाओं में जीव ने अनंत कर्म बांधे हैं। फल स्वरूप वह अपना अमूल्य मनुष्य भव व्यर्थ गँवा देता है एवं अनंत भव बढ़ा लेता है। विकथा के रस से या अन्य कोई भी कारण से बांधे हुए कर्मों को तोड़ने एवं भव-भ्रमण को रोकने के लिए श्रावक को अब चौबीस जिनों की कथा करने का मन होता है।

सर्व तीर्थंकर अनंत गुणों के धाम हैं, तो भी नज़दीक के काल में एवं इसी भरत क्षेत्र में हुए चौबीस तीर्थंकर हमारे सविशेष उपकारी हैं। वे सर्वगुण संपन्न हैं और उनके जीवन की एक-एक घटना, उनके प्रत्येक प्रसंग, एक दूसरे के साथ किया हुआ व्यवहार, उनका साधना जीवन, साधना-जीवन में हुए मरणांत उपसर्ग और परिषहों के बीच रही हुई उनके मन की समतुला - इन हर एक की कथा सुनने या करने से, हम को जीवन जीने की एक नई ही दिशा मिलती है, दोषों को दूर करने एवं गुणों के मार्ग पर आगे बढ़ने का सुन्दर मार्गदर्शन मिलता है।

चौबीस जिनों के गुणों का स्मरण, एकाग्र चित्त से किया हुआ उनके नाम का जाप, उनका ध्यान, पूर्व संचित अनंत कर्मों का क्षय कर देता है। इसके अलावा भ्रमण के कारणभूत, अशुभ-कर्मों का अनुबंध भी तोड़ डालता है। इससे चौबीस जिन की कथाएँ बहुत से भवों में एकत्रित किए हुए कर्मों का नाश करनेवाली तथा लाखों भवों का मंथन करनेवाली कहलाती हैं। चौबीस जिन विनिर्गत (चौबीस जिनों से निकली हुई) कथा का एक अर्थ जैसे चौबीस जिन के चरित्र या नामोच्चार वगैरह होता है, वैसे ही विनिर्गत कथाओं का दूसरा अर्थ चौबीस जिन के मुखकमल में से निकली हुई वाणी भी हो सकता है। इस वाणी का संग्रह ही शास्त्र है।

भगवान के वचन रूपी मोती बिखर न जाएँ, इसलिए गणधर भगवंत एवं उनके बाद हुए अनेक साधु भगवंतों ने उन वचनों को शास्त्ररूप धागे में निबद्ध किया हैं, बांधा है। शास्त्र के एक-एक वचन में रागादि दोषों को निर्मूल करने की एवं ज्ञानादि गुणों को प्रकट करने की विशिष्ट शक्ति है। इसके अतिरिक्त उनमें हिंसा, झूठ, चोरी आदि के कुसंस्कारों का अंत करने की एवं अहिंसा, सत्य आदि के संस्कारों का आधान करवाने की ताकत भरी हुई है। तदुपरांत भगवान की वाणी विकथा आदि प्रमाद के रस का शोषण करके सत्य कथा के रस को पुष्ट करती है।

इसलिए चौबीस जिनों के मुख से निकले हुए कथा स्वरूप ये शास्त्र वचन दोष दूर करवाने, एवं गुणों को प्रकट करवाने द्वारा कर्मों का एवं भव परंपरा का नाश करवा सकते हैं।

चौबीस जिन की कथाओं के ऐसे लाभ को जानता हुआ श्रावक अपने गुरु भगवंत समक्ष प्रार्थना स्वरूप एक शुभ भाव पेश करते हुए कहता है -

'हे भगवंत ! आज तक विषय-कषाय के अधीन होकर मैंने कर्म का बंध एवं भवभ्रमण की वृद्धि करवाने वाली कथाओं में ही अनंतकाल गँवा दिया, तो भी कभी सच्चा सुख या शांति नहीं मिली । इसलिए अब ऐसी कथाओं का त्याग कर, मुझे जिनेश्वर भगवंतों की कथाओं या भगवान के मुख से उच्चरित वाणी सुनने में मेरे दिन व्यतीत करने हैं।

हे वीतराग ! मेरी अंतर की भावना है कि मेरे जीवन का हर क्षण आपके नाम का जाप करने में या आपके जीवन को याद करने में बीते और मेरे सब विचार आपके वचनानुसारी बने। मेरी वाणी आपके शास्त्र वचन से सुशोभित बने। हे प्रभु ! मेरी एक क्षण भी तेरे वचन का विस्मरण वाली न बने जिससे मेरा भव भ्रमण बढ़े, मेरे संस्कार बिगड़ें एवं मेरी आत्मा कर्मबंध की भागी बने ।'

जिज्ञासा : कर्मबंध का मुख्य आधार मन है तो फिर यहाँ कथा को कर्मबंध का कारण क्यों कहा है ?

तृप्ति : मन के भाव बिगाड़ने में 'विकथा' की भूमिका बड़ी महत्त्व की होती है। मनुष्य जैसा सुनता है वैसा सोचता है। एक बार यदि श्रवण सुधर जाए तो विचारों में बहुत परिवर्तन आ जाए। इस दृष्टि से यहां कर्मबंध करने वाली कथाओं का त्याग करके कर्मों एवं कुसंस्कारों के नाश में कारणभूत चौबीस जिन की कथाएँ करने की बात की है।

यह गाथा बोलते हुए प्रभु के समक्ष हार्दिक प्रार्थना करनी चाहिए कि -

'हे नाथ ! आज तक मैंने मात्र कर्मबंध हों वैसी ही कथाएँ करने में जीवन व्यर्थ गँवाया है, परंतु प्रभु ! अब इच्छा है कि कर्मबंध हो ऐसी कथाओं से दूर हो, कर्म का नाश करें वैसी आपकी कथा करके जीवन सफल बनाऊँ । मेरी हार्दिक तमन्ना है कि अब मैं मेरा पूर्ण समय आपकी कथा करने में व्यतीत करूँ। आपके जीवन

के विविध प्रसंगों को स्मरण में लाकर उन प्रसंगों में आपकी वाणी एवं काया के उचित व्यवहार, आपकी मनःस्थिति, आपकी आध्यात्मिक विचार शैली का अभ्यास करूँ। आपके श्रेष्ठ व्यवहार से प्रभावित होकर मैं भी अपनी जीवन पद्धति बदल सकूँ । प्रभु ! आपके प्रभाव से मुझ में यह संकल्प सफल करने का सत्त्व एवं समझ प्रकट हो ऐसी प्रार्थना करता हूँ।'

अवतरणिका :

प्रतिक्रमण से शुद्ध हुआ श्रावक शुभ भावना के स्रोत में आगे बहता हुआ कहता है -

गाथा :

मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुअं च धम्मो अ।
सम्मद्दिट्ठी देवा, दिंतु समाहिं च बोहिं च ।।४७ ।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

अर्हन्तः सिद्धाः साधवः श्रुतं च धर्मः च मम मङ्गलम्।
सम्यग्दृष्टयः देवाः समाधिं च बोधिं च ददतु ।।४७ ।।

गाथार्थ :

अरिहंत भगवंतों, सिद्ध भगवंतों, साधु भगवंतों तथा श्रुत एवं चारित्र धर्म मेरे लिए मंगल हैं, एवं 'च' शब्द से वे ही उत्तम हैं एवं वे ही शरण योग्य हैं। सम्यग्दृष्टि देव मुझे समाधि और बोधि दीजिए।

विशेषार्थ :

मम मंगलमरिहंता, सिद्धा साहू सुअं च धम्मो अ - अरिहंत भगवंत, सिद्ध भगवंत, साधु भगवंत तथा श्रुत धर्म तथा चारित्र धर्म ही मेरे मंगल हैं।

सूत्र के अन्त में श्रावक अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहता है कि -

'हे भगवंत ! मेरे अज्ञान एवं अविवेक के कारण आज तक अमंगलभूत एवं अकल्याण करने वाली संसार की सामग्री को ही मैंने मंगल एवं कल्याण करने

वाली मानी है, परंतु प्रभु ! अब अज्ञान का आवरण हटा है एवं मेरे मन-मंदिर में विवेक का एक मंद सा दीपक प्रकट हुआ है। इसलिए अब सांसारिक सामग्रियाँ मंगलमय हैं ऐसी गलतफहमी को छोड़ महासुख के साधनभूत अरिहंत भगवंत, मोक्ष के महासुख में निमग्न सिद्धभगवंत, धर्ममार्ग में सुस्थित साधुभगवंत एवं अरिहंत परमात्मा द्वारा प्ररूपित श्रुतधर्म तथा चारित्रधर्म को मैं मंगलरूप मानता हूँ। इसी से मेरा कल्याण है, ऐसा मानता हूँ।'

चिरकाल तक अनंत आनंद देनेवाले, अनंत सुख के स्थानभूत अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं धर्म ही दुनिया में सर्वश्रेष्ठ हैं, उत्तमोत्तम हैं। इस जगत में इनसे उत्तम दूसरी कोई चीज़ नहीं और मुझे संसार के भय से मुक्त करानेवाले, शरण स्वीकारने योग्य भी ये ही हैं, क्योंकि सच्चा शरण[1] उसे ही कहते हैं जिसके शरण में जाने से निर्भय बनते हैं, सुरक्षा का अनुभव होता है।

अरिहंतादि उत्तम पुरुषों के स्मरण, चिंतन या ध्यान से क्लिष्ट कर्मों का विनाश होता है, रागादि दोष अल्प अल्पतर होते हुए नाश होते हैं एवं साथ ही साथ निर्जरा में सहायक बने ऐसे पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म का बंध होता है। इसलिए अरिहंतादि का ध्यान करने वाले की अंतरंग एवं बाह्य आपत्तियाँ टलती हैं, मन में निर्भयता का अनुभव होता है, शांति एवं सुरक्षा की प्राप्ति होती है। इसी कारण से इन चार के अतिरिक्त इस जगत में दूसरे किसी का शरण स्वीकारने योग्य नहीं।

जिज्ञासा : गाथा में क्यों **सुअं** एवं **धम्मो** इन दो पदों का प्रयोग किया है ? इनके बदले मात्र धम्मो पद का प्रयोग किया होता तो उससे दोनों प्रकार के धर्म का ग्रहण हो सकता था ?

---

1. **न ह्यतश्चतुष्टयादन्यच्छरण्यमस्ति, गुणाधिकस्य शरण्यत्वात्, गुणाधिकत्वेनैव ततो रक्षोपपत्तेः, रक्षा चेह तत्तत्स्वभावतया एवाभिध्यानतः क्लिष्टकर्मविगमेन शान्तिरिति। -योगशतक गाथा - ५० टीका**

जिस कारण से दुनिया में भय से पीड़ित व्यक्ति के लिए गुणाधिक का शरण ही योग्य है, उसी कारण से अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं धर्म के सिवाय अन्य किसी का शरण लेने योग्य नहीं, इसका कारण ये है कि जो आत्मा गुण से अधिक हो उसका ही शरण योग्य है। गुणवान आत्माओं के उन स्वरूप का ध्यान करने से क्लिष्ट कर्मों का नाश होता है एवं क्लिष्ट कर्मों के नाश से शांति की प्राप्ति होती है, जो वास्तव में रक्षा है।

तृप्ति : बात सत्य है, 'धम्मो' पद से श्रुत एवं चारित्र दोनों धर्म ग्रहण कर सकते थे। ऐसा होते हुए भी ग्रंथकार ने दो शब्दों का प्रयोग किया है। क्योंकि वास्तव में मात्र श्रुत (शास्त्र ज्ञान) अथवा मात्र क्रिया कल्याण नहीं कर सकती, परंतु श्रुत के साथ की गई क्रिया ही मोक्ष प्राप्त करा सकती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए ही ग्रन्थकारने दोनों पदों का प्रयोग किया होगा ऐसा लगता है।

सम्मद्दिट्ठी देवा दिंतु समाहिं च बोहिं च - सम्यग्दृष्टि देव (मुझे) समाधि एवं बोधि दीजिए।

'हे सम्यग्दृष्टि देवों ! आप बोधि एवं कुछ अंश में समाधि से सम्पन्न हो और मेरी प्रार्थना सुनकर मेरी सहायता करने में सक्षम हो। इसलिए हाथ जोडकर नतमस्तक हो प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे निर्मल बोधि एवं समाधि दीजिए।'

समाधि[2] का अर्थ है चित्त की स्वस्थता अर्थात् सभी अनुकूल भावों में राग, आसक्ति या रुचि एवं प्रतिकूल भावों में द्वेष, अनासक्ति या अरुचि का अभाव। अनुकूलता या प्रतिकूलता में मन एक जैसा रहे अर्थात् अच्छे या अनुकूल भावों में राग, आसक्ति या ममता के कारण मन में विह्वलता न हो एवं खराब या प्रतिकूल भावों में द्वेष, अनासक्ति या अरुचि के कारण मन में लेश मात्र भी व्यथा या पीड़ा न हो, परंतु सर्वस्थितियों में मन एक जैसे भाव में टिका रहे, यह समाधि है। समाधि ही सच्चे सुख का कारण है। उसके बिना कोई वास्तविक सुख नहीं पा सकता। सामान्य संयोगों में समाधि में रहनेवाला श्रावक भी विशेष प्रकार के संयोगों की उपस्थिति में स्वयं समाधि में नहीं रह पाता। इसलिए वह सम्यग्दृष्टि देवों को प्रार्थना करता है कि

'हे सम्यग्दृष्टि देवों ! आप समाधि में विघ्नकारक कारणों को दूर करके मुझे समाधि दीजिए।'

सम्यग्दृष्टि देवों के पास दूसरी प्रार्थना बोधि[3] के लिए की है। 'बोधि' सम्यग्दर्शन का पर्यायवाची शब्द है। जगत के सभी भाव जैसे हैं वैसे ही उन्हें स्वीकारना याने कि जो भाव आत्मा के लिए अहितकर-दुःखदायक है उसे अहितकर ही मानना

2. **'समाधिं चित्तस्वास्थ्यम्'** - अर्थदीपिका
3. **'बोधिं परलोके जिन-धर्म-प्राप्तिम्'** - अर्थदीपिका

और जो भाव आत्मा के लिए हितकर-सुखदायक है उसे हितकर मानना वह बोधि है । सम्यग् बोध के बिना कोई भी जीव जीवन की सच्ची दिशा या आंतरिक विवेक नहीं प्राप्त कर सकता । सम्यग्दर्शन बिना वास्तविक सुख की प्राप्ति कभी नहीं होती ।

बोधि का दूसरा अर्थ है - परलोक में जैन धर्म की प्राप्ति। प्रतिक्रमण करने वाले श्रावकों को इस भव में जैन धर्म मिलने का अत्यंत आनंद होता है। इसीलिए ही उनकी तमन्ना होती है कि भवांतर में भी हमें जैन धर्म की प्राप्ति हो। इस कारण से श्रावक प्रतिदिन ऐसी इच्छा करता है कि जिनधर्म[4] से युक्त दास एवं दरिद्र होना मुझे स्वीकार है, परंतु जैन धर्म न मिले तो चक्रवर्ती होना भी मुझे स्वीकार नहीं है ।

जिज्ञासा : बोधि एवं समाधि ये दोनों गुण मांगने से नहीं मिलते एवं आंतरिक गुणों में आदान-प्रदान भी नहीं होता तो ऐसी याचना करने से क्या फायदा ? और सम्यग्दृष्टि देवों से ही क्यों ?

तृप्ति : बोधि एवं समाधि ये दोनों आंतरिक गुण हैं । बाह्य पदार्थों की तरह आंतरिक गुणों में लेन-देन की क्रिया नहीं हो सकती, तो भी हृदयपूर्वक की हुई यह प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती क्योंकि इस रीति से प्रार्थना करने से अंतर में एक प्रकार का शुभ भाव प्रकट होता है। प्रकट हुआ ये शुभ भाव बोधि आदि गुणों में विघ्न करनेवाले कर्मों का नाश करके गुणों को प्रकट करता है और इस रीति से प्रार्थना करने से गुण प्राप्ति के लिए हमारा वीर्योल्लास भी बढ़ता है। इसलिए आंतरिक गुणों में भले लेन-देन न हो तो भी उनकी प्राप्ति के लिए प्रार्थना योग्य है।

इसके अतिरिक्त, सम्यग्दृष्टि देव इन गुणों को देने में समर्थ नहीं हों तो भी गुणों की प्राप्ति में जो विघ्न आते हैं उनको तो वे दूर कर सकते हैं। बाह्य अनुकूलताओं को प्रकट भी कर सकते हैं और उसके द्वारा समाधि-बोधि में जरूर सहायक बनते हैं। पूर्वकाल में मेतार्यमुनि वगैरह अनेक साधकों को उनके मित्र देवों ने बाह्य अनुकूलता करने में सहायता की थी। ऐसे दृष्टांत शास्त्रों के पृष्ठों में मिलते हैं एवं

---

4. **जिनधर्म विनिर्मुक्तो, मा भूवं चक्रवर्त्यपि ।**
स्यां चेटोऽपि दरिद्रोऽपि, जिनधर्माधिवासितः ।।१४०।। - योगशास्त्र प्रकाश

वर्तमान में भी भले ही प्रत्यक्ष रूप से देवता प्रस्तुत होकर सहायता नहीं करते तो भी अप्रत्यक्ष/परोक्ष रूप से योग्य आत्माओं को देवतागण आज भी सहायता करते हैं। इस तरह वे बोधि-संयम-समाधि आदि गुणों में उपकारक बनते हैं। इसलिए इस रीति से की गई प्रार्थना किसी तरह भी अयोग्य नहीं है।

अवतरणिका :

इस सूत्र में व्रत संबंधी अतिचारों की आलोचना, निन्दा तथा प्रतिक्रमण किया। इसलिए किसी को शंका हो सकती है कि प्रतिक्रमण की क्रिया व्रतधारी के लिए ही है या अन्य के लिए भी ? उस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि

गाथा :

पडिसिद्धाणं करणे, किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं।
असद्दहणे अ तहा, विवरीअ-परूवणाए अ।।४८।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

प्रतिषिद्धानां करणे, कृत्यानाम् अकरणे।
अश्रद्धाने च तथा विपरीत-प्ररुपणायां च प्रतिक्रमणम्।।४८।।

गाथार्थ :

शास्त्र में जिसका निषेध किया हो वो क्रिया की हो, श्रावक को करने योग्य कार्य न किए हो, भगवान के वचनों में = शास्त्र में अश्रद्धा की हो तथा विपरीत प्ररूपणा की हो (इन चारों दोषों का) प्रतिक्रमण करना चाहिए।

विशेषार्थ :

अब किन चार दोषों का प्रतिक्रमण करना है, वह बताते हैं -

१. पडिसिद्धाणं करणे - शास्त्र में जिसका निषेध किया हो वह करने से, अर्थात् अकृत्य करने से (जो दोष लगा हो, उसका प्रतिक्रमण करना है)।

भगवान श्री जिनेश्वर देव ने साधक की जिस भूमिका में जिस प्रवृत्ति करने का निषेध किया हो वैसी कोई भी प्रवृत्ति साधक द्वारा हुई हो, तो वह पाप है और उस

पाप का प्रतिक्रमण करना चाहिए, जैसे कि अनाचार नहीं करना, चोरी नहीं करनी इत्यादि जिनेश्वर की आज्ञा है। अगर किसी जैन ने ये प्रवृत्तियाँ नहीं करने का व्रत न भी लिया हो तो भी ये प्रवृत्तियाँ करने से उसे दोष लगता ही है। अत: जैन कुल में जन्मे हुए व्यक्तियों को व्रत न हो तो भी ऐसी प्रवृत्तियों का प्रतिक्रमण करना चाहिए। ऐसी प्रवृत्तियों से बचने के लिए कोई भी प्रवृत्ति करते समय साधक के मन में ये स्पष्टता होनी जरूरी है कि 'भगवान श्री जिनेश्वर देव ने यह प्रवृत्ति करने को मना तो नहीं किया है ? यदि भगवान श्री जिनेश्वर देव ने इस प्रवृत्ति का निषेध किया हो तो मुझे तो वह नहीं ही करनी है' ये विचारधारा सतत रहे तो ही इस दोष से बच सकते हैं।

२. किच्चाणमकरणे अ पडिक्कमणं - करने योग्य कार्य न किया हो तो उसका प्रतिक्रमण करना है।

भगवान श्री जिनेश्वरदेव ने साधक को जिस कक्षा में जो कर्त्तव्य करने को कहा है, जैसे कि प्रभु पूजा, सद्गुरू की उपासना, बुजुर्गों का विनय, शक्ति अनुसार दानादि इत्यादि उनमें से कोई भी कर्त्तव्य छुटा हो या प्रमाद से न किया हो, तो उसका प्रतिक्रमण करना चाहिए।

कोई भी प्रवृत्ति करने के प्रसंग में अगर प्रमाद होता हो तो ऐसा सोचना चाहिए कि 'भगवान श्री जिनेश्वर देव ने मेरी भूमिका में यह प्रवृत्ति करने को कहा है, इसलिए मुझे वह अवश्य करनी ही चाहिए, इसमें प्रमाद होना ही नहीं चाहिए। यदि प्रमादवश यह कर्त्तव्य न करुँ तो आज्ञा की विराधना का, उपेक्षा का मुझे पाप लगेगा।' ऐसा सोचकर जो जाग्रत रहता हो वह ही इन दोषों से बच सकता है।

३. असद्दहणे अ - अश्रद्धा की हो तो (उसका प्रतिक्रमण करना है)।

भगवान श्री जिनेश्वर देव द्वारा निरूपित - कहे हुए - तत्त्वों के प्रति, उनके उपदेशित साधना मार्ग के प्रति, सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन, सम्यक् चारित्र की साधना के प्रति अश्रद्धा हुई हो, जैसी श्रद्धा होनी चाहिए वैसी न हुई हो तो उसका भी प्रतिक्रमण करना है।

अंत:करण में प्रत्येक पल ये सजगता रहनी ही चाहिए कि परमात्मा के वचनों में कहीं शंका न हो जाए। परमात्मा के वचन में श्रद्धा को स्थिर रखने के लिए, जहाँ-

कहाँ नहीं जाना चाहिए, हर किसी के साथ बैठना नहीं चाहिए । श्रद्धा को विचलित करे ऐसे व्यक्तियों का सम्पर्क नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क से कभी जिन वचनों में अश्रद्धा प्रकट होती है और उससे कभी उत्सूत्र प्ररूपणा जैसे भयंकर पाप होने की भी संभावना बढ़ जाती है। इसके अलावा, एक साधक के हृदय में प्रकटी अश्रद्धा अनेकों की साधना को शिथिल करने में निमित्त बनती है। इसलिए इस दोष से बचने के लिए हर किसी से संबंध नहीं रखना चाहिए।

४. तहा विवरीअपरूवणाए अ - तथा जो भी विपरीत प्ररूपणा की हो (उसका प्रतिक्रमण करना है)।

भगवान श्री जिनेश्वर देव ने जिन जिन पदार्थों का, सिद्धांतों का, आचार मार्ग का, साधना मार्ग का, जिस विधि से निरूपण किया है यदि उससे विपरीत प्ररूपणा हुई हो तो उसका प्रतिक्रमण करना है।

भगवान के वचन अनंत आत्माओं के लिए दुःख से मुक्त होने का आधार हैं। अनंत जीवों को तारने की शक्तिवाले भगवान के ऐसे उपकारी वचन में गड़बड़ करने से, उनके वचनों के भावों को बदल देने से, गलत जगह उनका प्रयोग करने से अनेक जीवों का अहित होता है। बहुत से जीव कल्याणकारी मार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए हिंसा, चोरी आदि सर्व पापों में उत्सूत्र प्ररूपणा अर्थात् भगवान के वचनों की विपरीत प्ररूपणा करना बड़े से बड़ा पाप है। इससे अधिक से अधिक महादुःखरूप अनंत संसार की वृद्धि होती है। इसलिए पूज्यपाद योगीराज श्री आनंदघनजी महाराज ने कहा है -

'पाप नहीं कोई उत्सूत्र भाषण जिस्युं (जैसा), धर्म नहीं कोई जग सूत्र सरीखो(जैसा)।'

जिज्ञासा : श्रावक उपदेश ही नहीं देता तो उसे विपरीत प्ररूपणा का पाप लगने की संभावना कैसे हो सकती है ?

तृप्ति : श्रावक उपदेश दे ही नहीं, ऐसा एकांत नहीं है। गीतार्थ गुरूभगवंत के पास जिसने सूत्र एवं अर्थ का ज्ञान प्राप्त किया हो, वैसे बहुश्रुत-योग्य श्रावकों को गुरू की कही हुई शिक्षा योग्य आत्मा को देने का अधिकार है, परंतु उपदेश देते

हुए वह 'पूज्य गुरुभगवंत, ऐसा कहते हैं,' इस प्रकार बोलता है। उपदेश देते हुए कभी अज्ञान से या उपयोग शून्यता से उससे भी उत्सूत्र बोलने में आ जाए तो इस पाप की संभावना रहती है। इसलिए श्रावक को इस पाप का प्रतिक्रमण करना चाहिए।

इस गाथा से इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि प्रतिक्रमण मात्र व्रतधारी श्रावक के लिए ही नहीं, परंतु भिन्न-भिन्न कक्षा के तमाम साधकों के लिए है। इस कारण से सर्वसंग के त्यागी साधु-साध्वीजी भगवंत, देशविरतिधर श्रावक-श्राविकाएँ, सम्यग्दर्शन को प्राप्त किए हुए मनुष्य या प्राथमिक स्तर के आराधकों को भी प्रतिक्रमण की यह क्रिया करनी चाहिए, क्योंकि हर एक के जीवन में इस गाथा में बताए हुए चारों में से कोई ना कोई दोष लगने की संभावना है। इन दोषों के कारण आत्मा पाप से मलिन होती है। उसकी परिणति बिगड़ती है एवं उन कारणों से आत्मा का भव भ्रमण बढ़ता है। ऐसा ना हो इसलिए इन चारों में से कोई भी दोषों से आत्मा मलिन हुई हो तो उसकी विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए और कदाचित् ये दोष ना भी हुए हों तो भी भविष्य में इन दोषों को उत्पन्न करे ऐसे आत्मा में पड़े हुए कुसंस्कारों की शुद्धि के लिए भी प्रतिक्रमण करना चाहिए।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए साधक सोचता है कि -

'मेरी दृष्टि को सूक्ष्म करके और मन को एकाग्र करके मुझे मेरी समग्र दिनचर्या तथा रात्रि चर्या का अवलोकन करना चाहिए। दिवस एवं रात्रि के दौरान उपरोक्त चारों में से किन-किन दोषों का सेवन हुआ है ? किन संयोगों में हुआ एवं किस प्रकार हुआ ? इन दोषों का सेवन बार-बार न हो, इसलिए मुझे उन दोषों के प्रति घृणा या तिरस्कार का भाव उत्पन्न करना चाहिए। इन दोषों के सेवन से आत्मा का अहित, तीव्र कर्मों का बन्ध एवं भव की परंपरा की वृद्धि का विचार करके, ऐसे दोषों से वापस लौटने का प्रयत्न करना चाहिए।'

अवतरणिका :

संसार के समग्र व्यवहार हिंसा से चलते हैं और हिंसा से वैर भाव का प्रवाह चलता है। उससे स्व-पर की शांति भंग होती है। सबकी शांति का इच्छुक श्रावक

इस सूत्र द्वारा अपने किए हुए सब पापों का प्रतिक्रमण करके अंत में सब जीवों के प्रति मैत्री भाव की एवं क्षमा भाव की वृद्धि के लिए प्रार्थना करते हुए कहता है कि,

गाथा :

खामेमि सव्वजीवे, सव्वे जीवा खमंतु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ ।।४९।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

सर्वजीवान् क्षमयामि, सर्वे जीवा मे क्षाम्यन्तु।
सर्वभूतेषु मे मैत्री, मम केनचित् वैरं न ।।४९।।

गाथार्थ :

सर्व जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सर्व जीव मुझे क्षमा करें, सब प्राणियों के प्रति मुझे मैत्री भाव है, मुझे किसी के साथ वैरभाव नहीं है।

विशेषार्थ :

खामेमि सव्वजीवे - सब जीवों को मैं क्षमा करता हूँ।

संसार के सभी जीवों को मन मंदिर में स्थापित कर साधक प्रार्थना करता है कि 'हे बंधुओं ! मैं और तुम इस जगत में अनंतकाल से साथ रहते हैं। अनंतकाल से साथ रहते हुए बहुत बार जाने-अनजाने तुमसे मुझे पीड़ा हुई है, त्रास हुआ है, मरणांत उपसर्ग भी आया है। मैं समझता हूँ कि मुझे जो कोई पीड़ा वगैरह हुई उसमें मेरे कर्म भी उतने ही जिम्मेदार थे। तो भी मोह एवं अज्ञानता के कारण मैंने तुम्हें अपराधी माना। अधिकतर तुम्हारे प्रति शत्रुता का भाव रख कर वैर की गांठ बांधी। वास्तव में उसमें तुम्हारा कोई अपराध नहीं था। दोष तो मेरे कर्मों का ही था, परंतु यह बात आज मुझे समझ में आई है। इसीलिए आज से मैं तुम्हारे सर्व अपराधों को भूल जाता हूँ। तुम्हारे प्रति वैरभाव को मन से बाहर निकाल देता हूँ। वैर भाव के कारण तुम्हारे प्रति हुए संकल्प-विकल्प से मन को मुक्त करता हूँ। आज के बाद कभी ऐसा याद भी नहीं करूँगा कि तुमने मुझे दुःख दिया है, पीड़ा दी है, मरण तक पहुँचाया है। आज से तुम्हारे प्रति वैर भाव, शत्रु भाव को भूला कर तुम्हें मित्ररूप से स्वीकारता हूँ।

सव्वे जीवा खमन्तु मे - सर्व जीव मुझे क्षमा करें ।

सर्व जीवों को उनके अपराध के बदले क्षमा करने के बाद साधक खुद भी सभी जीवों से अपने अपराधों की माफी चाहता है। इसलिए वह सब जीवों को संबोधित करके कहता है कि 'हे मित्रों ! मेरे ही कर्मों के कारण तुमसे मेरे प्रति जो अपराध हुआ है, उसके लिए तो मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया है । मैं तो उन अपराधों को भूल जाना ही चाहता हूँ, परंतु मैं जानता हूँ कि मैंने भी तुम्हारे प्रति बहुत अपराध किए हैं। अपने सुख के खातिर तुम्हारे दुःख या पीड़ा का मैंने कभी विचार भी नहीं किया। घड़ी दो घड़ी के मेरे आनंद के लिए मैंने तुम्हें काटा है, उबाला है, पैरों के नीचे कुचला (रौंदा) है। मैंने तुम्हें अनेक तरीकों से अनेक प्रकार की पीड़ा दी है। अनजाने में तो मैंने तुम्हें दुःख दिया ही है, परंतु मेरे एक स्पर्श से भी तुमको कितनी पीड़ा होती है वैसा जानने के बाद भी मेरे शौक के लिए, आनंद के लिए, तुम्हारी मरणांतिक पीड़ा का भी विचार नहीं किया। वास्तव में दुनिया में मेरा कोई भी नहीं और कुछ भी नहीं, ऐसा समझने पर भी ममता के कारण माने हुए स्नेही, स्वजनों एवं शरीर के लिए तुम्हारा सर्वनाश करने में मैंने कुछ भी बाकी नहीं रखा।

मैं समझता हूँ कि मेरा ये अपराध अक्षम्य है। किसी भी प्रकार से भुलाने जैसा नहीं है, तो भी भविष्य में वैर की परंपरा न चले और उसके द्वारा तुम्हारे भव की परंपरा न बढ़े, इसलिए तुम सबसे विनती करता हूँ कि मुझे क्षमा करो ! जाने-अनजाने में हुई मेरी भूलों को भूल जाओ। मेरे प्रति वैर भाव या शत्रु भाव को तुम भी मन में से निकाल डालो एवं मुझे मित्र की तरह स्वीकार लो।'

मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झ न केणइ - अब मुझे सर्व प्राणियों के प्रति मैत्री है। किसी के प्रति वैरभाव नहीं है ।

सम्पूर्ण जीव सृष्टि को क्षमा देकर तथा खुद भी सर्व जीवों से क्षमा माँगकर, अब शुभ भावों के स्रोत को आगे बढ़ाता हुआ साधक कहता है, 'अब ये संपूर्ण जगत मुझे मित्र समान लगता है। समस्त विश्व मानो कि मेरा कुटुंब हो ऐसा लगता है। सबके हित की चिंता मेरे हृदय में जागृत हुई है।'

'धर्म की सम्यग् समझ नहीं होने से मैंने आज तक मेरे स्वार्थ को पुष्ट करने वाले व्यक्तियों को ही मेरा मित्र माना, मुझे अनुकूलता देने वालों को ही मैंने मेरा

स्नेही, स्वजन माना एवं मेरे लालन-पालन करने वाले को ही मेरा कुटुंब माना। मेरे स्वार्थ में जो बाधक बने उन्हें मैं अपना शत्रु मानता था। मेरी इच्छा के विरूद्ध कार्य करने वाले को मैं पराया मानता रहा। पराया मानकर उन सबके सुख-दुःख का मैंने कभी विचार भी नहीं किया, बल्कि मेरे या मेरे माने हुए स्नेही, स्वजनों या कुटुंबिओं के सुख के लिए मैंने अनेकों को बहुत दुःख दिया है, अनेक तरह से पीड़ा दी है। अब मैंने धर्म समझा है। अब मेरे में **आत्मवत् सर्वभूतेषु** की भावना जागृत हुई है। जगत के सब जीव मुझे मित्र समान दिखाई देते हैं, सबके हित की भावना मेरे हृदय में प्रकट हुई है। अब मेरे हृदय में सबके प्रति मैत्री भाव है, मुझे किसी के प्रति लेशमात्र भी वैरभाव नहीं, दिल में किसी के प्रति द्वेष, अप्रीति या अरूचि नहीं है।'

इस गाथा द्वारा **मैत्री भाव** बताया गया है, मैत्री के कारण दुःखी जीवों को देखकर **करूणा भाव** प्रकट होता है, गुणवान आत्मा को देखकर **प्रमोद** होता है एवं अज्ञानी-अविवेकी जीवों के प्रति **माध्यस्थ्य** प्रकट होता है। मैत्री, प्रमोद, कारूण्य एवं माध्यस्थ्य : ये चार भाव साधना की नींव[1] हैं, जिनका यहाँ आरंभ होता है।

इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'मैंने एक एक जीव को क्षमा दी एवं प्रत्येक जीव से क्षमा मांगी, परंतु हे प्रभु ! अब ऐसी कृपा करो कि मेरा यह भाव मात्र शाब्दिक न रहे, अल्पकालीन न बने, निमित्तों की उपस्थिति में वह खत्म न हो जाए। आपके प्रभाव से मेरी चित्त भूमि ऐसी निर्मल बने, मेरा मन ऐसा सात्विक बने कि पुनः कभी भी वैर भाव या द्वेष भाव से मैला ही न हो। कोई भी निर्बल निमित्तों में किसी को मैं अपराधी या अन्यायी न मानूँ। प्रत्येक संयोग में मैं अपने आप को मित्रों से घिरा हुआ देखूँ, सब तरफ से मेरे लिए अच्छा ही हो रहा है ऐसा मानूँ और सबके उपकारों को सतत स्मरण में रखूँ। प्रभु ! मुझे ऐसी शक्ति दीजिए।'

---

1. **सद्धर्मध्यानसंध्यान - हेतवः श्रीजिनेश्वरैः।**
   मैत्रीप्रभृतयः प्रोक्ताश्चतस्रो भावनाः पराः ।।१।। - शान्तसुधारस १३वीं ढाल
   मैत्रीप्रमोदकारुण्य - माध्यस्थ्यानि नियोजयेत्।
   धर्मध्यानमुपस्कर्तुम् तद्धि तस्य रसायनम् ।।२।। - शान्तसुधारस १३वीं ढाल

अवतरणिका :

इस सूत्र का उपसंहार कर, अंतिम मंगल करते हुए बताते हैं -

गाथा :

एवमहं आलोइअ, निंदिअ गरहिअ दुगंछिअं सम्मं।
तिविहेण पडिक्कंतो, वंदामि जिणे चउव्वीसं ।।५०।।

अन्वय सहित संस्कृत छाया :

एवम् सम्यक् आलोच्य, निन्दित्वा गर्हित्वा जुगुप्सित्वा।
त्रिविधेन प्रतिक्रान्तः अहम् चतुर्विंशतिम् जिनान् वन्दे ।।५०।।

गाथार्थ :

इस प्रकार (अतिचारों की) सम्यक् प्रकार से आलोचना, निन्दा, गर्हा एवं जुगुप्सा करके मन-वचन-काया से, प्रतिक्रमण करता हुआ, चौबीसों जिनेश्वरों को वंदन करता हूँ।

विशेषार्थ :

एवमहं आलोइअ - इस प्रकार = पहले बताए हुए तरीके से, सम्यक् प्रकार से आलोचना करके,

इस गाथा में संपूर्ण प्रतिक्रमण सूत्र का उपसंहार किया है। उसके द्वारा श्रावक बताता है - 'पूर्व सूत्र में बताई हुई विधि के अनुसार, क्रमादि ध्यान में रखते हुए और सम्यक् भावपूर्वक सही तरीके से आलोचना करके मैं चौबीस जिनेश्वरों को वंदन करता हूँ।'

निंदिअ - (सम्यक् प्रकार) निन्दा करके।

'व्रत नियम या आचार विषयक जिन दोषों का मुझ से सेवन हुआ है, मैं स्वीकार करता हूँ कि वह मैंने गलत किया है। इस प्रकार का आंतरिक संवेदन निन्दा है। सूत्र में बताई विधि से निन्दा करके ... एवं

गरहिअ – (सम्यक् प्रकार से) गर्हा करके,

गुरु भगवंत के पास विशेष प्रकार से उन दोषों की गर्हा करके अर्थात् 'हे भगवंत! मैंने ये बहुत गलत किया है। आप मुझको उसका प्रायश्चित्त दीजिए एवं विशुद्धि का मार्ग दिखाइए।' गुरू भगवंत के समक्ष हृदय पूर्वक इस प्रकार के वचन का उच्चारण करके,

दुगंछिअं सम्मं - सम्यग् प्रकार से जुगुप्सा करके, एक बार हुई भूल बार-बार न हो इसलिए उन दोषों के प्रति अत्यंत घृणा, द्वेष एवं तिरस्कार प्रकट करना जुगुप्सा है। सूत्रानुसार सही तरीके से जुगुप्सा करके,

तिविहेण पडिक्कंतो वंदामि जिणे चउव्वीसं - मन, वचन, काया से प्रतिक्रमण करता हुआ मैं चौबीसों जिनेश्वरों को वंदन करता हूँ।

सूत्र में पूर्व दी हुई जानकारी के अनुसार आलोचना, निन्दा एवं गर्हा करके विभाव दशा में से पुनः स्वभाव में आने के लिए, पाप से वापस लौटने के लिए, मन, वचन एवं काया से प्रतिक्रमण करता हुआ, मैं संपूर्ण निष्पाप जीवन जीनेवाले तीर्थंकरों को स्मृति में लाकर उनको वंदन करता हूँ और ऐसी अभिलाषा व्यक्त करता हूँ कि मुझमें भी वैसे गुण प्रकट हों।

इन पदों द्वारा ग्रंथकार ने यहाँ अंतिम मंगल किया है। प्रारंभ में मंगल विघ्नों के निवारण द्वारा शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति के लिए होता है। मध्य में मंगल शास्त्र के पदार्थों को स्थिर करने के लिए होता है एवं अंतिम मंगल शुभ कार्य से प्रकट हुए शुभ भावों को टिकाने के लिए एवं शिष्य-प्रशिष्यादि परंपरा अथवा श्रावक की अपेक्षा पुत्र-पौत्रादि की परंपरा तक शास्त्र का अर्थ विच्छेद न हो इसलिए किया जाता है।

यहाँ अंतिम मंगल[2] के द्वारा सूत्रकार आशा व्यक्त करते हैं कि इस सूत्र द्वारा जो

---

2. **मङ्गलस्य त्रिविधस्यापि फलमिदम् -**
'तं मंगलमाईए मज्झे पज्जंतए य सत्थस्स।
पढमं सत्थस्सविग्घपारगमणाए निद्दिट्ठं ।।१ ।।
तस्सेवाविग्घत्थं (तस्सेव उ थिज्जत्थं) मज्झिमयं
अंतिमं च तस्सेव अव्वोत्तिनिमित्तं सिस्सपसिस्साइवंसस्स ।।२ ।।
- विशेषावश्यक गा. १३-१४

शास्त्र के प्रारंभ में, मध्य में एवं अंत में तीन प्रकार के मंगल का फल इस प्रकार है : प्रथम मंगल शास्त्र की निर्विघ्न समाप्ति के लिए बताया गया है। मध्य मंगल शास्त्रों के पदार्थों को स्थिर करने के लिए किया जाता है एवं अंतिम मंगल शास्त्रोक्त भावों की शिष्य-प्रशिष्य परिवार में अविच्छिन्न परंपरा चले, ऐसे शुभ निमित्त से होता है।

शुभ भावों का प्रादुर्भाव हुआ है वह शिष्य, प्रशिष्य आदि की परंपरा तक स्थित रहे। इस गाथा का उच्चारण करते हुए श्रावक सोचता है कि -

'इस सूत्र के आधार पर इसके प्रत्येक पद के माध्यम से दिन भर में किए हुए पापों की आलोचना, निन्दा, गर्हा एवं जुगुप्सा के लिए मैंने जरूर सुन्दर प्रयत्न किया है। उसके कारण मन, वचन एवं काया से मैं कुछ अंशों तक पाप करने से पीछे भी हटा हूँ। ये सब महिमा अरिहंत परमात्मा की है। उन्होंने पाप से वापस लौटने का यह मार्ग न बताया होता तो मैं प्रयत्न भी कैसे कर सकता था एवं पाप से रूक भी कैसे सकता था ?

उपकारी चौबीस जिनेश्वरों के इस उपकारों को याद करता हूँ एवं भावपूर्ण हृदय से उनके चरणों में मस्तक झुकाकर वंदन करता हूँ।'

इस सूत्र को पढ़ने के बाद अंत में इतना संकल्प करें कि सूत्र के पूर्ण अर्थ को स्मरण में लाकर इस प्रकार प्रतिक्रमण करे कि पुनः पुनः पाप का सेवन न हो एवं उत्तरोत्तर विशेष शुद्धि प्राप्त करके हमें शीघ्र ही भाव चारित्र प्राप्त हो।

॥ इति श्री सूत्रसंवेदना-४ का हिन्दी भाषांतर ॥

आसो सुद १०- वि.सं. २०६५ - पूणे

औषधि के ज्ञानमात्र से रोग का नाश नहीं होता । किन्तु औषधि का सेवन भी आवश्यक होता है । वैसे ही ज्ञानमात्र से परिणति नहीं बदलती किन्तु गणधर भगवंतोने बनाए हुए सूत्र के माध्यम से ज्ञानानुसार होनेवाली क्रिया ही मोक्ष के अनुकुल परिणति बनाएँ रखने का सचोट उपाय बन जाता है । वे सूत्र शब्दो में होते है और शब्द अक्षरो के बने होते है । अक्षरो में अनंत शक्ति समाई हुई है पर हमें उसे जगाना पड़ता है । और उसे जगाने के लिए हमें सूत्र में प्राणों का सिंचन करना पड़ता है । यह प्राण फूंकने की क्रिया याने सूत्र का संवेदन करना पड़ता है तब सूत्र सजीवन बन जाता है । फिर उसमें से अनर्गल शक्ति निकलती है जो हमारे में मौजुद अनंत कर्मो का क्षय करने के लिए एक यहा के समान बनी रहती है ।

अनंत गम पर्याय से युक्त इन सूत्रों के अर्थ का संकलन करना याने एक फुलदानी में फुलों को सजा के बगीचे का परिचय देने जैसी बात है । इसलिए ही सूत्र के सारे अर्थों को समझाने का भगीरथ कार्य तो पूर्व के महाबुद्धिमान अनुभवी महाशय ही कर सकते है । तो भी स्वपरिणिति का निर्मल बनाने के आशय से शुरु किऐ इस लिखान में आज के सामान्य बौद्ध जीव क्रिया करते करते याद कर सके उतना अर्थ संकलित है ।

सूत्रार्थ विषयक लिखे हुए इस पुस्तक को काहनी के किताब की तरह नहीं पढ़ना है, या उसे पढ़ाई का माध्यम भी नहीं बनाना है परंतु परिणति का पलटने के प्रयास के कठिन मार्ग का एक दीया है ।

Samarg - 079-25352072